सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

भारत-सावित्री

—महाभारत का एक नवीन एवं सांस्कृतिक अध्ययन—

खण्ड २

(उद्योग-पर्व से स्त्री-पर्व तक)

•

वासुदेवशरण अग्रवाल

•

१९६४

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

पहली बार १९६४
मूल्य
पाँच रुपये

मुद्रक
नरेन्द्र भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस,
वाराणसी

प्रकाशकीय

'भारत-सावित्री' का द्वितीय खण्ड प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष होता है। इसका पहला खण्ड कुछ वर्ष पहले प्रकाशित हुआ था। उसमें महाभारत के आदि पर्व से विराट पर्व तक का अध्ययन आ गया था। इस दूसरे खण्ड मे उद्योग-पर्व से स्त्री-पर्व तक का सार आ गया है। तीसरे अर्थात् अतिम खण्ड मे पाठको को शान्ति, अनुशासन तथा अन्य पर्वों का अध्ययन प्राप्त होगा।

महाभारत ज्ञान का भण्डार है। उसमे विचार-रत्नो की खान है। उसका सारगर्भित अध्ययन पाठको को 'भारत-सावित्री' के इन तीन खण्डो मे मिल जायगा। यह अध्ययन अधिकारी विद्वान् द्वारा उपस्थित किया गया है। इन पुस्तको की सबसे बडी विशेषता यह है कि इनकी सामग्री प्रामाणिक है, साथ ही महाभारत की समस्त महत्त्वपूर्ण घटनाएँ इनमे आ गई है।

हिन्दी मे अपने ढग का यह पहला प्रकाशन है। इसकी सामग्री न केवल रोचक है, अपितु वह महाभारत के सूक्ष्म अध्ययन की प्रेरणा भी देती है।

हमारा प्रयत्न है कि तीसरा खण्ड भी पाठको को शीघ्र ही सुलभ हो जाय। इन पुस्तको का अध्ययन पाठको के लिए लाभदायक सिद्ध होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

—मत्री

भूमिका

'भारत सावित्री' के रूप मे महाभारत का एक नया सास्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। इसका प्रथम खण्ड लगभग ६ वर्ष पूर्व स० २०१४ में प्रकाशित किया गया था। इसे तीन खण्ड मे पूरा करने की योजना थी। बीच मे मेरे अस्वस्थ हो जाने से इसका काम रुक गया। मुझे हर्ष है कि ईश्वर की कृपा से दूसरे खण्ड का काम अब मैं पूरा कर सका हूँ। इस खण्ड में उद्योगपर्व से लेकर स्त्री-पर्व तक की सामग्री का अध्ययन किया गया है। तीसरे खण्ड में महाभारत के दो बडे पर्व अर्थात् शान्ति पर्व और अनुशासन पर्व एव शेष अन्य पर्वों की सामग्री का अध्ययन रहेगा।

'भारत सावित्री' यह नाम महाभारत के अन्त मे आया है। महाभारत के साराश के लिए स्वय वेदव्यास की लेखिनी से यह शब्द निकला है। मैंने वही से इसे लिया है, जैसे सावित्री वेदो का सार है और वह सरस्वती का पर्याय है, वैसे ही यहाँ भी वाणी के अर्थ में सावित्री शब्द प्रयुक्त हुआ है। भारत सावित्री के रूप में महाभारत का ही सार लिया गया है। यह सर्वथा वेदव्यास की ही वाणी है।

महाभारत के पात्र-चित्रण की दृष्टि से यह खण्ड और भी महत्त्वपूर्ण है। क्रमश घटनाओ ने ऐसा मोड लिया कि दोनो पक्ष युद्ध-बिन्दु तक पहुँच ही गये। उस भँवर में कूद पडने तक दोनो ओर के नेताओ की मनोवृत्ति का जो विकास हुआ, उसकी स्पष्ट झाकी हमे विराट पर्व एव विशेषत उद्योग पर्व में मिलती है। घटनाओ के इस वेग से बढते हुए विकास में राजा धृतराष्ट्र का व्यक्तित्व सबसे अधिक उभरा हुआ है। वे नियतिवादी दर्शन के अनुयायी थे। एक ओर भाग्य के लेख में उनका अटल विश्वास था और दूसरी ओर अपने पुत्र दुर्योधन के लिए उनके मन में इतना मोह था कि उसके सामने आते ही वे अपनी न्याय-बुद्धि खो बैठते थे। विदुर, सजय एव कृष्ण ने

कितना प्रयत्न किया कि धृतराष्ट्र को समझा कर उनके पद का प्रभाव युद्ध टालने मे प्रयुक्त हो सके, किंतु हर बार धृतराष्ट्र ने घुटने टेक दिये।

इस खण्ड की दूसरी विशेषता कृष्ण के उदात्त चरित्र और महान् व्यक्तित्व का चित्रण है। भारत-युद्ध की घटनाओ मे न्याय और सत्य का आश्रय लेकर उन्होंने जिस प्रकार अपने कर्त्तव्य का पालन किया और कौरवों की सभा मे स्वय जाकर शान्ति का प्रस्ताव रखा, वह अत्यन्त प्रभावशाली प्रकरण है। उससे उनके साहस, प्रभाव एव दृढ सत्य का परिचय प्राप्त होता है। दुर्योधन और कर्ण के सामने सधि की चर्चा पहले से ही असिद्ध थी, फिर भी कृष्ण ने अपने प्रज्ञा-बल का भरपूर उपयोग किया। जब वे युद्ध की घटाओ को नही हटा सके, तब शस्त्र-प्रयोग ही एकमात्र मार्ग रह गया था और उस पर चलने से कुरु कुल स्वाहा हो गया। इन पर्वों मे सहार का जो रोमाञ्चकारी वर्णन है, सास्कृतिक दृष्टि से हमे उसमे रुचि नही है। अतएव उस कथा भाग को अति सक्षेप मे लिख दिया गया है।

किंतु महाभारत के इन पर्वों में भी ऐसे पर्याप्त स्थल मिले, जिनका सास्कृतिक दृष्टि से और धार्मिक इतिहास की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। वे स्थल इस प्रकार हैं :

१. प्रजागर पर्व या विदुरनीति (उद्योग पर्व, अध्याय ३३–४०; पृ० २६–४७)।
२. सनत्सुजातीय पर्व (उद्योग पर्व, अध्याय ४२–४५; पृ० ४७-६०)।
३ भुवनकोप पर्व (भीष्म पर्व, अध्याय १–१२, पृ० १०४-१३४)
४. श्रीमद्भगवद्गीता पर्व (भीष्म पर्व, अध्याय २३–४०; पृ० १३५–२३२)
५. अश्व वर्णन (द्रोण पव, अ० २२; पृ० २३४–२३८)
६ युधिष्ठिर का आह्निक कर्म या दिनचर्या (द्रोण० अ० ५८, पृ० २४०–२४२)
७ व्यास का शतरुद्रिय स्तोत्र (द्रोण० अ० १७३; पृ० २४६-२४७)

८. मद्रक कुत्सन या कर्ण और शल्य की तू-तू, मैं-मैं (कर्ण० अ० २७–२९ पृ० २४८–२६०)

उद्योग पर्व के अन्तर्गत प्रजागर पर्व बहुत ही विलक्षण है। साधारणत लोक में इसे विदुरनीति कहते हैं, किंतु यह कोई सामान्य नीति नही। यह तो प्राचीन भारतीय प्रज्ञादर्शन का अत्यन्त महनीय ग्रन्थ है। इस प्रकार की सामग्री सस्कृत साहित्य, पाली, अर्धमागधी आदि में अन्यत्र कही नही है। सौभाग्य से यह प्रकरण महाभारत में ही सुरक्षित रह गया है। प्राचीन भारत के दार्शनिक मतवादो मे जिन्हे पाणिनि ने मति कहा है और बौद्ध लोगो ने दिट्ठि (स० दृष्टि) कहा है, (दृष्टि का अभिप्राय एक-एक आचार्य के दार्शनिक दृष्टिकोण से था) उनका जब व्यवस्थित सग्रह हुआ तब वे ही दर्शन हुए। पाणिनि ने इन मतो का तीन भागो मे वर्गीकरण किया है। एक आस्तिक जो वैदिक परपरा के अनुयायी थे, दूसरे नास्तिक जो वैदिक परपरा से बाहर प्राय भौतिक जगत् के तत्त्वो की व्याख्या करते थे और तीसरे दैष्टिक या भाग्यवादी जो नियतिवादी कहे जाते थे। विदुरनीति में नियतिवाद का भी उल्लेख आया है। धृतराष्ट्र और ययाति नियतिवाद को मानने वाले थे। विदुर और कृष्ण प्रज्ञादर्शन के अनुयायी थे। गीता मे स्पष्ट ही कृष्ण ने प्रतिष्ठित प्रज्ञा या स्थिर बुद्धि-योग का विस्तार से वर्णन किया है। वैसे तो बुद्ध भी प्रज्ञावादी थे, जिसके लिए पालि-साहित्य मे पञ्ञा शब्द है, किंतु ससार की सत्ता के विषय में बुद्ध ने प्रज्ञावाद से छटककर एक दूसरा ही मार्ग पकडा, जिसका मूलाधार श्रमणवादी परपरा थी। इन तीन प्रकार के दार्शनिक मतो का शान्ति पर्व में कही अधिक विस्तार से वर्णन मिलेगा, जैसा भारतीय साहित्य में कही और उपलब्ध नही है। इसका कुछ सकेत हमने भारत-सावित्री के प्रथम खण्ड की भूमिका में (पृ० ९–१०) किया है। पुस्तक के तीसरे खण्ड में शान्ति पर्व के ये गूढ प्रकरण ही व्याख्या के विषय बनेंगे। प्रज्ञादर्शन का ही कालान्तर मे जो विकास हुआ वह सस्कृत के नीति साहित्य मे पाया जाता है। प्रज्ञादर्शन बडा विचित्र है। यह मानव के लिए अत्यन्त स्वाभाविक और निकट की वस्तु है। सरल

शब्दो मे, मनुष्य के जीवन मे जो नित्यप्रति के कामकाज मे समझदारी का दृष्टिकोण है, वही प्रज्ञादर्शन का सार है । यह इतना स्वाभाविक है कि इसे मानने में किसी को अडचन नही होती । प्रज्ञादर्शन की युक्तियाँ प्रत्येक मनुष्य के मन मे पहले से ही बैठी हुई रहती है और उस भण्डार से वह उन्हे सहज ही प्राप्त कर लेता है । ससार मे और चाहे जितने दर्शन हो, सबके मूल मे मानवीय प्रज्ञा या बुद्धि की प्रतिष्ठा है। प्रज्ञादर्शन मे बहुत पढने-लिखने या पोथी-पत्रो आदि के जगड्वाल की आवश्यकता नही। और मतवादो के सैकडो पन्थ हो सकते है, किंतु प्रज्ञावाद का तो एक ही मार्ग है, जिस पर निश्चयात्मक बुद्धि से मनुष्य चल सकता है ।

इस बारीक दृष्टि से जब प्रजागर पर्व पर विचार किया जाता है तो इन आठ अध्यायो मे उस प्राचीन दर्शन के सैकडो सूत्र हाथ आ जाते है । प्रज्ञा के अनुयायी व्यक्ति के लिए सस्कृत भाषा में एक नये शब्द का प्रचलन हुआ। प्राज्ञ या प्रज्ञावान् का ठीक पर्याय पण्डित शब्द है । प्रज्ञा-पञ्ञा-पण्णा-पण्डा ये शब्द समानार्थक हैं । 'स वै पण्डित उच्यते, स वै पण्डित उच्यते' इस प्रकार के कितने ही सूत्रो मे पण्डित की परिभाषा पाई जाती है। विदुरनीति और गीता दोनो मे ही इस प्रकार के वर्णन है। गाँव-गाँव मे, घर-घर में और जन-जन में फैले हुए व्यवहारो को छानकर एव उसमे बुद्धि की भावना देकर जो रसायन तैयार हुआ, वही प्रज्ञादर्शन है। अतएव प्रजागर नामक महाभारत के इस पर्व की जितनी प्रशसा की जाय, कम है। यह हमें ऐसे लोक मे ले जाता है, जहाँ मानव की महिमा किसी कल्पित देवता के रूप में नही, ठेठ मानव के रूप मे ही दिखाई पड़ती है । ऋग्वेद के वसिष्ठ एव दीर्घतमा ऋषियो से लेकर कृष्ण, वाल्मीकि, व्यास, जनक, याज्ञवल्क्य, विदुर, महावीर, चाणक्य, अशोक, कालिदास, शकर आदि अनेक विचारक हमारे लिए सर्वथा मानव के रूप मे ही मान्य है। उनमे मानवीय बुद्धि का जो विलक्षण प्रकर्ष देखा जाता है, वह मानवीय मस्तिष्क के उस रूप को प्रकट करता है, जिसका मस्तक आकाश को छूता हो, किंतु जिसके चरण दृढता से भूमि पर टिके हों ।

उद्योग पर्व का दूसरा प्रकरण सनत्सुजात ऋषि का उपदेश है। यह एक अध्यात्म दर्शन का अङ्ग था। इसका प्रभाव गीता में भी पाया जाता है। इस दर्शन का सार इन्द्रियो के और मन के सयम द्वारा ब्रह्मप्राप्ति था। ससार के व्यवहारो से बचते हुए वैराग्य की ओर इसका झुकाव था। सभवत उपनिषदो के आचार्य सनत्कुमार इस दर्शन के उपदेष्टा थे। उन्हे ही यहाँ सनत्सुजात कहा गया है। इनका मुख्य लक्ष्य अप्रमाद के द्वारा अमृतत्त्व की प्राप्ति था। शुद्ध ब्रह्मचर्य की साधना से मन, बुद्धि और आत्मा की जिस शक्ति की उपलब्धि सभव है, वही इनका साधना-मार्ग था। बुद्ध और महावीर ने भी अप्रमाद के इस सिद्धान्त को अपनाया है, जैसा कि धम्मपद के अप्पमादवग्ग एव उत्तराध्ययन सूत्र के ऐसे ही स्थल से विदित होता है। ज्ञात होता है कि योग-साधना के द्वारा ब्रह्म-दर्शन इस मार्ग का ध्येय था। इस दर्शन के अन्तर्गत कुछ लोग भाँति-भाँति के रँगो की लेश्याओ का भी ध्यान करते थे, पर सनत्सुजात ने ब्रह्म-दर्शन के उस ढोग को अच्छा नही कहा। इस प्रकरण की दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य है। एक अक्षर ब्रह्म का सिद्धान्त, जो ऋग्वेद से चला आ रहा था और जिसका कालान्तर में बहुत विकास हुआ एव दूसरा अमृतत्व का सिद्धान्त, जो ऋग्वेद के अमृतमृत्युवाद का ही अङ्ग था। वह भी अत्यन्त प्राचीन दर्शन था, जिसका उल्लेख नासदीय सूक्त में हुआ है। एक प्रकार से समस्त सृष्टि एव ब्रह्म की व्याख्या मृत एवं अमृत इन दो शब्दो में ढाल दी गई है। इसी दर्शन के अन्तर्गत एक विशेष सिद्धान्त सत्य का था। सत्य का तात्पर्य पोथी-पत्रो से बाहर जीवन में साक्षात् तत्त्व का दर्शन है, क्योकि जीवन का निर्माण सत्य से हुआ है और सत्य पर ही वह टिका है। सत्य की सप्राप्ति कोरे कथन से नही होती, वह तो दम्भ के त्याग और अप्रमाद को आग्रहपूर्वक जीवन में उतारने से ही सभव होती है। इसलिए मनीषी ब्राह्मण कहते है कि ये तीनो सत्य के तीन मुख है। यह सनत्सुजात प्रकरण भी किसी प्राचीन उपनिषद् या वैदिक चरण का बहता हुआ अङ्ग था, जो उद्योग पर्व में यहाँ सुरक्षित रह गया है। भारत के अध्यात्म साहित्य में इसका महत्त्व इस बात से सूचित होता है कि शकराचार्य ने इस पर भाष्य किया है।

जब होनहार के बवडर को कृष्णजी न रोक सके तो दोनों पक्षो की सेनाएँ कुरुक्षेत्र में आ डटी और युद्ध का चौचक बानक बन गया। ऐसे समय महाभारत के विद्वान् लेखक ने भीष्म पर्व के अध्याय १–१२ तक 'भुवन-कोप' का महत्त्वपूर्ण प्रकरण जोड दिया है। इसकी विस्तृत व्याख्या हमने पृष्ठ १०४–१३२ तक की है। यह विषय और भी अनेक पुराणों मे है। इसका विशेष स्पष्टीकरण पुस्तक मे दिए हुए मानचित्रो के द्वारा पाठको को प्राप्त होगा। मोटे रूप से इस विषय मे तीन बातें ज्ञातव्य हैं। एक यह कि पृथ्वी के प्राचीन भूगोल की दो कल्पनाएँ थी। पहली कमल की चार पखडियो की भाँति चार दिशाओ मे चार महाद्वीपो की, जिसका नाम चतुर्द्वीपी भूगोल था। कालान्तर मे सात द्वीपो की कल्पना की गई और पहले वर्णन को नई सामग्री जोड़कर बहुत बढाया गया। इसका नाम सप्त-द्वीपी भूगोल था। यदि ये दो वर्णन अलग-अलग रहते तो ठीक था, पर किसी लाल बुझक्कड ने उन दोनो को एक में साँट कर ऐसा घोटाला कर दिया है कि अनबूझ पाठक को उसमें थाह ही नही मिलती। सौभाग्य से हमारे मित्र रायकृष्णदासजी ने दीर्घ काल तक मनन करके इन दोनो वाचनाओं को अलग-अलग सुलझा पाया और उसी से हम भी इस पहेली को बूझ सके। इस पुस्तक में चतुर्द्वीपी और सप्तद्वीपी भूगोल के जो दो चित्र दिए हैं उनका आधार रायकृष्णदासजी के बनाए चित्र ही हैं। इन मानचित्रो की सहायता से मनोयोगपूर्वक इस विषय को पढने से पाठक दोनो का भेद स्पष्ट जान सकेंगे। भुवनकोष प्रकरण की दूसरी विशेषता सप्त-द्वीपो के नदी-पर्वतो का वर्णन है। यद्यपि हम अब इन सबकी पहचान करने मे असमर्थ हैं, तथापि ऐसा ज्ञात होता है कि इन नामो का आधार तथ्यात्मक था। उनमे से शाक द्वीप के कुछ नाम पहचान में आ जाते है। अतएव यह मानना चाहिए कि शेष नाम भी किसी समय मे सुविदित रहे होगे।

भौगोलिक वर्णन की तीसरी विशेषता भारतवर्ष के पर्वत, नदी और जनपदो का सविशेष वर्णन है। इसका मूल पुराणो का भुवनकोष वर्णन ही था, क्योंकि वहाँ ये सूचियाँ वर्गीकृत है और यहाँ मिली-जुली हैं।

फिर भी जहाँ तक सम्भव हुआ हमने इनकी पहचान और वर्गीकरण कर दिया है।

इस खड का चौथा महत्त्वपूर्ण प्रकरण भीष्म पर्व के अतर्गत गीता के अठारह अध्याय है। गीता जगत्प्रसिद्ध ग्रथ है और इस पर भाष्य, टीका और अनुवादो का कोई अन्त नही है। फिर भी हमें लगा कि सास्कृतिक इतिहास की दृष्टि से गीता का अभी तक एक भी अध्ययन नही हुआ और उसके कितने ही ऐसे पारिभाषिक शब्द है, जिन पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है। इस सवन्ध मे हमारा कार्य दो प्रकार का है। एक तो गीता की जो वैदिक परिभाषाएँ है, उनकी हमने उसी पृष्ठभूमि में व्याख्या की है, जैसे क्षर-अक्षर, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, अहोरात्र, महद्ब्रह्म, वीजप्रद, स्वयभू आदि विषयो को वेदमूलक तत्त्वज्ञान के साथ मिलाकर देखा गया है। इस अध्ययन का दूसरा दृष्टिकोण भारतीय सस्कृति के इतिहास से सवध रखता है, जैसे गीता के दूसरे अध्याय की वहुत-सी सामग्री 'प्रज्ञा-दर्शन' से ली गई है। दसवें अध्याय की सामग्री में प्राचीन भारतीय लोक धर्मो का अच्छा सग्रह है। इसका अधिक विस्तार से विवेचन हमने अपने 'प्राचीन भारतीय लोकधर्म' नामक ग्रथ मे किया है। यहाँ यह प्रश्न भी उठाया गया है कि विभूति-योग नामक दसवें अध्याय मे क्या सगति है। पेडो में मै पीपल हूँ, जलचरो में मगरमच्छ हूँ, इत्यादि कल्पनाएँ योही उठकर नही खडी हो गई। इनके पीछे धार्मिक मान्यताओ का एक पूरा ससार ही छिपा हुआ है। वही प्रवेश करके इनका पूरा महत्त्व जाना जा सकता है। इस सवध में खोजने पर गीता का व्रत शब्द पारिभाषिक निकला। उसी पृष्ठभूमि में उसके अर्थ की सगति ठीक बैठ सकती है (देखिए पृष्ठ १८६)। जहाँ तक सम्भव हुआ, गीता की युक्तियो के पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष को हमने अलग करने का यत्न किया है। गीता की इस नई व्याख्या का नाम हमने 'गीतानवनीत' दिया है और यह भी प्रयत्न किया है कि इसका अधिक व्यापक प्रचार हो। हमारा यह भी अनुमान है कि यदि किसी विज्ञ पाठक की उपजाऊ मानस भूमि मे इस व्याख्या के कुछ अङ्कुर स्फुटित हो सके तो उपनिषद् और महाभारत एव वैदिक चरणो के

अध्यात्म साहित्य की सहायता से गीता के और भी पारिभाषिक शब्दो का वैदिक एव तुलनात्मक विचारों का उद्धार हो सकेगा। गीता कुछ अपने युग से बाहर की रचना नही है। वह तो उस युग की विशेष शब्दावली मे डूबी हुई है, जो उस समय लोक विदित थी।

द्रोण पर्व के अध्याय २२ मे लगभग ६० श्लोको मे घोडो के रङ्गो और नामो का जैसा विलक्षण वर्णन है, वैसा प्राचीन साहित्य मे दण्डिकृत अवन्ति-सुन्दरी के अतिरिक्त हमे कही नही मिला, यद्यपि मानसोल्लास, हेमचन्द्र आदि के कई मध्यकालीन वर्णन हमारे सामने थे। यह वर्णन क्या है, घोडो का व्यापार करनेवाले किसी व्यापारी का क्रोडपत्र है। जहाँ तक बना, हमने द्रोण पर्व की सामग्री को अवन्ति-सुन्दरी से मिलाकर अर्थाने का प्रयत्न किया है। पर इसका अभी अधिक स्पष्टीकरण सभव है।

द्रोण पर्व मे ही अध्याय ५८ में युधिष्ठिर का आह्निक या नित्य की दिनचर्या सास्कृतिक दृष्टि से बहुत ही रोचक है और यह आवश्यक है कि सस्कृत के पाठ्य ग्रथो मे इसका अधिक प्रचार हो (पृष्ठ २४०–४२)। इस प्रसङ्ग के भी कई पारिभाषिक शब्दो पर हमने भारतीय कला की सहायता से नया प्रकाश डाला है। राजा के महल मे तीन कक्ष्याएँ या चौक होते थे। राजा कब कहाँ बैठकर कौन-सा कर्म करता था, इस पर कुछ प्रकाश हमने डाला है, पर विशेष के लिए 'हर्षचरित एक सास्कृतिक अध्ययन' एव 'कादम्बरी एक सास्कृतिक अध्ययन' इन दो ग्रथो को देखना आवश्यक है।

द्रोण पर्व की युद्धकथाओ की मरुभूमि को पार करके जब पाठक उसके अतिम छोर पर पहुँचता है, तो किसी बुद्धिमान लेखक ने वहाँ थके मन की शाति के लिए शतरुद्रिय स्तोत्र के रूप मे एक सरसाती हुई जलधारा प्रवाहित की है। यह शतरुद्रिय स्तोत्र भगवान् शिव के नामो का अमृत जल है। इसका स्वरूप विराट् और भव्य है। इसके ६९ श्लोको मे पहले यजुर्वेद के शतरुद्रिय की शैली पर नमस्कारात्मक बीस श्लोक है, फिर भगवान् शकर के दिव्य कर्मो के वर्णनात्मक ३५ श्लोक हैं। पुन उनके बहुधा भावो के सूचक ३ श्लोक है और अत मे शिव के भिन्न नामो की निरुक्तियो के ११ श्लोक

हैं। इस प्रकार के शतरुद्रिय या सहस्रनाम स्तोत्रो की साहित्यिक रचना बहुत ही परिश्रम-साध्य साहित्यिक कार्य था। कोई प्रतिभाशाली लेखक ही दीर्घकालीन अध्ययन के बाद इस प्रकार के स्तोत्र की सघटना कर पाता था। इसमें मूल कल्पना यह थी कि ईश्वर तत्त्व एक होते हुए भी गुण, कर्म, नाम और रूपो के कारण अनेक है और मानव के ज्ञान की परिधि में कुछ भी ऐसा नहीं है जो ईश्वर की विभूति, ऐश्वर्य या योग से बाहर हो। अतएव बृहत् नाम स्तोत्र रचनेवाले लेखक भारी प्रयासपूर्वक वैदिक और लौकिक साहित्य का मथन करके पहले नामो का चुनाव करते थे और अत मे उन्हें छन्दोबद्ध किया जाता था। कई नाम स्तोत्रो को मिलाकर देखने से ज्ञात होता है कि इन सूचियो में बहुत से नाम अलग और बहुत से एक समान है। इसका हेतु स्पष्ट है। जब भगवान् के एकत्त्व की ओर दृष्टि जाती है, तो देव भेद होने पर भी एकसे नाम ऊपर उतिरा आते है और जब बहुधा भाव पर दृष्टि रहती है, तो भिन्न-भिन्न नाम कहे जाते है। वैसे तो अन्य धर्मों में भी स्तोत्रो का महत्त्व है, किन्तु भारत के धार्मिक साहित्य में स्तोत्रो का बहुत ही विशिष्ट स्थान है।

शान्ति पर्व के 'भीष्मस्तवराज' में स्तोत्र को वाग्यज्ञ कहा गया है। द्रव्ययज्ञ बहु व्यय साध्य है, किन्तु स्तोत्र रूपी वाग्यज्ञ द्वारा इष्टदेव का आराधन सुलभ है। यो भी देवतत्त्व के सानिध्य के दो ही उपाय है। एक मानस ध्यान द्वारा, दूसरे वाक् की शक्ति के द्वारा। मन, प्राण, वाक्, इन तीनो से यह चैतन्ययुक्त शरीर बना है। इनमें प्राण मध्यस्थ है। जब वह अपनी शक्ति मन को देता है तो उससे देवतत्त्व का ध्यान किया जाता है। पर जब प्राण की शक्ति वाक् या पचभूतात्मक शरीर को प्राप्त होती है, तो उससे वाणी द्वारा देवता का यजन या वाग्यज्ञ किया जाता है, उसे ही स्तोत्र कहते है।

यह उल्लेखनीय है कि अपने साहित्य में कई सहस्रनाम पाये जाते है, जैसे गायत्री सहस्रनाम (देवी भागवत, १२।६।१०-१५५. ब्रह्माण्ड के मध्य मे स्थित देवी का अकारादि क्रम से स्तोत्र), पार्वती सहस्रनाम (कूर्मपुराण

पूर्वखंड, १२।६२–१९९), गङ्गा सहस्रनाम (स्कदपुराण, काशीखड, २९।१७–१६७); विष्णु सहस्रनाम (पद्मपुराण, उत्तरखड अ० ७२ श्लो० १२३–२९७)। इसके अतिरिक्त शिव के भी कितने ही उत्तम स्तोत्र है। जो शिवस्तोत्र है, वे ही रुद्र स्तोत्र है, क्योकि रौद्र भाव की शान्ति से ही शिवात्मक भाव की प्राप्ति होती है। मत्स्य पुराण मे शुक्रकृत शिव का अति उत्तम नम स्तोत्र है (मत्स्य ४७।२८–१६८), जो यजुर्वेद के १६वे अध्याय के शतरुद्रिय स्तोत्र और शान्ति पर्व अध्याय ४७ के भीष्म स्तवराज की शैली पर है। हरिवश मे कश्यप कृत रुद्र स्तोत्र (हरिवश २।७२।२९–६०) और कृष्ण कृत रुद्र स्तोत्र (हरिवश २।८४।२२–३४) उल्लेखनीय है। विष्णु कृत शिव का एक नम स्तोत्र भी है(लिङ्गपुराण १।२१।२–७१)।

पुराण साहित्य में शिव के तीन सहस्रनाम भी पाये जाते है, जो अति महत्त्वपूर्ण है। तात्त्विक दृष्टि से उनकी कल्पना विराट् है। पहला स्तोत्र तण्डि कृत शिव सहस्रनाम है (लिङ्गपुराण १।६५।५४–१६८)। यही महाभारत के अनुशासन पर्व मे भी उद्धृत हुआ है (अनुशासन पर्व, १७।३१–१५३)।

दूसरा दक्ष कृत शिव सहस्रनाम है, जो वायुपुराण अध्याय ३० मे आया है। वही से लेकर उसे शान्ति पर्व के लेखक ने (२८४।६९) उद्धृत किया है। किन्तु पूना सस्करण में पाठ सशोधन के समय यह अश प्रक्षिप्त सिद्ध हुआ है। ज्ञात होता है कि यह शान्तिपर्व के मूलपाठ मे कालान्तर में जोड़ा गया, जो महाभारत की कुछ वाचनाओ मे आज भी नही है। इसी शिव सहस्रनाम को वामनपुराण के लेखक ने अध्याय ४७ मे उद्धृत किया है। किन्तु वहाँ उसे दक्ष कृत न मानकर वेन कृत कहा गया है।

तीसरा शिव सहस्रनाम स्तोत्र विष्णु कृत है, जो लिङ्गपुराण मे ही दूसरी बार आया है (लिङ्गपुराण १।९८।२७–१६९)। ज्ञात होता है कि लिङ्गपुराण मे तण्डि कृत स्तोत्र पहले से विद्यमान था और कुछ समय बाद शिव, विष्णु की भक्ति का समन्वय करते हुए किसी योग्य लेखक ने इसे भी उसमे स्थान दे दिया। भगवान् शिव का एक अत्यत उदात्त स्तोत्र जैमिनि

कृत 'वेदपादस्तव' है, जिसमें कितने ही वैदिक मन्त्रो के चरणाश लेकर प्रभावशाली छन्दो की माला गूँथी गयी है (वृहन्नारदीय २।७३।२९-१४१)। वस्तुत द्रोण पर्वान्तर्गत व्यास कृत चतुर्विध शिव स्तोत्र भी शैली और भावो की दृष्टि से अत्यत तेजस्वी है। यह स्मरण रखना चाहिए कि तत्त्व की दृष्टि से अग्नि, रुद्र और प्राण एक दूसरे के पर्याय है, जैसा कहा है

प्राणे निविष्टो वै रुद्रस्तस्मात्प्राणमय स्वयम् ।
प्राणाय चैव रुद्राय जुहोत्यमृतमुत्तमम् ॥
(लिङ्गपुराण, १।८८।६६)

अतएव रुद्रतत्त्व या प्राणतत्त्व की प्रशसा मे जो कहा जाय कम है। जैसे अग्नि के घोर और अघोर दो शरीर है, जैसे प्राण के शान्त और कुपित दो रूप है, वैसे ही शकर के भी रुद्र और शिव ये दो रूप है। प्रजापति का सृष्टि में स्थिर किया हुआ जो सेतु है, उस वधेज का उल्लघन करने से शान्त शिव घोर वन जाते है। स्तोत्रो के रचयिता दोनो रूपो मे उनकी आराधना करते है। वस्तुत द्वद्वात्मक सृष्टि के तनाव मे पडा हुआ प्राणी यदि भगवान् के रुद्र रूप को नही पहिचानता तो वह उनके शिवरूप का समराधन भी सकुशल नही कर सकता। अशिव या अमङ्गल के निवारण से ही मङ्गलात्मा शिव का आगमन होता है।

कर्ण पर्व मे कर्ण और शल्य की तू-तू मै-मै वहुत प्रसिद्ध है। हमारे मन में सदा यह प्रश्न उठता था कि इस प्रकार के अभद्र विवाद का सकेत या असली मर्म क्या है? सौभाग्य से इस वर्णन के पीछे जो ठोस ऐतिहासिक आवार था, वह हमारे हाथ लग गया। यह मद्र देश या पजाव के राजा शल्य की छीछालेदर नही, किन्तु इस वर्णन के व्याज से उन यूनानी लोगो की धज उतारी गई है, जिन्होने मद्र की राजधानी शाकल मे एक शती तक राज्य किया और जिन्हें मद्रक यवन कहते थे। वाह्लीक या वैक्ट्रिया मे राज्य करने वाले पूर्वकालीन यूनानी वाह्लीकयवन और मद्रदेश या पजाव मे राज्य करनेवाले उत्तरकालीन यूनानी मद्रकयवन कहलाते थे। उनका रहन-सहन और आचार-विचार भारतीयो से भिन्न था और गोमास आदि का भक्षण, अत्यधिक

सुरापान, स्त्रियो के साथ खुलकर नाचना, आर्य नियमो के सदृश शौच का अभाव, ये कुछ ऐसी बाते थी, जिनके विरुद्ध भारतीयो मे अत्यधिक रोष उत्पन्न हुआ और वह उबाल शल्य-कुत्सन नाम के इस प्रकरण मे बचा रह गया है। यूनानियो का ऐसा कटखना वर्णन किसी भी और देश के साहित्य मे नही पाया जाता। हमारा अनुमान है कि इसकी रचना पुष्यमित्र शुग (लगभग १८५ ई० पू०–१५० ई० पू०) के काल में हुई। पुष्यमित्र और उनके उत्तराधिकारी ब्राह्मण वशज थे और यहाँ यह बारबार कहा गया है कि कोई ब्राह्मण मद्रदेश से घूमकर आया और उसने यह सूचना दी। इतना ही नही, इस प्रकार का प्रचार उस युग की आवश्यकता थी। इस वर्णन के नव (९) पैवन्द है जिन्हे एक साथ सी दिया गया है। पर वे थेकलियाँ आज भी स्पष्ट दिखलाई पडती है। ज्ञात होता है कि इन वर्णनो का बहुत कुछ उद्देश्य मद्रदेश की जनता के मन को यूनानियो के विरुद्ध फेरना था। अतएव मानो इस प्रकार के लोकगीत जान-बूझकर जनता मे प्रचारित किए गये। मूल वर्णनो मे इन्हे कई जगह गाथा कहा गया है। अनुमान होता है कि जब लोग महाभारत की कथा सुनते थे, तो उसी के साथ मद्रक यवनो का यह प्रसग भी सुनाया जाता था और इसका गहरा रंग उनके मन पर पडता था, जिससे समस्त मध्यदेश मे यवनो से प्रतिशोध का बवण्डर उठ खडा हुआ और सचमुच उस काली आँधी के प्रकोप से मद्रक तिनके की तरह उड गए। पतञ्जलि ने महाभाष्य मे एक उदाहरण दिया है 'दुर्यवन', उसका अर्थ है यवनो का घोर विनाश। वह मद्रक यवनो पर आई हुई इसी प्रकार की विपत्ति का सूचक है। पुष्यमित्र और उसके सुयोग्य पौत्र वसुमित्र के नेतृत्व मे मध्यदेश से उठा हुआ रेला मद्रक यवनो को वहा ले गया।

भारत सावित्री के प्रथम खड के पहले २८ लेख 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के द्वारा प्रचारित हुए थे और बाद मे विराट् पर्व के अत तक की सामग्री जोडकर उन्हे पुस्तक रूप दिया गया। उससे जनता को ग्रथ के विषय मे अत्यधिक रुचि उत्पन्न हो गई थी। उसी प्रकार गीता के अठारह अध्यायों की व्याख्या 'गीता-नवनीत' शीर्षक से साप्ताहिक हिन्दुस्तान मे प्रकाशित

हुए और उसके संबंध में कई पाठको ने अपनी अभिरुचि प्रकट करते हुए उन्हें पुस्तक रूप में देखने की इच्छा प्रकट की। आशा है, भारत सावित्री का यह द्वितीय खंड उन्हें रुचिकर होगा, क्योंकि गीता की व्याख्या के अतिरिक्त और भी कई प्रकार की धार्मिक और सांस्कृतिक सामग्री इसमें समाविष्ट हुई है।

महाभारत शतसाहस्री संहिता है। समस्त भारतीय राष्ट्र का धर्म, दर्शन, कला और संस्कृति महाभारत में प्रतिबिम्बित है। प्राचीन उक्ति के अनुसार वेदव्यास ने यह विलक्षण ज्ञानमय प्रदीप प्रज्वलित किया है। सचमुच महाभारत रत्नो की विलक्षण खान है। इस पर प्राचीन युग की देव-बोध, अर्जुनमिश्र, सर्वज्ञनारायण आदि की कई अच्छी टीकाएँ उपलब्ध है।

किन्तु आज का पाठक उन टीकाओ की परिधि से ऊपर उठकर महाभारत को स्वयं अपने समीक्षात्मक नेत्र से देखना चाहता है। यही महाभारत के संवर्धनशील स्वरूप की विशेषता है। महाभारत ज्ञान का वह अमृत कलश है, जो व्यास के मन रूपी गरुड द्वारा मानव-कल्याण के लिए पृथिवी पर लाया गया है। ऋग्वेद के शब्दो में 'आ पूर्णो अस्य कलश स्वाहा (ऋग्वेद ३।३२।१५) यह अमृत कलश, मङ्गल घट या पूर्ण कुम्भ जीवन के सत्यरूपी अमृत से ओत-प्रोत है। उसके परिमित शब्दो में अमित अर्थ भरा है। बार-बार प्रयत्न करने पर भी यह संभव नही हो पाता कि उसकी पूरी अर्थगति मन में आ सके।

भविष्य में जिस बडभागी पर सरस्वती की महती कृपा होगी, उसे सहस्र नेत्रो से महाभारत के समग्र अर्थ का दर्शन सिद्ध हो सकेगा।

काशी विश्वविद्यालय
१० अप्रेल १९६४

—वासुदेवशरण

विषय-सूची

५. उद्योग पर्व

७. द्रोण पर्व

८. कर्ण पर्व

९. शल्य पर्व

१०. सौप्तिक पर्व

११. स्त्री पर्व

भारत-सावित्री

खण्ड २

महर्षि वेदव्यास

चित्रकार—श्रीजगन्नाथ अहिवासी

भारत-सावित्री

द्वितीय खंड

पाँचवाँ उद्योग पर्व

: ४३ :

सैन्योद्योग

(अ० १–१९)

इस पाँचवे पर्व मे एक सौ सत्तानवें अध्याय है। कथा-प्रवाह और अध्यात्म-सामग्री का इसमे अच्छा समन्वय पाया जाता है। तेरह वर्ष के वनवास की तपस्या से पाण्डव कचन की तरह तप रहे थे। परिस्थिति उनके पक्ष मे न्याय की पुकार कर रही थी। पर सत्य के उस बिन्दु तक पहुँचने मे अभी कई बाधाएँ थी। उन्ही को हटाने के आरम्भिक प्रयत्नो की झाँकी इस पर्व मे मिलती है। इनमे सबसे आकर्षक कृष्ण का कौरवो की सभा मे दूत बनकर जाना है, जहाँ उन्होने शान्ति की याचना का यह स्वर ऊँचा किया—

> कुरूणां पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत।
> अप्रणाशेन वीराणामेतद् याचितुमागतः॥

दुर्योधन के हठ की चट्टान से टकराकर यह सौम्य प्रयत्न कैसे छिन्न-भिन्न हो गया यह हम आगे देखेंगे। पाण्डवो के प्राप्तव्य अधिकारो की इस

संधि-वेला में सबसे भारी खलबली धृतराष्ट्र के मन में थी। इस व्यक्ति को जो असतुलित मन मिला था वह कभी पाण्डवो की ओर झुकता किन्तु अधिकांश में दुर्योधन के षडयन्त्रो के साथ ही गुंथा रहता था, जसा पहले कई स्थानो पर देख चुके है। क्या पाण्डवो को उनका अधिकार देना ही पडेगा? यदि दे दिया गया तो मेरे पुत्रो का क्या होगा? यदि न दिया गया तब क्या होगा? इस तरह की उधेड-बुन से धृतराष्ट्र की नीद जाती रही, उसे ही कथाकार ने "प्रजागर" कहा है। उस व्याधि को दूर करने के लिए भारतीय विचारो के महाकोश में से दो प्रकार की औषधि धृतराष्ट्र को दी गई, एक विदुर के नीति-धर्म की, दूसरी सनत्सुजात ऋषि के अध्यात्म-धर्म की। ये दोनो ही इस पर्व के विशिष्ट रसपूर्ण स्थल और महाभारत के चमकते हुए रत्न है।

पाण्डवो का युद्ध-विमर्श

उपप्लव नगर में अभिमन्यु के विवाह से निवृत्त होकर पाण्डव पुनः विराट नगर में लौट आए। यह स्वाभाविक था कि वहाँ सब लोग मिलकर आगे की समस्या पर विचार करे। विवाह के अवसर पर एकत्र होने वालो में द्रुपद भी थे। सबमें वृद्ध और सबसे मान्य उग्रसेन भी वहाँ उपस्थित थे। कुछ आरम्भिक बातचीत के बाद कृष्ण ने पाण्डवो के कार्य की ओर सबका ध्यान आकर्षित करते हुए कहा—"आप सब जानते है कि किस प्रकार शकुनि ने कपटद्यूत से युधिष्ठिर का राज्य ले लिया और शर्त के साथ उन्हें प्रवास में भेज दिया। पाण्डवो ने अपने सत्य द्वारा अनेक कष्ट सहकर भी वह व्रत पूरा कर लिया है। अब युधिष्ठिर और दुर्योधन का जो हित हो उसे आप सब सोचें। 'वह धर्मयुक्त होना चाहिए। अधर्म से युधिष्ठिर देवो का भी राज्य न चाहेंगे। धर्मपूर्वक एक गाँव का आधिपत्य भी उन्हें ग्राह्य होगा। कौरवो ने कभी अर्जुन को आमने-सामने नही जीता तो भी राजा धृतराष्ट्र और उनके सुहृत् सदा कौरवो की ही कुशल चाहते है। पाण्डवो ने अपने बाहुबल से जो राज्य बनाया था वे

केवल उसी के इच्छुक हैं। आप सब पृथक् रूप से और मिलकर निश्चित करे। पाण्डवो के साथ कौरवो ने कुछ उलटा व्यवहार किया तो वे लड भी सकते हैं। आप यदि सोचें कि ये उन्हे जीत न पाएँगे तो क्या सब हितैषी मिलकर इनकी सहायता के लिए तैयार है? दुर्योधन क्या सोचता है और क्या करने वाला है, यह हम नही जानते। उसका मत जाने बिना आप भी क्या कर्त्तव्य का निश्चय कर सकेंगे? इसलिए यहाँ से कोई योग्य पुरुष दूत के रूप मे जाकर युधिष्ठिर के लिए आधा राज्य माँगे।"

सबने कृष्ण की बात ध्यान से सुनी। बलराम ने कहा—"आपने धर्म और अर्थ से युक्त कृष्ण का वचन सुना जिससे युधिष्ठिर और दुर्योधन दोनो का हित होगा। आधा राज्य देकर दुर्योधन सुखी होगा और उसे पाकर युधिष्ठिर भी सुखी होगे। मुझे भी यह प्रिय है कि कौरव-पाण्डवो में शम की स्थापना के लिए कोई वहाँ जाय और भीष्म, धृतराष्ट्र, द्रोण आदि एव वृद्ध पौर जन, सेनाध्यक्ष और व्यापारिक निगम-श्रेष्ठियो की उपस्थिति मे नम्रतापूर्वक ऐसे वचन कहे जिससे युधिष्ठिर का हित हो। वहाँ और भी खिलाडी थे जिन्हे युधिष्ठिर जीत सकते थे किन्तु युधिष्ठिर ने शकुनि को ही चुना और बराबर उलटे पासे पडने पर भी खेलते रहे। इसलिए शकुनि का भी कुछ अपराध नही। सब कुछ विचार कर उचित तो यही है कि हमारा दूत धृतराष्ट्र को प्रणाम करके शान्तिपूर्वक बातचीत करे तभी कुछ स्वार्थ सिद्ध हो सकेगा।"

बलराम के अन्तिम वाक्य सात्यकि को डक की तरह लगे। उसने कहा—'जिसका आपा जैसा होता है वैसा ही वह कहता है। कुछ लोग शूर और कुछ लोग कायर होते है। एक ही कुल मे क्लीव और वीर दोनो जन्म पा जाते है, जैसे एक वृक्ष पर फलप्रद और फलहीन शाखाएँ। हे बलराम! तुम पर नही, मेरा रोष इन सुनने वालो पर है, जिनसे तुमने निडर होकर युधिष्ठिर का दोष कहा। अक्षविद्या मे अनजान महात्मा युधिष्ठिर को उन जुआरियो ने अपने घर बुलाकर जीत लिया इसमें कहाँ की धर्मजय? और फिर उसमें उन्होने कपट किया। वे भीष्म-द्रोण के समझाने से भी पाण्डवों

को उनका पैतृक राज्य नही देंगे। मै तीक्ष्ण वाणो से उन्हे युधिष्ठिर के चरणों में झुकाऊँगा। आततायी शत्रुओ के वध में अधर्म नही। हाँ, शत्रुओ से याचना मे अधर्म और वट्टा है।"

द्रुपद ने सात्यकि के जैसे स्वर मे ही कहा—"दुर्योधन मिठास से कभी राज्य न देगा। धृतराष्ट्र उसे चाहता है। अतएव उसी की-सी कहेगा। कर्ण, शकुनि मूर्खतावश और भीष्म, द्रोण उत्साहहीनतावश उसी का साथ देंगे। वलदेव का कहना मेरी समझ में तो बैठा नही। बिना शक्ति के दुर्योधन से जो कहा जायेगा उसे वह पापी निर्बलता मानेगा। सब जगह दूत भेजो नही तो वह दुर्योधन भेज देगा। पहले जो प्रार्थना करता है सज्जन उसी की बात मान लेते है। शल्य, भगदत्त, आहुक, सेनाविन्दु आदि निष्पक्ष राजाओ के पास, पचनद, त्रिगर्त, पासुराष्ट्र (उडीसा की पास नामक रियासत), कारुष, कलिगाधिपति कुमार इन सबके पास दूत भेजो। मेरा यह पुरोहित धृतराष्ट्र के पास जाय और इसे आप बता दें कि वहाँ धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण और दुर्योधन से क्या-क्या कहना है?"

कृष्ण ने बडी चतुराई से बात को समेटा। उनका अपना मत तो दूत भेजने के पक्ष में था ही, द्रुपद के प्रस्ताव को सुनकर उन्होने कहा—"पचालराज का कथन युक्तियुक्त है। नीति चाहनेवाले हमारे लिए यही पहला कार्य है। हमारा कौरवो-पाण्डवो से बराबर का सबन्ध है, यदि दोनो का व्यवहार ठीक चलता रहे। हम तो ब्याह के अवसर पर निमत्रण पाकर आ गए थे। विवाह हो चुका अब लौट जायेंगे। हे सोमको मे श्रेष्ठ, आप आयु और ज्ञान मे वृद्धतम हैं। धृतराष्ट्र आपको बहुत मानते है। आप आज ही दूत भेज दीजिए और जो सन्देश हो उसे भी निश्चित कर दीजिए। यदि न्याय से शान्ति हो गई तो भाइयो का युद्ध रुक जायेगा।" तब विराट ने कृष्ण को वन्धु-वान्धवो के साथ द्वारका के लिए विदा किया। उसके वाद द्रुपद ने अपने पुरोहित को दूत रूप में भेजते हुए कहा—"जडभूतो से प्राणधारी श्रेष्ठ है। सास लेकर जीने वालो में बुद्धि युक्त प्राणी अश्व-गजादि श्रेष्ठ है। वुद्धि-युक्तो मे मनुष्य, मनुष्यो मे द्विजाति, द्विजो में

कर्मपरायण बुद्धि रखनेवाले उत्तम है। आप ऐसे व्यक्तियो में भी मुख्य है। साथ ही प्रज्ञा मे शुक्र और बृहस्पति के तुल्य है। धृतराष्ट्र की जानकारी मे यह सब हुआ। विदुर के समझाने पर भी वह पुत्र का ही पक्ष करता है। आप धृतराष्ट्र से धर्मयुक्त बात कहे। वे राज्य तो न देगे पर उनके जो धर्मपरायण योधा हैं, उनमे फूट पड जायेगी। फिर उन्हे एक मत करने मे समय लगेगा। इस बीच मे हम लोग सेना-कर्म और सामग्री-सचय कर लेंगे। तुम्हारे जाने का यही मुख्य फल होगा कि कुछ समय मिल जायेगा।" यह सुनकर बुद्धिमान् पुरोहित हस्तिनापुर की ओर गया।

कृष्ण का वरण

इधर दुर्योधन भी अपने गुप्तचरों द्वारा युधिष्ठिर की चेष्टाओ का पता लगा रहा था। उसने जब सुना कि कृष्ण द्वारका लौट गए है तो वह भी वहाँ गया। सयोग से उसी दिन अर्जुन ने भी द्वारका के लिए प्रस्थान किया। जब वे पहुँचे कृष्ण सोये हुए थे। दुर्योधन उसी अवस्था मे सिरहाने जाकर बैठ गया। उसके पीछे ही अर्जुन भी पहुँचा और पैरो की ओर बैठकर प्रतीक्षा करने लगा। जागने पर कृष्ण ने पहले अर्जुन को देखा और तब दोनो का स्वागत सत्कार करके उनके आने का कारण पूछा। दुर्योधन ने हँसते हुए कहा—"इस भावी युद्ध मे आप मुझे सहायता दें। आपका मुझमे और अर्जुन में बराबर सख्यभाव हैं। हम दोनो का सबन्ध भी आपके साथ एक-सा हैं और फिर मै पहले आपके पास पहुँचा हूँ। सज्जन पहले आए हुए को अपनाते हैं। आप इस सद्वृत्त का पालन करे।" कृष्ण ने सरल भाव से उत्तर दिया "इसमे सन्देह नही कि तुम पहले आए, पर मैंने पहले पार्थ को ही देखा। तुम्हारे पहले आने के कारण और इसके पहले देखे जाने के कारण मेरा निश्चय है कि मै दोनो की सहायता करूँगा। छोटो का मन वहलाव पहले होना चाहिए ऐसी नीति है। एक ओर मेरी असख्य नारायणी गोप सेना है दूसरी ओर मै अकेला रहूँगा—सो भी हथियार नही उठाऊँगा और युद्ध नही करूँगा। हे अर्जुन, इनमें से जो तुम्हे रुचे चुन लो क्योकि तुम्हारा

मन पहले रखना उचित है।" अर्जुन ने तुरन्त कृष्ण को चुन लिया और दुर्योधन उनके सैनिको को अपने पक्ष मे करके फिर वलराम के पास पहुँचा और आने का हेतु कहा। वलराम ने कहा—"मैने विराट के यहाँ कृष्ण को फटकारकर तुम्हारे पक्ष में कुछ कहा था पर कृष्ण को मेरा वह वाक्य रुचा नही। विना कृष्ण के मै क्षण भर के लिए किसी पक्ष में नही हो सकता। इसलिए मैने निश्चय किया है कि दोनो मे से किसी का सहायक न वनूँगा।" सुनते ही दुर्योधन प्रसन्न हो गया और उसने अपनी जीत निश्चित जान ली और हस्तिनापुर लौट आया।

कृष्ण ने एकान्त में अर्जुन से पूछा कि तुमने क्या सोचकर मुझ अकेले को चुना। अर्जुन ने कहा—"आप लोक में यशस्वी है। यश के लिए मैने आपको चुना। वहुत दिन से मेरी इच्छा थी कि आप मेरे सारथी वनें। अव वह अवसर आया है।" कृष्ण ने उसे स्वीकार किया। अर्जुन भी प्रसन्न मन से युधिष्ठिर के पास लौट आया। ऊपर जिन नारायण गोपो का उल्लेख कृष्ण ने अपनी सेना के रूप में किया है वे यमुना के दक्षिण तटवर्ती कछारो से लेकर किसी समय नर्मदा तटवर्ती चेदि प्रदेश तक फैले हुए थे। महाभारत में अन्यत्र भी उनका उल्लेख आया है। उन्ही के कारण कुन्ति जनपद या कोतवार प्रदेश गोपाद्रि नाम से प्रसिद्ध हुआ। गोपालगिरि ही वर्तमान ग्वालियर है।

शल्य का आना

विग्रह की ओर रपटते हुए कुरु-पाण्डवो की सूचना उनके मामा मद्रराज शल्य तक पहुँची। वे पाण्डवो से मिलने चले। दुर्योधन चतुर राजनीतिज्ञ की भाँति इस समय वहुत ही चौकन्ना वना हुआ था। शल्य के प्रस्थान की सूचना पाते ही उसने मार्ग में अच्छे से अच्छे सभा-मण्डप खडे करा दिये। शल्य ने इस प्रवन्ध से प्रसन्न होकर सभाकारो को इनाम देने की इच्छा प्रकट की। दुर्योधन तो गुप्त रूप से वहाँ था ही प्रकट हो गया। वह सव प्रवन्ध उसका किया हुआ जानकर शल्य ने प्रसन्न होकर कहा—"जो इच्छा हो

माँग लो।" दुर्योधन ने बात पकडकर कहा—"मै यही चाहता हूँ कि आप सत्यवाक् हो और मेरी सेना के सेनापति हो।" शल्य ने उसे स्वीकार किया और तब वे उपप्लव नगर मे पाण्डवो के स्कन्धागार (छावनी) मे पहुँचे और उनसे मिले। शल्य ने वनवास दु ख से उबरे हुए पाण्डवो के साथ सच्ची सहानुभूति प्रकट करके दुर्योधन के साथ वचन हारने की बात भी कह दी। युधिष्ठिर ने स्वाभाविक धीरता से कहा—"आपने अन्तरात्मा के अनुकूल ठीक ही किया पर मै चाहता हूँ कि कर्ण और अर्जुन के द्वैरथ सग्राम मे आप जब उसके सारथी बनें तो अर्जुन का भी ध्यान रक्खे। चाहे सारथी रूप मे आपके लिए ऐसा करना अनुचित भी हो, फिर भी हे मामा, कर्ण के तेज की हानि आप अवश्य करें।" शल्य ने सभवत पाण्डवो के दुख से द्रवित होकर इसे भी स्वीकार कर लिया।

इन्द्र-वृत्र आख्यान

इस अवसर पर शल्य ने युधिष्ठिर को दिलासा देने के लिए सपत्नीक इन्द्र के भी दुख सहने का एक आख्यान सुनाया। यह निश्चय ही इन्द्र-वृत्र प्राचीन वैदिक आख्यान था जिसे यहाँ भागवत धर्म का उथला पुट देकर किसी उवृहण कर्त्ता व्यास ने चलते हुए कथा-प्रवाह को रोककर बे-अवसर भी कह दिया है। अच्छा होता यदि आरण्यक पर्व की कथाओ की मूसलाधार वृष्टि मे इसे भी समेट लिया गया होता। आठवे अध्याय के सत्ताइसवे श्लोक के भाव को शब्दश अट्ठारहवे अध्याय के तेइसवें श्लोक मे (भवान् कर्णस्य सारथ्य करिष्यति न सशय। तत्र तेजो वध. कार्य कर्णस्य मम सस्तवै।) दोहराते हुए कथाकार ने टूटे हुए तार को फिर से जोडा है, फिर भी यह आख्यान महत्त्वपूर्ण होने से झाँकी लेने के योग्य है। अनेक पुराणो मे भी कुछ-कुछ भेद से इसके कितने ही रूप सन्निविष्ट हो गए हैं।

त्वष्टा प्रजापति का त्रिशिरा नामक पुत्र हुआ। वह एक सिर से वेदो का अध्ययन करता और सोम पीता, दूसरे से दिशाओ का पान करता और तीसरे से सुरा का पान करता था। अतएव उसकी सज्ञा विश्वरूप हुई।

उसने इन्द्र पद की इच्छा की। इन्द्र ने उसके तप मे विघ्न डालने के लिए अप्सराओ को भेजा, पर कुछ फल न हुआ। क्रोध करके इन्द्र ने वज्र का प्रहार किया जिससे वह आहत होकर गिर गया, पर उसके दीप्त तेज के कारण इन्द्र को शान्ति न मिली और वह तेज जीवित-सा ही दिखाई पडा। तब इन्द्र ने एक तक्षा को देखा। देखकर कहा कि तुम इसके सिरो को अपने फरसो से काट डालो। इसके लिए तुम्हें यज्ञ में आहुत पशुओ के शिरोभाग प्राप्त होगे। तक्षा ने वैसा ही किया। इन्द्र प्रसन्न हुए पर प्रजापति त्वष्टा ने क्रोध में भरकर इन्द्र-वध के लिए वृत्र को उत्पन्न किया। 'इन्द्र शत्रु विवर्धस्व' कहकर उन्होने अग्नि में आहुति दी जिससे वृत्र ने जन्म लिया। वृत्र और इन्द्र का महाघोर सग्राम होने लगा। वृत्र ने सबको घेरकर इन्द्र को ग्रस लिया। देवो ने ऐसी युक्ति की कि वृत्र को जम्भाई आ गई और इन्द्र तत्काल उसके मुख से बाहर आ गए पर वृत्र के आगे इन्द्र न ठहर सके। यहाँ तक तो कथा ठीक चली है। इसके आगे कथा को पहला भागवती पुट यो दिया गया—देव-मुनि और इन्द्र ने भयभीत होकर विष्णु के यहाँ गुहार की और उपाय पूछा। विष्णु ने कहा—"जाकर विश्वरूप से मेल करो। मेरे तेज से ही इन्द्र पार पा सकेगा। मैं उसके वज्र में प्रविष्ट हो जाऊँगा।" ऋषियो ने वृत्र से कहा—"तुम भूरिविक्रम इन्द्र को जीत नही सकते। क्यो झगडते हो सधि कर लो।" वृत्र ने कहा—"हम दोनो तेजस्वी हैं, सधि कैसे हो सकती है ?" ऋषियो ने फिर उसे चाँपा तो उसने कह दिया—"न सूखे से न गीले से, न पत्थर से न लकडी से, न शस्त्र से न वज्र से, न दिन में न रात मे, यदि मुझे इन्द्र वध्य समझें—और किसी उपाय से नही—तो मैं सधि कर लूगा।" ऋषियो ने चट बात मान ली। इन्द्र वृत्र को टीपने की टोह में रहने लगा। कभी समुद्र तट पर उसने उसे सध्या काल में देखा। इन्द्र ने सोचा—"यह रुद्र की सध्या है, न सूर्य का दिन और न चन्द्रमा की रात है। बस उसने समुद्र के फेन से वृत्र पर प्रहार किया और विष्णु के तेज ने फेन में घुसकर वृत्र को पीस डाला।

इन्द्र और वृत्र का अर्थ

कथा का इतना अश वैदिक धरातल को बहुत कुछ साधे हुए है। मूलत यह तम और प्रकाश के द्वन्द की कल्पना है, अर्थात् जल और तेज का द्वन्द ही सृष्टि का मूल द्वन्द है। यही शीत और ऊष्ण भाव का सघर्प विश्व के मूल स्पन्दन का हेतु है। आप्य प्राण को असुर और तैजस प्राण को देव कहा जाता है। हमारे इस रोदसी ब्रह्माण्ड मे जो अमृतात्मा तैजस तत्त्व है वही इन्द्र है। देवो के अधिपति इन्द्र है और असुरो के वरुण। वरुण रात्रि, तम, आवरण और सकोचन के प्रतिनिधि है। इन्द्र दिन, ज्योति, भेदन और प्रसारण के प्रतिनिधि हैं। रात्रि तमोलक्षण वह आवरण है जिससे ज्योतिर्मय प्राण आवृत हो जाता है। इस आवरण धर्म या आपोमय वारुण प्राण को वृत्र कहा गया है। वृत्र का निर्वचन ब्राह्मण ग्रन्थो के अनुसार यह है 'सर्व वृत्वा शिश्ये' अर्थात् सबको ढककर या अपने तमोमय रूप से सबका आवरण करके वह सो गया। आपोमय वारुण प्राण से आग्नेय ऐन्द्र प्राण का अभिभूत हो जाना ही उस प्राण की सुप्तावस्था है। व्याप्ति धर्मा कोई जलीय तत्त्व पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ नामक सौर मडल की त्रिलोकी का सवरण करके उस पर अपना प्रभाव जमाना चाहता है या जमाने के लिए सघर्ष कर रहा है। इसी आप्य प्राण को ऋषियो ने वृत्र कहा है। इस आप्य प्राण रूप वृत्रासुर ने सारे सौर मडल को घेर रक्खा है, परन्तु उसके आक्रमण होने पर भी सूर्य का इन्द्र प्राण जिसे मघवान् इन्द्र भी कहते है विजयी बन रहा है। सौर इन्द्र पारमेष्ठ्य सोम की आहुति से प्रबल बनकर अपने रश्मि रूप वज्र से उस वृत्र का सहार किया करता है अर्थात् सौर रश्मियाँ अपने तेजोबल से उस वृत्र रूपी आप्य प्राण को हटाती रहती है।

वैदिक सृष्टि प्रक्रिया के अनुसार स्वयभू, परमेष्ठी सूर्य, चन्द्र, पृथिवी कुल पाँच प्रकार के पिंड है। स्वयभू अव्यक्त है। उसके बाद परमेष्ठी वह महान् है जिसमे आप् तत्त्व भरा हुआ है। उसी वारुण आप् तत्त्व से जब आग्नेय तेज का सघर्ष होता है तब सूर्यात्मा इन्द्र प्रबल होकर पानी के गर्भ

से रोदसी त्रिलोकी का निर्माण करता है । पानी से तात्पर्य स्थूल जल नही किन्तु पचभूतो की वह प्राथमिक अवस्था है जिसमें वे सर्वत्र व्याप्त रहते हैं। इसी आप्ति धर्म के कारण उन्हें आप (यदाप्नोत् तस्माद् आप) कहा गया। उस अवस्था को ऋत भी कहते हैं। सर्व व्याप्त होने के कारण जिसका केन्द्र न हो वही ऋत है। ऋत के गर्भ से केन्द्रयुक्त सत्य का जन्म होता है। स्वत प्रकाश सूर्य ही विश्व का वह सत्यात्मक केन्द्र है। जिसकी रश्मियो के उच्छिष्ट भाग से या प्रवर्ग्य से विश्वभूतो की सृष्टि हो रही है।

त्रिशिरा विश्वरूप का अर्थ

परमेष्ठी ही त्वष्टा प्रजापति है। उसका त्रिशिरा नामक पुत्र विश्वरूप है। जिसमे सब रूपो की समष्टि हो वही विश्वरूप है। प्रजापति और उसका पुत्र दोनो अभिन्न हैं। परमेष्ठी के व्याप्तिमत् स्वरूप में या पचभूतो की प्रथम अव्यक्त अवस्था मे जिसे विज्ञान की भाषा में प्रोटो-मैटर कहेंगे, पृथक्-पृथक् रूप अन्तर्लीन रहते है। इन्द्र या मघवा प्राण ही उनका लक्षण करके उन रूपो को अलग-अलग अवस्था में लाता है। कहा है—रूप रूप मघवा वोभवीति माया कृण्वानस्तन्वम्परि स्वाम् (ऋग्वेद ३।५३।८)। सौर इन्द्र सकेन्द्र तत्त्व है। जिसमें सीमा भाव हो वही माया तत्त्व है। इन्द्र अपने माया वल को अनन्त केन्द्रो के चारो ओर प्रवर्तित और सचित करता हुआ नाना रूपो की सृष्टि कर रहा है। प्रत्येक पिड या रूप मे एक इन्द्रवल या मायावल सीमित वना है। विश्व का सवसे वडा वल माया वल है। त्वष्टा के पुत्र को त्रिशिरा कहा गया है। विश्वरूप होते हुए भी त्रिशिरा के केवल तीन सिर थे। सिर यहाँ रूप तत्त्व का प्रतीक है। विश्व में सव रूपो की तीन ही कोटियाँ है। इन्हे वैदिक भाषा में लोक-साहस्री वेद-साहस्री और वाक्-साहस्री कहते हैं। वेद-साहस्री का तात्पर्य मनोमय रूप, लोक-साहस्री का तात्पर्य प्राणमय या लोकमय रूप (आयतन मात्र) एव वाक्-साहस्री का तात्पर्य अर्थमय या भूतमय रूप है। यही त्रिशिरा के क्रमश तीन सिर हैं। पहले सिर से वह वेद का अध्ययन करता था, दूसरे

से दिशाओ का पान करता था (अर्थात् सब लोको का उसमे अन्तर्भाव था)) और तीसरे सिर से वह वाक् सृष्टि या भूत सृष्टि के प्रतीक रूप सुरा का पान करता था। सुरा वैदिक भाषा मे क्षत्र या भूत का प्रतीक है। सुरा का उलटा सोम है, वह ब्रह्म या वेद है। इसीलिए आख्यान मे कहा है कि जिस सिर से वह सोम पान करता था उसी से वेद पाठ भी करता था।

इन्द्र के वज्र-प्रहार अर्थात् माया बल से त्रिशिरा का शिरश्छेद हो गया जिन विश्वरूपो को उसने अपने तीन सिरो मे छिपा रखा था उनका मोक्ष या प्रसारण इन्द्र द्वारा होता है। इस कार्य मे इन्द्र तक्षण धर्म का आश्रय लेता है। उसे ही कथा मे तक्षा का परशु (वढई का फरसा) कहा गया है। इस तक्षा को क्या प्राप्त होता है ? यज्ञ मे आहुत पशु का शीर्ष भाग। छिन्न सिर को ही वैदिक भाषा मे प्रवर्ग्य कहा जाता है। पशु नाम भूत का है। जितनी भूत सृष्टि है सब प्रवर्ग्य से सभव है। प्रत्येक भूत किसी मूल केन्द्र का छिन्न भाग या प्रवर्ग्य है। मूल स्रोत से छिन्न-शीर्ष होना या कटकर अलग हो जाना भूतयज्ञ या भृतनिर्माण के लिए आवश्यक है। उदाहरण के लिए सूर्य शक्ति का स्रोत या केन्द्र है। केन्द्र को ही उक्थ कहते हैं। जहाँ से उत्थान होता है वही उक्थ है। सूर्य-केन्द्र से चारो ओर फैलने वाले सहस्र-सहस्र रश्मि जाल का उक्थ सूर्य है। रश्मियो की यह शक्ति जव तक सूर्य से मिली रहती है तब तक उसे सूर्य का ब्रह्मौदन कहते हैं। वही ताप और प्रकाश की शक्ति रश्मियो द्वारा बिखर कर जव आकाश मे फैल जाती है तव वह सूर्य का छोडा हुआ भाग प्रवर्ग्य कहलाता है। प्रवर्ग्य को ही यज्ञ की भापा मे छिन्न-शीर्ण भाग कहते हैं। शक्ति का कोई भी केन्द्र अपना ब्रह्मौदन नही दे सकता। उसे स्वरूप-सरक्षण के लिए रखना पडता है। उस ब्रह्मौदन का कुछ अश ही हम अपने से अलग करके दूसरे को दे पाते हैं। उसी को अपने स्वरूप का छिन्न भाग या कटा हुआ अश कहते हैं।

जो यज्ञ निर्माणकी प्रक्रिया के भीतर आया हुआ है वही यज्ञ का पशु है। उसके ब्रह्मौदन का प्रवृक्त या छिन्न भाग औरो को प्राप्त होता है। इस दृष्टि से विश्व मे सूर्य भी यज्ञीय पशु है। उसे ही मेध्य अश्व कहा

है और उषा उस मेध्य अश्व से पृथक् हुआ मस्तक या उसका प्रवर्ग्य भाग है (उषा वै अश्वस्य मेध्यस्य शिर —बृहदारण्यक, १।१।१)। महाकाल रूपी अश्व हमारे लिए अनिवार्य रूप से सगमनीय या सग्राह्य है। उसी का एक प्रच्छिन्न टुकडा या सूक्ष्म अश उषा है।

तक्षा ने जब त्रिशिरा के तीन सिरो का तक्षण कर दिया तब उन तीन सिरो से कथा के अनुसार कपिंजल, तित्तिर और कर्लविक ये तीन प्रकार के पक्षी उडकर चारो ओर फैल गए। यहाँ भी वैदिक कल्पना को पुराण के शब्दो मे ढाला गया है। विश्वरूप के सिरो के तक्षण से पक्षियो का नीचे ऊपर दिशा-विदिशाओ में फैलना एक सुन्दर अभिप्राय है। पक्षी को सुपर्ण कहते है और रूपधारी प्रत्येक पिण्ड या पदार्थ वैदिक भाषा में सुपर्ण कहा जाता है। जिसके निर्माण की व्याख्या के लिए वैध यज्ञ में सुपर्ण-चिति की जाती है। स्वज्योति, परज्योति और रूपज्योति तीन ही प्रकार के पिण्ड है जिन्हें क्रमश· सूर्य, चन्द्र और पृथिवी भी कहते हैं। यहाँ प्रतीक भाषा में कपिंजल नाम से (जो ऊँचे वृक्षो पर घोसला रखता है) वेद या मनोमय सुपर्ण, तित्तिर प्रतीक से (जो चारो ओर झाडियो में घोसला रखता है) प्राण या लोकमय सुपर्ण, और कर्लविक या गौरैया पक्षी के प्रतीक से (जो घरो में घोसला बनाता है) भौतिक सुपर्ण या पिण्डो का ग्रहण किया गया है। सुपर्ण को ही सप्तपुरुष पुरुषात्मक प्रजापति कहा गया है और सूर्य, चन्द्रमा इत्यादि महापिंडो को भी वैदिक भाषा में सुपर्ण ही कहा है। ये सब त्वष्टा प्रजापति के रूप-तक्षण के प्रकट परिणाम है। त्वष्टा रूपाणि पिंशतु अथवा त्वष्टा हि रूपाणा विकरोति इत्यादि कितने ही वाक्यो में वैकारिक, भौतिक या व्यक्त रूपो का निर्माण करके वाले को त्वष्टा कहा गया है।

त्रिशिरा और वृत्र दोनो प्रजापति के पुत्र है। दोनो आसुर आप्य प्राण के ही प्रतीक है। त्रिशिरा या विश्वरूप उसकी पूर्वावस्था है और वही जब रूप-तक्षण के लिए उद्यत वज्रधारी इन्द्र से सघर्ष करने लगता है तब उसे वृत्र कहा गया है। वृत्र और इन्द्र के महाघोर सघर्ष को उपाख्यान की भाषा में ढालते हुए कहा है कि वृत्र ने इन्द्र को अपना ग्रास बना

लिया और पुन देवशक्ति की महिमा से इन्द्र वृत्र के उदर से बाहर आया। जो वृत्र सबका आवरण करके सोया हुआ था उसने जम्भाई ली, इसका तात्पर्य यही है कि उसमे अग्नि का जागरण हुआ या गतितत्त्व या प्राणतत्त्व उद्‌बुद्ध हुआ। आग्नेय तत्त्व का उद्‌बोधन ही इन्द्र की विजय है। जृम्भिका या जम्भाई प्राणो की हलचल या जागरण का प्रतीक है। जृम्भण के साथ ही तत्काल इन्द्र वृत्र के ग्रास से मुक्त हुआ और इन्द्र की मुक्ति से देव महीयान् और प्रसन्न हुए।

अग्नि और जल का सघर्ष ही सृष्टि है

अग्नि और जल का यह सघर्ष सृष्टि-प्रक्रिया का मूल रहस्य है। चारो ओर छाए हुए जल को अपनी शक्ति से सोम रूप मे परिणत करके अग्नि उसे अपना भक्ष्य या अन्न बनाता है और उसी से बढता है। शुद्ध जो जलरूप अवस्था है वह उस जलात्मक दूध के समान है जिसकी आहुति से अग्नि बुझ जाती है, किन्तु अग्नि सयोग से जब उसी दुग्ध मे से घृत उत्पन्न होता है तब वह घृत रूपी सोम अग्नि का सवर्धन करता है। घर्षण, मन्थन, तापन का ही नाम अग्नि है। विराट् और अणु दोनो मे समान प्रक्रिया हो रही है। इन्द्र सोम चाहता है। सूर्यरूपी इन्द्र का निर्माण भी महती नीहारिकाओ के घर्षण-मन्थन पर ही निर्भर है। यही उस महान् समुद्र का मन्थन है जिसका पौराणिक कथाओ में रूपक बाधा गया है। जबतक आवरण करने वाले वृत्र का विनाश न हो तबतक इन्द्र प्राण की विजय सभव नही। वृत्र या आवरणात्मक आप् तत्त्व को ही वैदिक भाषा मे वरुण भी कहा जाता है। आप्य वारुण प्राण आसुरी है। इन्द्र प्राण दैवी है। इसका तात्पर्य यही कि वरुण शीत और इन्द्र उष्ण है; वरुण ऋत रूप है, इन्द्र या सूर्य सत्य रूप है। सर्वत्र व्याप्ति-धर्मा आप् तत्त्व का कोई ध्रुव केन्द्र न था। उसी मे मन्थन प्रक्रिया से जब ताप जन्य परमाणुओ का समूहन हुआ तभी केन्द्र का आविर्भाव हुआ। केन्द्रात्मक सस्थान ही सत्य कहा जाता है। वही सूर्य है। महान् पारमेष्ठ्य समुद्र मे शक्ति के विराट मन्थन से सूर्यसदृश अनेक पिण्ड

उत्पन्न हुए। हमारा सूर्य उनका प्रतीक है। आवरणधर्मा शीतप्रधान आप्य आसुरी तमोभाव रूपी वृत्र को हटाकर प्रकाशक ज्योतिरूप इन्द्र प्राण की अन्तिम विजय या महिमा का साक्षी यह सूर्य है।

न केवल विराट सृष्टि में किन्तु प्रत्येक सूक्ष्म सृष्टि मे भी जहाँ रेतोधान होता है वृत्र और इन्द्र का यही नियम काम करता है। महान् आप् तत्त्व-योनि है। उसमें शुक्र का आधान किया जाता है। 'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' (गीता), यही सृष्टि का नियम है। माता का आर्तव पारमेष्ठ्य आप्य तत्त्व के समान है, वह तमोमय है। अभी उसमे कोई रूप प्रकट नही। उसमे जब शुक्राधान होता है तब एक केन्द्र बन जाता है। उस केन्द्र में आग्नेय तत्त्व का एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अश प्रविष्ट है। वही अग्नि या इन्द्र प्राण है। उस गर्भित भ्रूण में विश्व रूपो की समष्टि अन्तर्लीन रहती है। उसी में रूपो का तक्षण करने वाला वह मूल प्राण भी है जो मन, प्राण, वाक् या ज्ञान, क्रिया, अर्थ के समस्त त्रिविध रूपो को क्रमश अभिव्यक्त करता है। वे ही विश्व रूप त्रिशिरा के तीन सिर है। उनका जो तेज ढका हुआ था उस आवरण या वृत्र को हटा कर ही इन्द्र या आग्नेय प्राण उसी गर्भित भ्रूण मे सब रूपो को क्रम क्रम से प्रकट करता है। यही त्वष्टा रूपाणि पिशति प्रक्रिया है। मातृकुक्षि मे जो अन्न से बनने वाले रस है उन सबके के भीतर से पोषण तत्त्व लेता हुआ भ्रूण अपना विकास करता है। वह पोषणात्मक रस तत्त्व ही सोम है। रस की जो मात्रा भ्रूण स्थित उस आग्नेय केन्द्र को प्राप्त होती है वही उस इन्द्र का सोम भाग है। इन्द्र ने स्वय अपनी व्याख्या करते हुए कहा है—प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा, मै वह प्रज्ञा या चित् तत्त्व हूँ जो प्राण सयुत है। वृक्ष-वनस्पतियो का रस ही उनका प्राण है। कीट, पतग, मनुष्य, पशु पक्षी आदि में रस भी है और चित् और मनस् तत्त्व भी विशेष रूप से उद्बुद्ध है। इसी मध्य प्राण की सज्ञा इन्द्र है जो सबके भीतर दहक रहा है। इन्द्र ही इन्द्रियो के रूप में अपनी सत्ता प्रमाणित और प्रकाशित कर रहा है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि प्राण-रूप मे दहकने के कारण ही उसे इन्ध कहते है और इन्ध ही इन्द्र है। सृष्टि

का मूल विराट्भाव या अणुभावो मे कोई है तो एकमात्र प्राण या गति तत्त्व ही है। प्राणो वै समञ्चन-प्रसारणम् (शतपथ ८।४।१।४।१०)—यही प्राण या गति तत्त्व की सबसे बडी वैज्ञानिक परिभाषा है। यही अग्नि है। यही रुद्र है, जैसा स्पष्ट शब्दो मे कहा है—

> एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
> इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ (मनु)

सृष्टि कही भी हो एक यज्ञ है। अग्नि मे सोम की आहुति के बिना कोई सृष्टि सभव नही। केन्द्रस्थ अग्नि स्पन्दन द्वारा जिस पोषण तत्त्व का आकर्षण करता है वही उसका सोम है। यही दहकने वाला इन्द्र प्राण यज्ञ का सबसे बडा देवता है (इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता)। सोम ही उसका प्रिय पेय है। यही सृष्टि में इन्द्र की महतो महीयसी महिमा है। इसको नाना प्रकार से और अनेक रूपको या उपाख्यानो द्वारा उपबृंहित किया गया है किन्तु तथ्य इतना ही है कि हमारी इस रोदसी त्रिलोकी मे इन्द्र ही केन्द्रस्थ तत्त्व है और गति या स्पन्दन ही उसका स्वरूप है। जैसे-जैसे इन्द्र वृत्र पर विजयी होता है वैसे वैसे ही यज्ञ या रूप निर्माण की प्रक्रिया बढती है। वृक्ष वनस्पति और प्राणधारियो मे इसे हम प्रत्यक्ष देख रहे है। सृष्टि के मूल मे कोई महती ऊष्मा है जिसका तार सब भूतो मे पिरोया हुआ है। ऊष्मा से ही ऊष्मा का जन्म सभव है, वह ऊष्मा ही अग्नि है—'ऊष्मा चैवोष्मणः जातो सोऽग्निर्भूतेषु लक्ष्यते। अग्निश्चापि मनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत्' (आरण्यक पर्व २११।४)। जो सबसे पहले या प्रारम्भ मे हुआ उस अग्रणी ऊष्मा की ही सज्ञा अग्नि है। वही तो भूतो के भीतर बैठा हुआ है। भूतो को रचने वाली वही आग्नेय या इन्द्र प्राणात्मिका शक्ति इस सृष्टि में सबसे महत्त्वपूर्ण और रहस्यमयी है। उसे ही मनुतत्त्व या प्रजापति भी कहा जाता है। ऋग्वेदी उसे सब मूर्तियो का अधिष्ठाता केन्द्र या महदुक्थ कहते है। सामवेदी तेज मण्डलो की ओर दृष्टि करते हुए उसे ही सबसे महान् तेजोमण्डल या महाव्रत साम कहते है। इन्द्र के स्वरूप की व्याख्या

और उसकी साक्षात् अनुभूति समस्त ऋग्वेद का सार है। इन्द्र-वृत्र का उपाख्यान ही सब वैदिक उपाख्यानो में सिरमौर है।

इन्द्र की ब्रह्महत्या का अर्थ

उद्योगपर्व में इन्द्र-वृत्र की कथा के वैदिक स्वरूप के निर्वाह के साथ आगे के अश में कुछ उस युग का पाचरात्रिक पुट दिया गया है जब अव्ययात्मा महाविष्णु को देवाधिदेव माना जाने लगा था। इसके अनुसार वृत्र का बल ऐसा बढा कि इन्द्र उससे हारने लगा और उसने विष्णु से यह बात कही— मै पहले समर्थ था, अब असमर्थ हो गया हूँ" (समर्थो ह्यभव पूर्वमसमर्थो हि साम्प्रतम्, उद्योग० १०।२)। विष्णु ने कहा—"हे देवो, मै इन्द्र के वज्र में प्रविष्ट होकर उसे वृत्र-वध की शक्ति प्रदान करूँगा।" कथा में जो यह कहा है कि इन्द्र ने समुद्र के फेन से वृत्र का नाश किया, इतना अश भी वैदिक वर्णन के अनुकूल था। वैदिक विज्ञान में अम्भोवाद नामक एक दृष्टिकोण था, नासदीय सूक्त में जिसका उल्लेख आया है। इसके अनुसार आप् या जल या वायु के सघर्ष से विकास की परम्परा बताते हुए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि सबसे पहली उत्पत्ति फेन की हुई। तब क्रमश मृत्, ऊष (क्षार पदार्थ), सिकता (बालू), शर्करा, (ककड) अश्मा, अयस् और हिरण्य इन आठ प्रकार के पदार्थों का निर्माण हुआ जिनमें कोमल फेन से लेकर कडे से कडे रत्नादिक सब आ जाते है। जिस समय आपोमय समुद्र मे फेन बनने लगा उसी समय मानो वृत्र का आवरण हट गया या वृत्र का नाश हो गया। उस समय रौद्र वायु के स्थान में शिव वायु बहने लगी अर्थात् जल के मन्थन से सोम उत्पन्न होकर आग्नेय तत्त्व का सवर्धन करने लगा।

पारमेष्ठ्य तत्त्व को महान् या महत् ब्रह्म कहा जाता है। इसीलिए पारमेष्ठ्य जलो पर जब तापधर्मा इन्द्र या अग्नि को विजय मिली तो कथा के ढग से कहा गया कि इन्द्र को ब्रह्महत्या का अपराध लगा। उस कहानी को बढाते हुए कहा गया है कि इन्द्र छिप गया और उसके स्थान में नहुष को

देवो ने इन्द्र वनाया। इन्द्राणी के लिए कामुक होने के कारण नहुप को अपदस्थ होना पडा। यहाँ कहानी को फिर वैष्णव मोड़ दिया गया है। जव इन्द्र का पता न चला तव देवता विष्णु के पास गए। विष्णु ने कहा—"मेरा भजन करो। मैं ब्रह्महत्या के दोष से इन्द्र को मुक्त करूँगा। पवित्र अश्वमेघ यज्ञ से इन्द्र फिर देवराज पदवी पाएगा।" देवो ने ऐसा ही किया। इन्द्राणी द्वारा इन्द्र की अलग खोज हो रही थी, उसने किसी उपश्रुति नामक देवी का आवाहन किया। इसका उल्लेख ऋग्वेद (८।८।५) और अथर्ववेद (१६।२।५) तथा ब्राह्मण ग्रन्थो मे भी आया है। यह यूनानी ओरेकिल के ढग की कोई प्रश्न वूझने वाली देवी थी। कहा गया है कि इन्द्र अणु मात्र शरीर से कमल नाल के भीतर छिपे थे। वस्तुत यह वैदिक पुष्करपर्ण का ही प्रतीक है। अग्नि द्वारा जलो के मन्थन से सर्वप्रथम एक केन्द्र उत्पन्न हुआ जिसके आश्रय से गतितत्त्व का स्पन्दन आरम्भ हुआ और केन्द्र को परिधि या सीमा भाव के अन्दर आना पडा। इसी सीमाभाव को वैदिक भापा मे पुर कहा जाता है। पुर समूह के निर्माता तत्त्व को ही पुष्कर कहते हैं। पुष्कर जल की भी सज्ञा है। उस पुष्कर के एक देश मे ऊपर तैरता हुआ प्राण का आधार ही पुष्करपर्ण कहा गया है। वस्तुत सवसे अन्त मे कथाकार की दृष्टि उसी अग्नि तत्त्व की ओर जाती है जिसकी व्याख्या ऊपर की गई है। इसके विपय मे कहा हे कि जो इन्द्र है वही अग्नि है। अतएव महायज्ञो मे इन्द्र और अग्नि दोनो को एक ही ऐन्द्राग्न्य आहुति दी जाती है। अद्भ्य अग्नि (उद्योग १५।३२)—जलो से आग्नेय तत्त्व का प्रादुर्भाव यही सृष्टि का मूल सूत्र है जिसे वेदो में अनेक प्रकार से कहा गया है। यहाँ भी अग्नि की सुन्दर प्रशस्ति दी गई है—'हे अग्नि, तुम देवो के मुख हो। तुम सवके भीतर गूढ रहते हुए साक्षी हो। मत्रद्रष्टा कवि तुम्हें एक कहते हैं (एकैवाग्निर्वहुधा समिद्ध. । ऋक् ८।५८।२)। तुम्ही सृष्टि के लिए त्रिविध हो जाने हो। तुम इस जगत् को छोड दो तो इसका स्वरूप नही रह सकता। तुम्ही हव्यवाह और हव्य हो। तुम्ही अन्नाद और अन्न हो। वड़े वडे सत्र, सोमयज्ञ और यज्ञो मे तुम्हारा ही यजन होता है। तुम्ही

भुवनो के जन्मदाता और तुम्ही उनकी प्रतिष्ठा हो। तुम्ही तीन लोको को उत्पन्न कर समय आने पर अपने ताप से उन्हें भून डालते हो। मेघ और विद्युत् तुम्हारे रूप है। सवत्सर तुमसे ही जन्म लेता है। सोम के धरातल पर तुम्हारी प्रतिष्ठा ही ऋतुएँ या सवत्सर है। शीत के धरातल पर तुम्हारा क्रम क्रम से वसना या सचय ही वसत है। उसी प्रकार शेष ऋतुएँ तुम्हारे ताप क्रम से ही निष्पन्न होती है। हे अग्नि, तुम अपने तेज से जलो में प्रविष्ट हो और यदि इनमें कही इन्द्र छिपा है तो उसे ढूढ लाओ।' अग्नि ने ऐसा ही किया और पद्मनाल या बिसतन्तु या पुष्करपर्ण के मध्य मे अणु रूप से प्रविष्ट इन्द्र प्राण को ढूढ लिया।

इन्द्र-वृत्र का यह महान् उपाख्यान शल्य के मुख में रखकर कथाकार ने उसे वडाई ही दी है। वैसे तो शल्य बिल्कुल पोगा था। महाभारत के पात्रो में ऐसा निर्बुद्धि शायद ही कोई हो। रास्ते में बनाए हुए ठहरने के मडपो को देखकर वह शिल्पियो को इनाम देना चाहता था किन्तु विना सोचे विचारे दुर्योधन को ही अपनी सहायता का वचन दे बैठा और स्वय ही अपनी यह लीला कहने के लिए पाण्डवो के पास पहुँच गया। युधिष्ठिर भी शल्य के चरित्र की नस पहचानते थे। इसलिए उनसे कर्ण की तेजोहानि रूपी अनुचित काम करने की प्रार्थना का साहस युधिष्ठिर ने किया—"हे मामा, करने योग्य तो नही है फिर भी हमारे लिए इतना तो कर ही देना—

तेजोवधश्च ते कार्यं सौतेरस्मज्जयावह.।
अकर्त्तव्यमपि ह्येतत् कर्त्तुमर्हसि मातुल ॥ (उद्योग ८२७)

पाण्डवो और कौरवो के सहायक

इधर कौरव-पाण्डवो का तनाव बढ रहा था। उधर उसकी सूचना उनके हित-मित्रो को मिल रही थी और वे अपने-अपने पक्ष की सहायता के लिए आने लगे। सात्वतवीर महारथी युयुधान एक अक्षौहिणी सेना के साथ युधिष्ठिर की ओर आया। चेदि का राजा शिशुपाल-पुत्र धृष्टकेतु, मगधराज जरासधपुत्र जयत्सेन एक एक अक्षौहिणी सेना लेकर आए। इसके अतिरिक्त

सागर तटवासी पाण्ड्य देश का राजा भी अपनी सेना लाया। द्रुपद की सेना, विराट की सेना एव पहाडी राजाओ की सेना सब मिलाकर पाण्डवो की ओर सात अक्षौहिणी एकत्र हुई। कामरूप का राजा भगदत्त अपने चीनी और किरात सैनिको के साथ, भूरिश्रवा, शल्य, कृतवर्मा एक एक अक्षौहिणी सेना के साथ दुर्योधन की ओर आ मिले। जयद्रथ सिंधु-सौवीर के राजाओ के साथ एक अक्षौहिणी सेना लाया। कम्बोज (मध्य एशिया का पामीर प्रदेश) के सुदक्षिण नामक राजा की एक अक्षौहिणी सेना मे शक-यवन योद्धा थे। माहिष्मती का नील अपने दक्षिणापथवासी वीरो की एव अवन्तिराज भी एक एक अक्षौहिणी सेना लेकर दुर्योधन की ओर आ मिले। केकय देश के राजा पाँच भाई थे। वे भी एक अक्षौहिणी बल के साथ आए। इधर उधर की तीन अक्षौहणी सेना और एकत्र हुई। सब मिलकर दुर्योधन के पक्ष मे ग्यारह अक्षौहिणी सेना जुडी। हस्तिनापुर मे उन सबके लिए स्थान न था। अतएव पचनद, कुरुजाङ्गल, रोहितक, वाटधान, यमुना का उपरला प्रदेश, पहाड मे कालकूट जनपद और गगाकूल तक सेना के पडाव के लिए छावनियो का ताता फैल गया।

द्रुपद के पुरोहित का दूत-रूप मे हस्तिनापुर आना

द्रुपद के पुरोहित ने यह सब तैयारी देखी। धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर ने उसकी आवभगत की। तब उसने सब सेनापतियो के समक्ष धृतराष्ट्र, से निवेदन किया—"आप सब लोग सनातन धर्म को जानते है, फिर भी मै बात आरभ करने के लिए कुछ कहूँगा। धृतराष्ट्र और पाण्डु एक ही पिता के पुत्र है। उनका पैतृक अधिकार है। धृतराष्ट्र को उनका पैतृक धन मिल गया तो पाण्डुपुत्रो को क्यो नही? आप जानते है पाण्डवो ने प्राणान्त कष्ट सहकर भी प्रयत्न किया। उनकी आयु शेप थी इसीलिए वे मरे नही। उन्होने पुन अपना राज्य वढा लिया। वह भी कौरवो ने ले लिया। पाण्डवो ने तेरह वर्प क्लेश से वन में काटे। उन वातो को भुलाकर वे शान्ति से आधा भाग चाहते है। यह सब जानकर मित्रपक्ष के लोग कृपया धृतराष्ट्र

को समझाये। पाण्डव विग्रह नही चाहते। लोक के अविनाश से अपना भाग चाहते है। यथाधर्म आप प्रदान करें और इस समय चूकें नही। और यदि दुर्योधन युद्ध ही चाहे तो भी पाण्डव तगडे ही पडेंगे।" प्रज्ञाशील भीष्म ने समझ लिया कि यह कुशल दूत नही, पोगा पडित है। उन्होंने कहा—"पाण्डव कुशल से हैं और सधि चाहते हैं यह जानकर प्रसन्नता हुई। पर मैं समझता हूँ आपने ब्राह्मण होने के नाते बहुत तीखी बात कही।" भीष्म की बात बीच में ही काटकर कर्ण ने कहा—"कौन है जो यह सब गई बीती नही जानता ? उसके बार-बार दोहराने से क्या लाभ ? युधिष्ठिर जो शर्त करके वन में गए थे उसके अनुसार मालूम होता है कि वे राज नही चाहते। विराट और पाचाल की सेना को धमकाना चाहते हैं। सो हे पडितजी, चाहे धर्म से दुर्योधन सारी भूमि दे दे भय से पैर भर भी न देगा। पाण्डव धर्म से राज्य चाहे तो प्रतिज्ञा के अनुसार तेरह वर्ष वन में रहे तब निर्भय होकर दुर्योधन की शरण में आवें। मूर्खो की बुद्धि न करें।" भीष्म ने कर्ण के कथन को भी अच्छा नही समझा—"हे कर्ण, इस ब्राह्मण ने जैसा कहा है यदि वैसा न किया गया तो हम सब युद्ध में धूल चाटेंगे।" धृतराष्ट्र ने कर्ण को कुछ डपटा और बात को ठडा करने के लिए कहा—"भीष्म ने सबके हित की बात कही है। मैं भी सोच कर सजय को पाण्डवो के पास भेजूगा। आप लौट जाए।"

: ४४ :

संजययान

(अ० २०—३२)

तब धृतराष्ट्र ने सजय से कहा—"हे सजय, सुनते है पाण्डव उपप्लव में आ गए हैं। उन्हें सम्मान के साथ स्वस्ति कहना और उनकी कुशल पूछना एव और भी समयानुकूल जो समझो कहना।" यहाँ धृतराष्ट्र ने

सजय को बहुत सीमित अधिकार देकर केवल रामा-रामी करने के लिए भेजा था। बात में रत्ती भर भी जान न थी, पर सजय अनुभवी थे। उपप्लव मे जाकर उन्होने मीठे शब्दो मे दोनो ओर की कुशल का लम्बा लेखा-जोखा दिया और कहा—"एक बात मुझे रात में धृतराष्ट्र ने जो बुलाकर कही थी उसे भी सुन लो।" धृतराष्ट्र का यह गुप्त सदेश व्यर्थ की लल्लो-चप्पो और धमकी से भरा हुआ था। उसकी ध्वनि यही थी कि युद्ध न करके शान्ति रखो—"वह जीवन भी मृत्यु जैसा है जिसमे अपने बधुबाधवो का वध करके जीवित रहना पडे। पाण्डव इतने नीच कभी न होगे कि निर्धर्म कर्म करने पर उतारू हो।" उसे सुनकर युधिष्ठिर हक्के-बक्के रह गए और कहा—"हे सजय, युद्ध से विरत रहना चाहते हो तो युद्ध भड़काने वाली यह बात क्यो कहते हो? ठीक है युद्ध से अयुद्ध अच्छा है। यदि अयुद्ध मिलता हो तो कौन युद्ध चाहेगा? कौन ऐसा दैव से अभिशप्त है कि जान-बूझकर युद्ध करेगा? तुम जानते हो कि हमने कितने कष्ट सहे है फिर भी जो पहली स्थिति थी वह लौट आवे और इन्द्रप्रस्थ का राज्य हमें मिल जावे तो हम शम की नीति का पालन करेगे।" उत्तर मे सजय ने वैराग्य भरे उपदेश का पैतरा बदला और धर्म की दुहाई देते हुए कहा—"हे युधिष्ठिर, यदि ऐसा ही हो कि कौरव युद्ध के बिना तुम्हे कुछ न देने पर अड़ जायँ तो भी मेरी सम्मति है कि तुम्हारे लिए युद्ध से राज्य लेना अच्छा नही, अन्धक वृष्णियो के यहाँ जाकर भिक्षावृत्ति करना अच्छा है। जो धर्म करता है वह महाप्रतापी सविता की तरह चमकता है। यदि धर्म की हानि हो और पृथिवी ही मिल जाय तो भी दुख ही है। तुम अश्वमेध और राजसूय कर चुके हो। अब सत्य और आर्जव की सीमा तक पहुँच कर फिर इस युद्ध रूपी पापिष्ठ कर्म को क्यो सोचते हो।" युधिष्ठिर यद्यपि स्वय धर्म के पक्षपाती थे किन्तु सजय ने जो धर्म की रट लगाई उससे वे भी खिन्न हो गए—"हे सजय, यह सच है कि कर्म से धर्म अच्छा है। पर मेरी गर्हा करने के पहले यह भी तो जान लो कि मै धर्म कर रहा हूँ या अधर्म। जहाँ अधर्म धर्म का रूप बना लेता है वहाँ फिर धर्म अधर्म जैसा दिखाई देने लगता है।

मेरी तो वृत्ति ऐसी है कि पृथिवी के धन को, देवलोक, प्रजापति लोक या ब्रह्मलोक के धन को भी अधर्म से नही चाहता।"

कृष्ण द्वारा संजय को उत्तर

यहाँ कथाकार ने यह उल्लेख किया है कि युधिष्ठिर ने संजय के सामने धर्म और कर्म के तारतम्य की व्याख्या करने के लिए कृष्ण को प्रेरित किया, यद्यपि एक बार कृष्ण द्वारका जा चुके थे और दोबारा उनके उपप्लव आने का उल्लेख नही है। हो सकता है कि जैसे और लोग आ रहे थे वे भी आ गए हो। क्योकि ऐसे गाढे में उनसे सलाह लेकर ही पाण्डव आगे बढ सकते थे। कृष्ण की ओर से संजय के सामने कर्म की बहुत ही सुन्दर मीमासा की गई है—"हे संजय, मै तो सबके लिए शम चाहता हूँ, पर जहाँ धृतराष्ट्र और दुर्योधन ऐसे गिद्ध हो वहाँ युद्ध क्यो न छिड जाय। कर्म और विद्या इन दोनो के विषय में प्रज्ञाशील ब्राह्मणो के भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई कर्म से सिद्धि, कोई विद्या (ज्ञान) से सिद्धि कहते हैं। कैसा भी विद्वान् या ज्ञानी हो बिना खाए उसकी भूख नही बुझती। जो ज्ञान कर्म साधता है उसी का फल है, दूसरे का नही। यहाँ तो कर्म का ही फल दिखाई देता है। जल पीने से ही प्यासे की प्यास मिटती है। जो कर्म का त्याग ठीक समझता हो उस निर्बल का लप-लप करना व्यर्थ है (*तत्र योऽन्यत्कर्मण साधुसन्येन्मोघ तस्य लपित दुर्बलस्य*)। कर्म से ही देवता चमक रहे हैं। कर्म से ही वायु बह रही है। सूर्य तन्द्रा-रहित कर्म से ही नित्य उदय होकर दिन और रात का विधान कर रहा है। चन्द्रमा बिना आलस्य के नक्षत्रो से सम्पर्क सिद्ध करके मास और अर्धमास बना रहे हैं। अग्नि बिना तन्द्रा के प्रज्वलित रहते हुए प्रजाओ के लिए कार्य कर रहे हैं। देवी पृथिवी बिना तन्द्रा से अपने बल से इस भारी बोझे को ढो रही है। नदियाँ बिना तन्द्रा के जलो का प्रवाह कर रही हैं। बिना तन्द्रा के मेघ अन्तरिक्ष और द्युलोक को अपनी गभीर ध्वनि से गुजाते हुए जल बरसाते हैं। देवराज इन्द्र ने प्रमाद के बिना ब्रह्मचर्य का पालन किया

और देवो मे श्रेष्ठता पाई। सुख और मन की प्रिय इच्छाओ को रोककर एव सत्य धर्म और दम के प्रमाद रहित पालन से देवराज इन्द्र ने आधिपत्य प्राप्त किया। बृहस्पति ने चित्त और इन्द्रियो को रोककर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। इसीलिए उन्हे देवो में गौरव मिला। जितने देव और मुनि हैं वे ब्रह्मचर्य से ही वेदज्ञान और कर्म का सेवन करते हुए तेजस्वी बनते हैं। हे सजय, सब लोक के लिए इस सहज नियम को जानते हुए भी क्यो तुम कौरवो के पक्ष मे ही खिच रहे हो? यदि कौरवो के नाश किए बिना कोई सफलता का उपाय पाण्डवो के हाथ लगता तो धर्म की रक्षा हो जाती और इन्हे पुण्य मिलता। यदि यथाशक्ति स्वकर्म पूरा करते हुए दैववश उन्हे मृत्यु का भी सामना करना पडा तो उनका मरण भी श्रेयस्कर है। क्या तुम यह मानते हो कि धर्मतन्त्र युद्ध से स्थिर रहता है या तुम्हारा यही विचार है कि युद्ध न करने से धर्मतत्र बनता है? तुम्हारी बात मुझे कुछ गोलमोल जान पडती है। यदि कोई दूसरे की भूमि बलपूर्वक लेना चाहता है तो युद्ध अवश्य होगा। इसीलिए कवच, शस्त्र और धनुष उत्पन्न हुए हैं। इन्द्र ने दस्युओ के वध के लिए ही इन वस्तुओ को बनाया है। हे सजय, कौरवो से जाकर कहना कि ऐसे युद्ध मे हमारा वध भी राज्य से अच्छा होगा। कौरवो ने जब द्रौपदी को सभा के बीच बुलवाया तब किसी एक ने भी धर्म की बात न कही। उस समय कर्ण ने अर्जुन के हृदय मे जो नुकीला वाग्बाण मारा था वह आज भी छिदा हुआ है। यदि आज स्वय मेरे जाने की भी आवश्यकता हो तो मैं हस्तिनापुर चल सकता हूँ। पाण्डवो का उद्देश्य छोडे बिना यदि शान्ति करा सकूँ तो मेरा पुण्य होगा और मैं समझूँगा कि मुझसे अच्छा काम हुआ। दुर्योधन क्रोध का महावृक्ष है। कर्ण उसका तना, शकुनि उसकी शाखा है। दु शासन फूल-फल है, पर इसकी जड निर्बुद्धि धृतराष्ट्र को ही मानना पडेगा। अथवा राजा धृतराष्ट्र और उसके पुत्र भारी वन के समान है। पाण्डव उसमे रहने वाले व्याघ्र है। हे सजय, ऐसा होना चाहिए कि वन और व्याघ्र का नाश न हो। वन न रहे तो व्याघ्र मरा ही हुआ है। वाघ न रहे तो वन कटा जैसा है।

इसलिए वाघ वन को वचावे और वन वाघ का पालन करे, यही उचित है। पाण्डवो को हिमालय की तराई मे खडे हुए ऊँचे शालवृक्ष समझो। कौरव उन मालझन लताओ के समान है जो ऊँचे चढकर उन वृक्षो को लपेट लेती हैं। महावृक्ष के आश्रय के विना लता कभी नही वढ पाती। पाण्डव शुश्रूपा और युद्ध दोनो के लिए तैयार हैं। धृतराष्ट्र जो उचित समझे करें।"

सजय द्वारा भेजे हुए युधिष्ठिर के कुशल-प्रश्न

सजय ने कृष्ण और पाण्डवो के आशय को भली प्रकार समझ लिया। युधिष्ठिर ने अत्यन्त विनीत वचन कहकर सजय को विदा किया। युधिष्ठिर द्वारा कहे हुए कुशल-प्रश्नो वाला यह अध्याय (उद्योग, अ० ३०) अत्यन्त उदात्त शैली मे लिखा गया है जिसका कुछ नमूना इस प्रकार है— "हे सजय, स्वस्ति भाव से जाओ। तुमने हमारा कुछ अप्रिय नही किया। वे और हम दोनो तुम्हें शुद्ध आत्मा मानते हैं। तुम कल्याण-वाक्, शीलवान् और दृष्टिमान् हो। तुम्हें सच वात कहते हुए मोह या क्रोध नही होता। तुम्हारी धर्मवती, अर्थवती, प्रियवती वाणी से मै परिचित हूँ। तुम या विदुर दो ही दूत के रूप में यहाँ आने योग्य थे।"

"हे सजय, यहाँ से जाकर वहाँ के उन योग्य ब्राह्मणो से हमारा प्रणाम कहना जो महाकुल में उत्पन्न है, जो वैदिक चरणो से सवधित है, जो धर्म-सूत्रो मे व्याख्यात धर्मों से युक्त हैं और जो स्वाध्यायी है। वनो में रहने वाले तपस्वी भिक्षुओ से भी प्रणाम कहना। वहाँ के वृद्धो से एव राजा के पुरोहित आचार्य और ऋत्विजो से मिलकर मेरी ओर से कुशल कहना। उन आचार्य द्रोण से जिन्होने वेद ज्ञान के लिए ब्रह्मचर्य धारण किया और चतुष्पात् अस्त्र विद्या का विधान किया एव उनके तेजस्वी पुत्र अश्वत्थामा से भी कुशल कहना। महारथी कृपाचार्य, प्रज्ञाशील भीष्म, स्थविर राजा धृतराष्ट्र के चरणो में मेरा प्रणाम कहना। धृतराष्ट्र के उस ज्येष्ठ पुत्र सुयोधन से भी मेरी ओर से कुशल पूछना। और भी दु शासन, विदुर, चित्रसेन, सोमदत्त आदि से मेरी ओर से कुशल पूछना। कौरवो के घरो में जो कुरुवृद्ध हैं और

जो उनके पुत्र पौत्र-भ्राता आदि युवा है उनसे भी कुशल कहना। वसाति, शाल्व, केकय, अम्बष्ठ और त्रिगर्त के, प्राच्य, उदीच्य, दक्षिणात्य, प्रतीच्य एव पर्वतीय राजाओ से भी जो कौरवो का पक्ष लेकर आए हो कुशल पूछना। हाथियो के महामात्र, रथी, अश्वसादी महामात्र इनसे अनामय कहना। अमात्यो से, दौवारिको से, सेनाध्यक्षो से और आय-व्यय गणना विभाग में काम करने वाले युक्त नामक अधिकारियो से एव उनके अध्यक्षो से मेरी ओर से कुशल कहना। गान्धारराज शकुनि और सूर्यपुत्र कर्ण से एव अगाधबुद्धि विदुर से भी कुशल पूछना। राजकुलकी उन वृद्धा स्त्रियो से जो माता पदवी धारिणी है और अन्य वृद्धा स्त्रियो से मेरा अभिवादन कहना और पूछना कि उनकी वृत्ति तो निर्विघ्न है। और हमारे परिवार की भी स्त्रियाँ या जो अन्य बहूएं या पटरानी के दूसरी प्रजावती सज्ञक रानियाँ या कन्याएं हो उनसे भी कुशल कहना। वे सब कल्याणी, अलकृता, वस्त्रवती और भोगवती बनकर रहे।" इसके आगे युधिष्ठिर का मन राजकुल और राज्य पर आश्रित अन्य अनेक प्रकार के व्यक्तियो पर जाता है और वे उन्हे भी अपना कुशल भेजते है। इनमें वेश की स्त्रिया दास, दासी पुत्र, कुब्ज, खज, अगहीन, स्थविर आदि के विषय मे युधिष्ठिर ने जानना चाहा कि पुराने समय से जो उनकी वृत्ति बधी थी वह सुरक्षित थी या नही। यह भारतीय राजशास्त्र का सिद्धान्त था कि अनाथ, कृपण, अधे, लूले, लगडे और जो दस्तकारी करने वाले वूढे हो गए हो उन्हे राज्य की ओर से पालन के लिए वृत्ति दी जाय। कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मनुस्मृति और शुक्रनीति मे इसका उल्लेख है। समुद्रगुप्त ने प्रयाग प्रशस्ति मे भी इसका उल्लेख किया है। अन्त मे युधिष्ठिर ने दुर्योधन के लिए इतना विशेष सदेश भेजा—"हे सुयोधन, तुम्हारे हृदय मे जो यह वृत्ति रहती है कि तुम ही अकेले कुरुओ का शासन करो उसकी कोई ऐसी युक्ति मेरी समझ मे नही आती जो तुम्हे अच्छी लगे। मै पाँच भाइयो के लिए पाँच गाँव भी लेकर सन्तुष्ट हो जाऊँगा। परस्पर की प्रीति और शान्ति ही इष्ट है। भाई-भाई और पिता-पुत्र मिले रहे यही मेरी इच्छा है।"

हस्तिनापुर लौटकर सजय धृतराष्ट्र के राजभवन में पहुँचे। दौवारिक से सूचना भेजकर वे राजा से मिले और युधिष्ठिर की ओर से कुछ कुशल सदेश निवेदन किया, किन्तु दिनभर की यात्रा से थके होकर उन्होने राजा से कहा कि अब मै आराम करूँगा और कल सभा मे कौरवो के सामने युधिष्ठिर का वचन सुनाऊँगा।

: ४५ :

प्रजागर पर्व

[अ० ३३-४०]

विदुर-नीति

कथा के चलते हुए प्रवाह के बीच में कुछ देर के लिए रुककर प्रज्ञाशील ग्रन्थकार ने दो विशिष्ट पर्वों को स्थान दिया है। पहला प्रजागर पर्व है जिसमें प्राचीन भारतीय नीतिशास्त्र या जीवन के प्रज्ञा-शास्त्र का बहुत ही सुन्दर विवेचन है। विदुर वक्ता और धतराष्ट्र श्रोता है। दूसरा सनत्सुजात पर्व है जिसमे उस अध्यात्म शास्त्र का जो उपनिषद् युग की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ था अत्यन्त श्लाघनीय साराश दिया गया है।

प्रजागर पर्व में आठ अध्याय और पाँच सौ तीस श्लोक है। यह प्रकरण विदुर-नीति के नाम से लोक में प्रसिद्ध है। इसे प्रजागर क्यो कहा गया इसका हेतु इस प्रकार है—जब सजय ने तत्काल पूरी बात न कही तो धृतराष्ट्र के निर्बल मन मे किसी भारी अनर्थ की आशका हुई। इस चिन्ता में उनकी नीद चली गई। सजय न जाने क्या सदेश लाया है, यह सोचकर वे बहुत अस्वस्थ बन गए। प्रजागर का अर्थ जागरण या निद्राक्षय है। धृतराष्ट्र ने दूत भेजकर तुरन्त विदुर को बुलवाया। विदुर स्वय बडे प्रज्ञा-

शील थे। वे धृतराष्ट्र के लगभग रातदिन के साथी थे और धृतराष्ट्र उनकी समझदारी के भक्त होकर उन्हे बहुत मानते भी थे। लिखा है कि धृतराष्ट्र से मिलने के लिए विदुर को बाधा न थी। राजा से मिलने के लिए औरो को समय नियत करना पडता है, पर विदुर को छूट थी कि जब चाहे मिले। धृतराष्ट्र विदुर के लिए कभी अकाल्य न थे, अर्थात् सदा मिल लेते थे।

प्रज्ञा-दर्शन

आरम्भ में ही विदुर को महाप्राज्ञ कहा गया है। सूत्र रूप में प्रज्ञा की व्याख्या, यही इस विशिष्ट प्रकरण का शीर्षक है। प्रज्ञावान् व्यक्ति प्राज्ञ कहा जाता था। उपनिषदो के युग मे जहाँ अध्यात्म और दर्शन तत्त्व का इतना विकास हुआ वही उसका जो अश मानव जीवन की व्यावहारिक आवश्यकता के लिये निचोड लिया गया उसी समझदारी का नाम प्रज्ञा था। अथवा कह सकते है कि मानव ने निजी जीवन में और सामाजिक व्यवहारो मे समझदारी का जो सुन्दर धरातल तैयार किया था उसी प्रज्ञा की दृढ भूमि पर ऊँचे उठते हुए लोग उपनिषदो के अध्यात्म तक पहुँच सके होगे। प्रज्ञा एक मूल्यवान् शब्द बन गया था। आज अग्रेजी मे जिसे कामनसेन्स या हिन्दी मे समझदारी कहते है वह प्रज्ञा शब्द से अभिहित था। उस युग के ही आसपास यूनान मे भी प्रज्ञा का दृष्किोण विकसित हुआ था जैसा हम सुकरात आदि विचारको के दृष्टिकोण मे पाते है, जो यह चाहते थे कि मानव प्रत्येक क्षेत्र मे व्यवहारिक वुद्धिमानी से काम ले और वुद्धिपूर्वक विचारशैली से ही सर्वत्र विचार करे। प्रज्ञा को बोल-चाल की पाली या मागधी भाषा मे पञ्ञा और अर्धमागधी मे पण्णा कहा जाता था। हमारा विचार है कि वोली के किसी भेद मे प्रज्ञा का रूप पण्णा से पडा हो गया। इसका वही अर्थ है जो प्रज्ञा का था, अर्थात् हर वात मे और हर काम में वुरे और भले की पहचान। कर्म और विचार मे ऐसे सुलझे हुए व्यक्ति को ही पडित कहने लगे। पडित, प्रज्ञावान् और प्राज्ञ का एक ही अर्थ था। प्रज्ञा का मुख्य लक्षण यह है कि वह 'ससारिणी' होती है, अर्थात् प्रत्येक वात

पर वह समाज की स्थिति या जीवन के दृष्टिकोण से विचार करती है।
धर्म, अर्थ, काम, यह त्रिवर्ग प्रज्ञा का मुख्य विषय है—

यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते ।
कामादर्थं वृणीते य. स वै पडित उच्यते ॥

पडित की व्याख्या

विदुर ने आरम्भ में पडित और मूर्ख इनकी व्याख्या की—'पडित या प्राज्ञ वह है जो जीवन में प्रशस्त ध्येय को चुनता है, निंदित में मन नही देता। श्रद्धा उसके कर्मों का मुख्य लक्षण है। वह जो लक्ष्य वनाता है उससे क्रोध, दर्प या सम्मान की इच्छा उसे नही हटा पाती। वह जो सोचता है उसके कर्म से ही वह व्यक्त होता है, कहने से नही। शीत, उष्ण, गरीवी, अमीरी, ये उसके कार्य में विघ्न नही डालते। वह शक्ति के अनुसार ही इच्छा करता है और शक्ति से ही कर्म की मात्रा वनाता है। विना पूछे हुए दूसरे के काम में हस्तक्षेप नही करता। यह पडित की सवसे वडी पहचान है कि वह समझ बूझकर अपने कार्यों का निश्चय करता है, कामवश नही। जो नही मिल सकता उसे वह चाहता नही। जो नष्ट हो चुका है उसका सोच नही करता। वह आपत्ति में घवराता नही। यही पडित की पहचान है। जो निश्चय करके उसपर बढ चलता है, बीच में रुकता नही, जिसने अपने मन को साधकर समय से अधिक-से-अधिक दुहना सीखा है वही पडित है। गगा के गहरे दह के समान पडित को क्षोभ नही होता। उसे न सम्मान से हर्ष और न अपमान से ताप होता है। वह काम की युक्ति और मनुष्यो से व्यवहार का उपाय जानता है। जो आर्य जीवन की मर्यादाओ का रक्षक है, जिसकी प्रज्ञा उसके स्वाध्याय के अनुरूप है वही पडित है। जो दरिद्र होकर वडी-वडी इच्छाएँ करता है, जो विना कर्म के फल चाहता रहता है, वह मूढ है। जो अपने अर्थ को त्याग कर दूसरे के काम में उलझा रहता है, जो मित्र के काम मे मिथ्या व्यवहार करता है, वह मूढ है। जो कर्त्तव्य को टालता रहता है, सब जगह शकाशील रहता है,

जिसे शीघ्र करना चाहिए उसे विलम्ब से करता है, वह मूढ है। जो बिना बुलाए जाता है, बिना पूछे बोलता है, जो अपनी त्रुटियो को न देखकर उनके लिए दूसरो पर कटाक्ष करता है, जो निठल्ला रहकर भी अलभ्य वस्तु पाने की इच्छा करता है, वह मूढ है। धनुर्धारी का छोडा हुआ बाण एक भी व्यक्ति को मार सके या न मार सके, पर बुद्धिमान् की चलाई हुई युक्ति सारे राष्ट्र और राजा को नष्ट कर डालती है।'

इस कथन से सूचित किया गया है कि प्रज्ञावादी दर्शन जीवन के सब व्यवहारो को चलाने के लिये और विशेषत राजधर्म के लिये अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण था। वह जीवनोपयोगी सब दर्शनो मे सिरमौर था।

"हे राजन्, इस विश्व का कर्त्ता एक अद्वितीय ब्रह्म है जिसे तुम नही जानते। जैसे समुद्र पार करने के लिए नाव उपयोगी है वैसे ही अकेला सत्य स्वर्ग तक पहुँचने की सीढी है। जैसे साँप बिलशायी चूहे को खा लेता है वैसे ही जो राजा दिग्विजय के लिए नही उठता और जो ब्राह्मण अपने पाण्डित्य के प्रकाश के लिए देशयात्रा नही करता उन दोनो को यह भूमि ग्रस लेती है। दो नुकीले काँटे शरीर को सुखाने वाले हैं, एक निर्धन की कामना और दूसरे असमर्थ का कोप। हे राजन्, मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं, उत्तम, मध्यम और अधम। उन्हे उनके योग्य कामो मे लगाना चाहिए। अल्प बुद्धि, दीर्घसूत्री, आलसी और चापलूसो के साथ परामर्श करना पण्डित को उचित नही। बडा-बूढा सबन्धी, टोटे मे पडा हुआ कुलीन, दरिद्री मित्र, नि सन्तान बहन, इन चारो का प्रतिपालन उत्तम गृहस्थ का कर्त्तव्य है। बृहस्पति ने इन्द्र से कहा था कि चार बातें तुरन्त फल दिखाती है—देवताओ का सकल्प, प्रज्ञाशील की युक्ति, विद्वान् की साधना और पाप कर्मों का क्षय। मनुष्य को उचित है कि पिता, माता, अग्नि, आत्मा और गुरु इस पचाग्नि की नित्य सेवा करे। पाँच इन्द्रियो मे से यदि एक भी छिद्रयुक्त हो तो उसी रास्ते मनुष्य की प्रज्ञा नष्ट हो जाती है, जैसे नीचे के एक छेद से मशक का सारा पानी बह जाता है। निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और काम को लम्बा टालने की प्रवृत्ति, इन छ दोषो को छोडने में ही भलाई है। सत्य,

दान, अनालस्य, अनसूया, क्षमा और धृति, इन छ गुणो को रखना ही अच्छा है। ये आठ बातें आनन्द का मथा हुआ मक्खन है—मित्रो का समाज, महान् धन प्राप्ति, पुत्र का सुख, स्त्री का सुख, समय पर मीठी बातें, अपने वर्ग मे सम्मिलन, इष्ट वस्तु की प्राप्ति और लोक मे सम्मान। जिस घर में नव द्वार है, तीन खम्भे है, पाँच सूचना लाने वाले साक्षी या सेवक है और जिसमे क्षेत्रज्ञ आत्मा स्वय बैठा है, ऐसे इस शरीररूपी गृह को जो ठीक प्रकार से जानता है वही परम बुद्धिमान् है।" प्रज्ञादर्शन में समाज और निजी जीवन दोनो का समान महत्त्व था, क्योकि दोनो को सफलता से चलाने के लिए प्रज्ञा या समझदारी की आवश्यकता है।

युधिष्ठिर का प्रज्ञायुक्त आचार

इसके अनन्तर एक प्राचीन कथानक का आश्रय लेते हुए बीस श्लोको में असुरो के राजा सुधन्वा द्वारा अपने पुत्र को सिखाई गई राजनीति का साराश कहा गया है। अगले अध्याय मे धृतराष्ट्र प्रश्न करते हैं कि युधिष्ठिर का वह प्रज्ञायुक्त आचार क्या है जिसे तुम अभी देख आए हो। यहाँ एक श्लोक में धृतराष्ट्र की भीतरी स्थिति भी उसी के मुख से प्रकट की गई है—"हे विदुर, मै पाप की आशका करता हूँ। मुझे पाप ही दिखाई पडता है। इसलिए मेरा मन भीतर से घबराया हुआ है। तुम जो मेरे लिए समझो कहो।" ऐसे सरल भाव के उत्तर में विदुर ने भी उदारता प्रकट करते हुए कहा—"जो जिसका हितू है वह उसे अच्छी या बुरी, प्रिय या अप्रिय सब बाते बता देता है। मै कौरवो का हित चाहता हूँ, इसलिए उनके कल्याण के लिए धर्मयुक्त बात कहूँगा। हो सकता है कपट के काम भी सफल होते जान पडे, पर तुम उधर मन मत करो। ठीक युक्ति से किया हुआ काम यदि सिद्ध न भी होता हो तो उससे मन को छोटा मत करो। कर्म की जो रुकावटें है उनको समझकर कर्म करो, हडबडी में नही। जो अपने राज्य के कोश, जनपद, दण्ड, वृद्धि, क्षय एव सेना आदि की उचित मात्रा के विषय में पक्की जानकारी नही रखता वह राज्य मे स्थिर

नही रह सकता। जो इन्हे ठीक से जानकर इनकी देखभाल करता है और धर्म और अर्थ की जानकारी रखता है, वह राजा राज्य मे दृढता प्राप्त करता है। राज्य मिल गया, बस इतना ही पर्याप्त नही है। यदि राज्य चलाने की शिक्षा नही है तो राज्य-लक्ष्मी नष्ट हो जाती है। मछली बसी मे लगा हुआ चारा देखती है, भीतर की कटिया नही देखती। ऐसे ही जो कर्म के भीतर छिपी अडचनो को नही देखता, उसके बाहरी रूपो को देखता है वह नष्ट हो जाता है। जिस ग्रास को निगला जा सके, जो सटका हुआ पच जाय और जो पचा हुआ अन्त मे हित करे उसी को खाने मे भलाई है। वृक्ष के कच्चे फलो को चुनने वाला उनमे रस नही पाता। उसके लिए वीज भी नष्ट हो जाता है। पर समय पर पका हुआ फल तोडने से रस और बीज दोनो मिलते हैं। जैसे भँवरा फूलो से रस चुनता है वैसे ही भिन्न-भिन्न मनुष्यो से अपने उपयोग की वस्तुओ का सग्रह करना चाहिए। फूलो को चुनना उचित है, उनकी जड काटना ठीक नही। बगीचे मे जैसा माली करता है, वैसा करे। कोयला फूकने वाले के जैसा व्यवहार न करे। काम करने से क्या लाभ होगा, न करने से क्या हानि होगी, इस बात का विचार करके तव फिर करने या न करने का निश्चय करे। जिसमे किया हुआ परिश्रम निरर्थक हो ऐसा काम सदा अकरणीय है। बुद्धिमान व्यक्ति अपनी प्रज्ञा से किन्ही ऐसे कामो को सोचता है जो आरम्भ मे छोटे है पर फल वहुत देते है और फिर तुरन्त उन्हे करने लगता है, उनमे विघ्न नही करता। जो सवको ऋजु भाव से देखकर अपनी जगह बैठे-बैठे ही चुपचाप आँख से सवको पी जाता है ऐसे राजा को प्रजा चाहती है। मन, वाणी, कर्म और दृष्टि से जो लोक को प्रसन्न करता है उसे ही लोक चाहता है। व्याघ्र से जैसे पशु डरते है वैसे ही यदि राजा से उसकी प्रजा डरे तो समुद्रान्त राज्य भी किस काम का ? वायु जैसे मेघो को छिटका देती है वैसे ही राजा अनीति से बाप-दादो का राज्य खो देता है। पहले से सज्जन जिस धर्म मार्ग पर चलते आए है उस पर चलने वाले राजा के लिए धरती धन-धान्य से पूर्ण हो जाती है। पराए राष्ट्र को छिन्न-भिन्न करने मे जो

व्यर्थ श्रम जाता है उसे यदि स्वराष्ट्र के प्रतिपालन में लगाया जाय तो क्या कहना—

य एव यत्न' क्रियते परराष्ट्रावमर्दने ।
स एव यत्न कर्त्तव्य स्वराष्ट्रपरिपालने॥ (उद्योग ३४।२८)

राज्य लक्ष्मी का मूल धर्म है। गाएँ गन्ध से, ब्राह्मण वेद से, राजा चरो से और इतर जन आखो से वस्तु का ज्ञान करते हैं। सिल्ला वीन कर खानेवाला जैसे धीर भाव से उसे बीनता है, ऐसे ही जहाँ-तहाँ से वुद्धिमानों के सुकर्म और वचनो का सग्रह राजाओ को करना चाहिए। कडवी गाय को दुहने में महाक्लेश होता है, पर सहेज गाय के लिए यत्न नही करना पडता। जो विना तपाये झुक जाता है उसे कौन तपाता है ? जो स्वय झुका हुआ काष्ठ है उसे झुकाना नही पडता। इन उपमाओ को मन में रखकर जो अपने से वलवान है उसके सामने झुक जाना चाहिए, क्योकि बलवान के सामने झुकना ऐसा ही है जैसे इन्द्र को प्रणाम करना—

इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे । (उद्योग ३४।३५)

पशुओ का वन्धु मेघ है। राजाओ के वन्धु उनके मित्र होते हैं। स्त्रियो के वन्धु पति और ब्राह्मणो के वन्धु वेद है। धर्म की रक्षा सत्य से, विद्या की नियमपूर्वक अध्ययन से, सौन्दर्य की साज-शृगार से और कुल की आचार से होती है। मेरी समझ से आचारहीन व्यक्ति की कुलीनता का कोई अर्थ नहीं। अन्त्य वर्ण में जन्म लेने पर भी सदाचार से ही व्यक्ति की विशेषता होती है। पराये के धन, रूप, वल, कुल, सुख और सौभाग्य में ईर्ष्या की वृत्ति अन्तहीन रोग है। विद्यामद, धनमद, कुलमद मूढो के लिए तो ये मद है, पर सज्जनो के लिए ये ही सयम के हेतु वन जाते हैं।

प्रज्ञादर्शन मे शील का महत्त्व

प्रज्ञादर्शन के अनुसार जीवन में सबसे अधिक महत्त्व शील या सदाचार का है। सुन्दर वस्त्रो से सभा, घर में गौ होने से भोजन, सवारी होने से मार्ग और शील होने से सव कुछ जीत लिया जाता है। मनुष्य का शील

प्रधान है। जिसका शील जाता रहा उसके जीने का कोई अर्थ नही, चाहे उसके धन और वन्धु कितने भी हो। नमक की डली के साथ जो निर्धन रोटी खा लेते है वह भी उन्हे तरावट देती है, क्योकि स्वाद भूख मे है। रइसो के पास भूख कहाँ? श्रीमन्तो में प्राय भोजन की शक्ति नही होती, पर दरिद्रो को काष्ठ भी पच जाता है। वेरोक-टोक विषयो मे छूटी हुई इन्द्रियो से लोग दु ख पाते है, जैसे राहु से सूर्यचन्द्र। जो अपने को न जीतकर अमात्य और अमित्रो को जीतने चलता है वह दुख पाता है। अपने को ही पहले एक देश मानकर यदि जीत लिया जाय तो फिर अमात्य और अमित्रो का जीतना सफल होगा। यह शरीर रथ है, आत्मा सारथी है, इन्द्रियाँ अश्व है। कुशल व्यक्ति सधे हुए अश्वो से धीर रथी के समान सुखपूर्वक यात्रा करता है। इन्द्रियाँ वश में न हो और चाहे बहुत-सा धन मिल जाय, तो भी राजा ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जाता है। आत्मा ही आत्मा का वन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। अतएव सयत मन, वुद्धि और इन्द्रियो की सहायता से अपने को पहचानना चाहिए। काम और क्रोध रूपी दो घडियाल इस शरीर रूपी बारीक वुने हुए जाल में छिपकर वुद्धि को कुतर रहे है। पापी का साथ न छोडे तो अपापी को भी दण्ड भुगतना पडता है, जैसे सूखे पेड के साथ गीले को भी जलना पडता है। नीच वुद्धिमानो पर आक्रोश और निन्दा से चोट करते है। उसका पाप वक्ता पर पडता है, क्षमाधारी छूट जाता है। गुणी का वल क्षमा है। वाक् सयम सवसे कठिन है। कुल्हाडी से काटा हुआ वन फिर शनै-शनै. फुटाव ले लेता है, पर वाणी का चोट खाया हुआ नही पनपता, क्योंकि वचन का वाण हृदय को भी छेद डालता है। मूर्ख अपने मुँह से टपाटप वाग्वाण चलाया करता है, पर जिसे वे लगते है उसका तो रातदिन मरण ही हो जाता है। वुद्धिमान को चाहिए कि ऐसे मर्मघाती तीर दूसरे पर न छोडे। देवता जिसका पराभव सोचते है उसकी वुद्धि हर लेते है। हे महाराज धृतराष्ट्र! वही वुद्धि आपके पुत्रो से विदा ले चुकी है आप भी पाण्डवो से विरोध रखकर इस वात को नही समझते। लक्षण-सम्पन्न

युधिष्ठिर त्रिलोकी का राज्य पाने योग्य है। आपको वे गुरु मानते है। अतएव उन्हें राज्य दे।

धृतराष्ट्र का व्यक्तित्व

विदुर ने धृतराष्ट्र के व्यक्तित्व की उघेड-बुन करके यह निष्कर्ष निकाला था कि इस व्यक्ति में आर्जव की कमी है, इसका सोचना कुटिलता से भरा है। ऊपर से थोडी देर के लिए पाण्डवो के हित का जबानी जमा खर्च करके फिर भीतर से उनकी काट सोचता है और अपने पुत्रो का पक्ष करता है। इसलिए विदुर ने धृतराष्ट्र के लिए सब गुणो का निचोड आर्जव या हृदय की सीधाई माना और कहा—"सब तीर्थों का स्नान एक ओर और सब भूतो में आर्जव का व्यवहार दूसरी ओर। या तो ये बराबर उतरेंगे या आर्जव कुछ भारी बैठेगा। इसलिए हे राजन्, अपने इन पुत्रो के प्रति ऋजुता का व्यवहार करो।" अपनी बात दृढता से बैठाने के लिए विदुर ने यहाँ एक चुटकुला सुनाया जिसे वे पहले भी कौरव सभा में द्रौपदी के प्रश्न पूछने के अवसर पर सुना चुके थे (सभापर्व ६१।५८-७९)। अंगिरा के पुत्र सुधन्वा और प्रह्लाद के पुत्र विरोचन दोनो युवको का मन केशिनी नामक कुमारी पर गया। कन्या ने कहा–'तुम दोनो में जो श्रेष्ठ हो मैं उसी की हूँ।' दोनो उद्धत युवको ने हार-जीत के फल पर जान की बाजी लगा दी। विरोचन ने कहा—"प्रश्न का निर्णय करावें।" सुधन्वा ने विरोचन के पिता प्रह्लाद को ही पच बद दिया। प्रह्लाद बडे फेर में पडे, पर सत्य का पद ऊँचा है। पुत्र हो या दूसरा हो, साक्षी देते समय सच ही कहना धर्म है। इसलिए प्रह्लाद ने निर्णय दिया—"अंगिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं। अतएव हे विरोचन, सुधन्वा तुमसे उत्तम है।" प्रह्लाद के इस अविचल सत्य से सुधन्वा बहुत प्रभावित हुआ और उसने विरोचन को प्राण-भिक्षा देते हुए कहा—"मेरे सामने उस कुमारी के पैर धोते जाओ।" विदुर ने यही समझाया कि पुत्रो के लिए झूठ का सहारा मत लो–"देवता लाठी लेकर किसी को मारने नही आते। जिसकी रक्षा चाहते हैं उसे बुद्धि बाँट देते हैं—

न देवा यष्टिमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम् ।। (उद्योग ३४।३५)

वेद भी मायावी को उसके पाप से पार नही लगाते। पख निकलने पर पछी घोसले से उड जाते है, वैसे ही अन्त काल मे उसे वेद छोड जाते है। यदि मान से अग्निहोत्र करे, मान से मौन साधे, मान से अध्ययन करे और मान से यज्ञ करे, इनसे भय ही होता है अभय नही।" इसके बाद विदुर ने सत्य, शील, अनसूया आदि हृदय के शोभन गुणो के विषय में बहुत कुछ धृतराष्ट्र से कहा। "अधर्म से प्राप्त धन से जो अपना छिद्र ढँकता है वह छिद्र ढका नही जाता उसमे और भी दरार पड जाती है। दुर्योधन, शकुनि, दु शासन और कर्ण का पल्ला पकड कर तुम किस भलाई की आशा करते हो ? पाण्डव तुम्हे पिता समझते है, तुम भी उन्हे पुत्र मानो।"

हस-साध्य सवाद

फिर विदुर ने हस-साध्य सवाद के रूप मे एक बहुत ही उदात्त प्रवचन धृतराष्ट्र के सामने रक्खा। यह चरण युग के नीति विषयक साहित्य का जगमगाता हुआ माणिक्य है। इसका जो अश यहाँ है लगभग उन्ही शब्दो मे वह शान्ति पर्व मे आया है (शान्ति २८८।१-४४)। वहाँ इसे हस गीता कहा है। स्वय अव्यय पुरुष प्रजापति की कल्पना सुनहले हस के रूप मे की गई है। उसे ही अन्यत्र हिरण्यपक्ष शकुनि कहा है। वह विश्वप्रतिष्ठ प्रजापति का सर्वत्रगामी रूप है जो सबके हृदय मे विद्यमान है और ध्यान करने से सभी उसका साक्षात्कार प्राप्त कर सकते है। सत्य, क्षमा, दम, शम, धृति, प्रज्ञा, तप इनके द्वारा ही हृदय की ग्रन्थि का विमोक्ष सभव है। प्रज्ञादर्शन मे जो प्राज्ञ का उच्च स्थान था वह कोई नई कल्पना न थी, बल्कि प्राज्ञ को ही वैदिक युग मे धीर कहते थे। उपनिषद् युग मे श्रुत ज्ञान प्राप्त करके जो उसे कर्मों में उतारते थे उन्हे ही 'कर्माणि धिय' इस परिभाषा के आधार पर धीर कहा जाता था। यह मूल्यवान् शब्द उपनिषत् साहित्य मे

वार–बार आता है। यहाँ भी महर्षि हस को 'श्रुतेन धीर' कहा गया है। उन महर्षियो की यह काव्यमयी उदार वाणी थी। वे धर्म में निरत अपने भीतर ही देखते थे, बाहर अन्य व्यक्तियो के दोषो पर दृष्टि न करते थे। इस सवाद का निचोड वाणी का सयम है। मनुष्य को उचित है कि रूखी मर्मच्छिद् वाणी कभी न कहे। वह मुख में साक्षात् डायन (निर्ऋति) का निवास है। वाक् कटको से बढकर लक्ष्मीनाशक और कुछ नही। बोलने से न बोलना अच्छा है, यह पहला पक्ष है। उससे सत्य वचन अच्छा है, यह दूसरा पक्ष है। सत्य कथन से भी प्रिय कथन तीसरा विकल्प है, और उससे भी धर्मानुकूल वचन अन्तिम है। सत्यवादी, मृदु, दान्त, उत्तम पुरुष सबका अस्ति भाव चाहता है, किसी का नास्ति भाव नही।

इतना सुनकर धृतराष्ट्र ने महाकुलो की वृत्ति और आचारो के विषय में प्रश्न किया। प्रज्ञादर्शन सामाजिक गृहस्थधर्म का समर्थक था। समाज की इकाई कुल है। अतएव व्यक्तियो के उच्च आचार-विचार का प्रत्यक्ष फल कुलो की श्रेष्ठता के रूप में समाज को मिलता है। व्यक्ति चले जाते हैं, पर कुल-प्रतिष्ठा पीढी दर पीढी बनी रहती है, अतएव महाकुल कैसे बनाए जाएँ—यह प्रश्न प्रज्ञादर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। यह प्रकरण मनुस्मृति (३।६३–६७) मे भी आया है। प्राचीन भारत-वासी कुल की प्रतिष्ठा पर बहुत ध्यान देते थे। ऋषियो की दृष्टि में सामाजिक उच्चता का आधार धन नही, तपश्चर्या, ब्रह्मविद्या, इन्द्रिय-निग्रह आदि वैयक्तिक गुण ही थे जिनसे कुलो की प्रतिष्ठा बढती थी। जिन कुलो मे सदाचार का पालन होता है वे अल्प-धन होने पर भी महाकुलो मे गिने जाते हैं (कुलसख्या च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यश । उद्योग ३६।२९)। यहाँ कुल सख्या से तात्पर्य महाप्रवर काण्ड या उन गोत्र-सूचियो से है जो बौधायन, आश्वलायन आदि श्रौत सूत्रो मे पाई जाती है। उनमें उस समय के यशस्वी कुलो के नाम सगृहीत हैं। जो महाकुलीन है वे ही समाज के भारी दायित्व को सभालते है, जैसे सेंदन के वृक्ष (स स्यन्दन) की छोटी लकड़ी भी रथ में लगी हुई भारी बोझे को सह लेती है। इसी प्रसग में एक

विलक्षण वाक्य आया है जिसकी तुलना में रखने के लिए शतसाहस्री सहिता मे हमे सभवत. और कुछ कठिनाई से मिलेगा। उस समय यह प्रथा थी कि प्रत्येक कुल या परिवार की ओर से एक प्रतिनिधि जनसमिति में सम्मिलित होता था। उसे कुल-वृद्ध, स्थविर या गोत्र कहते थे। कुल की इकाई ही पौर जनपद सस्थाओ का आधार थी। यहाँ कहा गया है—

न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत्कृषिम्। (उद्योग ३६।३१)।

अर्थात् हममे से जो कृपि के लिये खेत मे बीज नही डालता वह समिति या सभा मे बैठने का अधिकारी नही। विदुर ने अच्छे मित्रो के सबघ मे भी कुछ बुद्धिपूर्ण बातें कही है। जिस मित्र मे पिता के समान आश्वस्त हुआ जा सके वही मित्र है, और सब तो केवल जान-पहचानी है। ज्ञात होता है धृतराष्ट्र ऊपरी मन से यह सव सुन रहे थे। भीतर उन्हे यही चिन्ता थी कि युधिष्ठिर युद्ध में मेरे पुत्रो का अन्त न कर दे। उन्होनें पूछा—"हे विदुर, मुझे वडी घबराहट है, इससे कैसे बचूँ।" विदुर ने कहा—"विद्या और तप के बिना, इन्द्रिय-निग्रह के बिना और लोभ का त्याग किए बिना शान्ति का उपाय मुझे दिखाई नही देता।" अन्तिम नुस्खा धृतराष्ट्र के लिए ही था। "जिसके भीतर कुछ वाहर कुछ है उसे न नीद आती है और न अन्न भाता है, न वह धर्म कर पाता है, न सुख पाता है। दुविधा मे पडे हुए ऐसे व्यक्ति के लिए नाश के सिवा और कुछ गति नही। अलग-अलग पडे हुए भाई-बन्धु धुँधुआते रहते है, वे ही यदि मिल जायँ तो प्रचण्ड अग्नि का रूप धारण कर लेते है। ताने के फैले हुए सूतो मे जब वाने के बहुत से सूत बुन जाते है तो उनसे मजबूत वस्त्र बन जाता है। यही भाई-बन्धुओ के मेल का हाल है। पहले तुमने मेरी बात नही मानी, पर अव भी तुम पाण्डवो की रक्षा करो तो सब ठीक हो जायगा। कौरव पाण्डवो का और पाण्डव तुम्हारे पुत्रो का पालन करे। समस्त कौरवो के शत्रु-मित्र समान हो, उनका मत्र समान हो, वे सुखी समृद्ध होकर जीएँ। तुम कौरवो के बीच की थूनी हो। सारा कुरुकुल तुम्हारे अधीन है। तुम्ही कौरवो और पाण्डुपुत्रो मे सधि करा सकते हो। वे सत्य में स्थित है। तुम दुर्योधन को सत्य पर ठहराओ।"

बुद्धि के सत्तरह शत्रु

फिर विदुर ने स्वायंभुव मनु का प्रमाण देते हुए सत्रह तरह के भकुओं की सूची दी है। जो अकल का दुश्मन हो वही भकुआ है। वह मानो मुट्ठी से आकाश कूटता है, हाथ में फन्दा लेकर हवा को बांधना चाहता है, या आकाश के इन्द्रधनुष को झुकाना चाहता है, या सूर्य की किरणों को मोड़कर लपेटना चाहता है। जो अशिष्य को सिखाता है, जो क्रोध करता है, जो बलहीन होकर बलवान से वैर राखता है, जो स्त्रियों की रक्षा नहीं करता, जो दूसरे के क्षेत्र में बीज बोता है, जो उधार लेकर कह देता है कि याद नहीं पड़ता, जो देकर डींग हांकता है, जो ससुर होकर पतोहू के साथ हँसी करता है, जो स्त्री के मुंह लगता है, जो श्रद्धाहीन के सामने ज्ञान बघारता है, ऐसे व्यक्ति पल्ले सिरे के मूर्ख हैं। यह सूची लोक के व्यवहारों को छानकर तैयार की गई थी और प्रज्ञा दर्शन का अंग थी। धृतराष्ट्र ने बात को मोड़ते हुए शतायु बनने की युक्ति पूछी। विदुर ने मन और शरीर दोनों दृष्टियों से इसका उत्तर देते हुए कहा—"अतिवाद, अतिमान, मित्र-द्रोह, क्रोध, अत्याग और हद से ज्यादा ज्ञान-लिप्सा—ये छः बातें आयु कम करती हैं। इनसे आयु छिन्न होती है, मृत्यु से नहीं। परिमित भोजी आरोग्य, आयु एवं सुख और बल प्राप्त करता है। कई प्रकार से विदुर ने प्रश्न का समाधान किया और अन्त में सब बलों के ऊपर प्रज्ञाबल की प्रशंसा की। बाहुबल, अमात्यबल, धनबल, आभिजात्यबल एवं प्रज्ञाबल, इन पाँचों में प्रज्ञा से जो कार्य सिद्ध होता है वह अन्य किसी बल से नहीं। प्रज्ञा के बाण से यदि शत्रु को छेद दिया जाय तो न उसके वैद्य मिलते हैं न औषधि।"

सामान्य शिष्टाचार

तब विदुर ने कुछ सामान्य शिष्टाचारों की व्याख्या की जो मानवमात्र द्वारा पालन करने योग्य हैं—"मनुष्य को उचित है कि अभिवादन रूपी शिष्टाचार का मनुष्यमात्र के साथ ठीक-ठीक पालन करे। जब कोई वृद्ध व्यक्ति किसी युवक के पास मिलने आता है तो युवक के प्राणों का सन्तुलन

क्षुब्ध हो उठता है। अपने केन्द्र को फिर स्थिर-शान्त बनाने के लिए उसे चाहिए कि उठकर वृद्ध व्यक्ति का स्वागत करे और अभिवादन करे। मनुष्य को यह भी उचित है कि शिष्टाचार के विषय मे वह स्वय पहले करे। अपने को कभी दूसरो से पिछडने न दे। अभ्यागत को पहले आसन देना चाहिए। फिर पाद प्रक्षालन के लिए जल देना चाहिए। पुन कुशल प्रश्न पूछकर जो अपने पास सुलभ हो उसे सरल हृदय से निवेदन करके अन्नादि से सत्कार करना चाहिए। जिसके यहाँ विद्वान् को पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्क न मिले उस व्यक्ति के जीवन को आर्य पद्धति मे जीवित रहना नही माना जाता।" इसी प्रसग मे सच्चे भिक्षु और पुण्यात्मा तपस्वी का लक्षण बताया गया है। युधिष्ठिर के यहा ऐसे लोगो का आना सौभाग्य माना जाता था। विद्यावृद्ध, शीलवृद्ध, वयोवृद्ध, बुद्धिवृद्ध, धनवृद्ध और अभिजन वृद्ध, इन छ प्रकार से लोगो को उचित सम्मान मिलना ही चाहिए। कोई मूढ ही इनका अपमान करेगा। इसी प्रकरण मे यह बताया गया है कि राजा को कैसे एकान्त स्थान मे किनके साथ मत्र विचार करना उचित है। धर्म, काम और अर्थ सबधी कार्यों मे जो करना हो उसे कहकर नही, करके ही जताना चाहिए। जो सुहृत् न हो, या सुहृत् होने पर भी प्रज्ञावान् (पडित) न हो, या पडित होने पर भी जो आत्म-सयमी न हो ऐसे व्यक्ति को अपना मत्र बताने से कुछ लाभ नही।

प्रज्ञावाद और भाग्यवाद की तुलना

पहले कहा जा चुका है कि धृतराष्ट्र दिष्टवादी या भाग्यवादी दर्शन के माननें वाले थे। आचार्य मखलि गोशाल ने नियतिवाद का विशेप प्रतिपादन किया था। यहाँ भी धृतराष्ट्र ने कुछ वैसा ही मत व्यक्त किया—"किसी बात के होने या न होने मे (भावाभाव) मे मनुष्य का हाथ नही, सब भाग्य के वश मे है। ब्रह्मा सूत मे बँधी कठपुतली की भाति सबको नचा रहे हैं।

अनीश्वरोऽयं पुरुषो भवाभवे सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलायं तस्माद् वद त्वं श्रवणे धृतोऽहम्॥ (उद्योग ३९।१)

इस विदुर नीति को सामान्य नीति ग्रन्थ नही समझना चाहिए। यह एक पूरा दार्शनिक मत था। इसे प्रज्ञावाद या प्रज्ञा का दर्शन कहा जा सकता है। यह प्रज्ञावाद उन अनेक मतवादो की काट था जो भाग्य, निर्वेद कर्मत्याग पर आश्रित समाज विरोधी आदर्शों का प्रतिपादन करते थे। प्रज्ञावाद पुरुषार्थ, सत्कर्म, धर्म, गृहस्थ, प्रजापालन आदि आदर्शों पर आश्रित था जिनसे जीवन का सवर्धन होता है, निराकरण नही। यदि इस दृष्टि से विदुरनीति या प्रजागर पर्व का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो आदि से अन्त तक प्रज्ञावाद के सैकडो सिद्धान्तो का प्रतिपादन इसमे मिलेगा। प्रज्ञावाद का इतना सुन्दर समन्वित विवेचन अन्यत्र कही भी भारतीय साहित्य मे नही मिलता। प्राचीन भारत में प्रज्ञावाद एक प्रौढदर्शन के रूप में प्रचलित था। इसकी वहुत-सी चूलें अन्य दार्शनिक मतो के साथ विशेषत बौद्धमत के साथ भी मिली हुई थी। वुद्ध स्वय प्रज्ञावादी थे, किन्तु उनकी सारी विचारधारा ने श्रमण धर्म को आगे वढाया, गृहस्थ धर्म को उसके सामने छोटा सकझा। पर प्रज्ञावाद प्राचीन वैदिक परम्पराओ को लिए हुए था जिसमें व्यक्ति की महिमा, गृहस्थाश्रम की महिमा, पुरुषार्थ और उत्थान की महिमा का प्रतिपादन किया गया। प्रज्ञावाद अभावात्मक नही, जीवन का भावात्मक दृष्टिकोण था—भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मतिम् (उद्योग, ३६।१६)। प्रज्ञावाद दर्शन की सबसे करारी टक्कर भाग्यवाद या नियतिवाद दर्शन से थी। इसे दिष्टवाद कहते थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी मे इस दर्शन के मानने वालो को दैष्टिक कहा गया है (४।४।६०)। दार्शनिक मत या दृष्टिकोण को दिट्ठि कहा जाता था। उस युग की अनेक दिट्ठियो या मतो का उल्लेख वौद्ध और जैन साहित्य में आया है। सस्कृत परम्परा में वह सामग्री अव तक ज्ञात न थी। अव तुलनात्मक दृष्टि से महाभारत के सैकडो अध्यायो मे उसे पहचान कर अलग किया जा सकता है। कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, योनिवाद आदि दिट्ठि या मतो के सवन्ध में मूल्यवान् सामग्री का वडा भडार शान्ति पर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्व मे

एकत्र बच गया है और कुछ सामग्री दूसरे पर्वों मे भी बिखरी हुई है। इस विषय मे स्पष्ट तुलनात्मक विवेचन शाति पर्व की व्याख्या मे करना उचित होगा। यहाँ इतना जान लेना चाहिए कि प्रज्ञावाद के अन्तर्गत जो दृष्टिकोण पाया जाता है उसका प्रतिपक्षी दृष्टिकोण नियतिवाद था। नियतिवाद के सिद्धान्तो के साथ तुलना करके देखने पर ही विदुर के प्रज्ञा-दर्शन का पूरा महत्त्व, अर्थ एव सगति स्पष्ट हो सकेगी।

दिष्टवाद या भाग्यवाद के सस्थापक आचार्य मखलि गोशाल थे। शान्ति पर्व मे मकि ऋषि के नाम से उनकी कहानी आई है और वही उनके मत के पाँच सिद्धान्त बताए गए हैं— वे इस प्रकार है १. सर्वसाम्य (सबको समान समझना), २ अनायास (हाथ पैर न हिलाना, परिश्रम न करना), ३. सत्यवाक्, ४. निर्वेद (कर्म के प्रति नितान्त उपेक्षा), ५. अविवित्सा (किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा न करना, तृष्णा त्याग यहाँ तक कि आत्मा आदि के विपय मे भी बौद्धिक प्रयत्न या ऊहापोह का परित्याग) —

एतान्येव पदान्याहु पञ्च वृद्धा प्रशान्तये। (शान्ति, १७१।२–३)। कर्म मत करो, शान्ति ही श्रेयस्कर है—यह मस्करी परिव्राजको का दृष्टिकोण था, जैसा कि पतञ्जलि ने लिखा है (मा कर्म कार्षी, शान्तिर्व श्रेयसी)। निर्वेद, निवृति, तृप्ति, शान्ति ये दिष्टवाद के अग थे। भाग्य के मानने वाले, सत्य, दम, क्षमा और सर्वभूत दया को भी मानते थे, पर उनके मतवाद का सबसे बडा तमचा भाग्य या दैव में अटल विश्वास था। (शान्ति १७१। १३,४५)।

नियतिवाद की विशेष व्याख्या

प्रज्ञावाद के निरूपण मे विदुर ने इन मतो का बहुत ही कुशलता से खडन करते हुए अपने कर्मपरायण मत का प्रतिपादन किया है। नियति-वाद भूत, भविष्य और वर्तमान के हरएक पल को और जीवन के हरएक कर्म को बिल्कुल बँधा हुआ मानता है, उसमे मनुष्य को बुद्धिपूर्वक कर्मकी गुजायश नही रहती।' नियति मे प्रज्ञा या बुद्धि से कुछ प्रयोजन नही।

अतएव नियतिवाद का उलटा दर्शन आयतिवाद कहलाता था। उसके अनुसार बुद्धिपूर्वक कर्म से भविष्य को सुधारा जा सकता है। विदुर आयतिवाद और प्रज्ञावाद के समर्थक थे, जैसा धृतराष्ट्र ने कहा है—

सर्व त्वमायति युक्त भाषसे प्राज्ञसम्मतम् ।
न चोत्सहे तु त त्यक्तुं यतो धर्मस्ततो जय ॥

नियतिवाद के अनुसार विधाता ने जेसा भविष्य लिख दिया है वैसा होकर रहेगा। प्रज्ञावाद के अनुसार पराक्रम से अनर्थ को टाला जा सकता है और बुद्धि से भविष्य को सुधारा जा सकता है (३९।३२,४१)। भाग्यवादी कहते थे कि हाथ पैर हिलाने से कुछ लाभ नही, आयास या यत्न व्यर्थ है। इसके उत्तर में प्रज्ञावाद उत्त्थान, समारम्भ एव पराक्रम का दृष्टिकोण रखता है (३९।५४,३२)। विदुर के अनुसार इन्द्रियो का कर्म छोड वैठना ऐसा ही है, जैसे मृत्यु हो जाना (३९।३८)। उत्साह ही जीवन है। जिन्होने उत्साह छोड दिया उन्होने मानो लक्ष्मी और श्री से से भी विदा ले ली। नियतिवाद निर्वेद या वैराग्य पर जोर देता है, किन्तु प्रज्ञावाद के अनुसार अनिर्वेद या उत्साह परायण कर्म ही सुख की प्राप्ति, दुख के नाश और श्री का मूल है। जिसका मन नही वुझा वही जीवन में महान् वन सकता है (३९।४४)। नियतिवादी भी क्षमा का उपदेश करते थे किन्तु प्रज्ञावाद के अनुसार जो प्रभविष्णु या सामर्थ्यवान् है उसी की क्षमा सच्ची क्षमा है। जो अशक्त है उसके पास तो क्षमा के सिवा और कुछ है ही नही। जो अर्थ और अनर्थ दोनो को एक समान समझ वैठा हो वही नित्य क्षमा का आश्रय लेता है।

नियतिवाद में सर्वसाम्य या सवको वरावर समझा जाता था किन्तु प्रज्ञावाद छोटे और वडे, विद्वान् और मूर्ख में उचित भेद करता है। इसके अनुसार छोटो को वडो का स्वागत , सत्कार अभिवादन करना आवश्यक है (३८।१, ३९।६०)। सर्वसाम्य का यह भी अर्थ था कि व्यक्ति को निन्दा और प्रशमा में शोक या हर्ष नही मानना चाहिए। इसका समर्थन प्रज्ञावादी

विदुर ने भी किया है, (३६।१५)। इन वादो के अनेक सिद्धान्त प्रज्ञावादी बुद्ध के दर्शन मे भी जा मिले हैं। धम्मपद के अनेक स्थलो की तुलना प्रज्ञावाद या नियतिवादियो के दृष्टिकोण से की जा सकती है। धम्मपद मे पडित को निन्दा या प्रशसा से अलग रहने का उपदेश दिया गया है (धम्म, ८१)। यह विदुर के 'निन्दाप्रशसासु समस्वभाव' से मिलता है।

नियतिवाद मे सत्यवाक् का उपदेश दिया गया है। प्रज्ञावाद उसकी व्याख्या को आगे बढाते हुए वाक्य के चार रूप मानता है। तूष्णी या मौन भाव सबसे अच्छा है। बोलना ही पडे तो सत्य कहना, सत्य भी जो प्रिय हो, और प्रिय भी ऐसा जो धर्मयुक्त हो। विदुर के प्रज्ञावाद में रुक्ष या कटीली वाणी की बहुत निन्दा की गई है। जो मर्म, हड्डी, हृदय और प्राणो को छेद दे ऐसी घोर वाणी मनुष्य को जलाकर राख कर देती है। प्रज्ञावाद मे उसके लिए कोई स्थान नही। हृदयस्थ प्रज्ञा देवी ही तो वाग्देवी के रूप मे प्रकट होती है। प्रज्ञावाद मे जैसे श्री का महत्व माना गया है वैसे ही वाक् या सरस्वती का भी। महाप्राज्ञ महर्षि हस और साध्यो के सवाद में सर्व-प्रथम धर्ममयी और काव्यमयी उदार वाणी पर ही बहुत बल दिया गया है। जो प्रज्ञामयी वाणी है उसे ही काव्यमयी कहा जाता है। प्रज्ञावाद मे सबसे अधिक गौरव आर्जव या हृदय की शुद्ध और सरलता को दिया गया है। विदुर धृतराष्ट्र को बार-बार आर्जव का महत्व समझाते हैं—

सर्वतीर्थेषु वा स्नान सर्वभूतेषु चार्जवम्।
उभे एते समे स्यातामार्जव वा विशिष्यते॥

यद्यपि नियतिवादी आचार्य मखलि गोशाल ने भी सर्वभूत दया का उपदेश दिया है (शान्ति १७१।४५), पर नियतिवाद के अनुयायी धृतराष्ट्र के लिए कौरव-पाण्डव दोनो मे ऋजुता और समता की नीति से व्यवहार करना सभव नही हो रहा था। इस सघर्ष मे आर्जव का प्रयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए था इसी के बताने के लिए विदुर ने विरोचन और सुधन्वा का वह दृष्टान्त सुनाया था। माया, छल, जिह्मता या टेढापन इनके लिए प्रज्ञावाद मे कोई स्थान नही।

ज्ञात होता है कि नियतिवाद के साथ ही योनिवाद का भी कुछ समझौता था। योनिवाद के अनुसार जन्म ही पुरुष के पद का निर्णयकर्त्ता है, कुल या आचार नही। प्रज्ञावादी दार्शनिक इन दोनो के समन्वय में विश्वास करते थे। अर्थात् कुल भी प्रधान है, और आचार भी महत्वपूर्ण है। सदाचार से ही कुलो को महिमायुक्त बनाया जाता है। अतएव इसी प्रसग में प्रज्ञावाद दर्शन के अन्तर्गत महाकुलो की विशेपताओ का वर्णन किया गया है। नियतिवाद की दृष्टि से व्यक्ति के गुणो का कुछ मूल्य नही क्योकि उत्कर्प और अपकर्प का निर्णय भाग्य ही कर देता है। इसके विपरीत प्रज्ञावाद गुणो का समर्थक है। व्यक्ति स्वय अपनी बुद्धि से और पुरुपार्थ से गुणो का उपार्जन कर सकता है एव उनसे धर्म, अर्थ, काम की उपलब्धि कर सकता है। विद्या, तप, इन्द्रिय निग्रह, त्याग, शान्ति, स्वाध्याय, दान, धृति, सत्य, शम आदि सद्गुणो से व्यक्ति का उत्थान सभव है, इसमें भाग्य बाधक नही। कोई धन से बडे और कोई गुण से बडे होते हैं। धन-वृद्ध की अपेक्षा गुण-वृद्ध श्रेष्ठ है। ज्ञात होता है कि भाग्यवादी धन के उत्कर्प को बडप्पन का हेतु मानते थे और प्रज्ञावादी गुणो को।

भाग्यवाद मे धर्म के लिए स्थान नही, किन्तु प्रज्ञावाद की मूलभित्ति धर्म ही माना जाता था —

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् ।
धर्म त्यजेज्जीवितस्यापि हेतो. ॥
नित्यो धर्म सुखदु खे त्वनित्ये ।
नित्यो जीवो धातुरस्य त्वनित्य ॥ (उद्योग, ४०।११-१२)

अर्थात् काम से, भय से, लोभ से या प्राणो के भय से भी धर्म को न छोडना चाहिए क्योकि धर्म नित्य है और सुख-दुख अनित्य हैं, जीव नित्य है और शरीर अनित्य है। अनित्य को छोडकर नित्य का आश्रय लेना चाहिए। यह उत्तम श्लोक ही महाभारत के दृष्टिकोण की कुजी है। इसे सम्पूर्ण महाभारत के अन्त में पुन दोहराते हुए भारत-सावित्री कहा गया है।

नियतिवाद का पाँचवाँ सिद्धान्त अविवित्सा अर्थात् वस्तुओ को प्राप्त करने की इच्छा का निराकरण था। इसके विपरीत प्रज्ञावाद विवित्सा का समर्थन करता है, अर्थात् मनुष्य को व्यवहारिक जीवन मे घर-गृहस्थी, खान-पान, वस्त्र-शयनासन, भूमि, राज्य-शासन आदि सबमे रुचि लेनी चाहिए। जो कुछ भाग्य ने दे दिया नियतिवादी उससे सतोष मान लेता है, किन्तु पुरुषार्थवादी या प्रज्ञावादी कुटुम्ब, खेत, भूमि, घर, रहन-सहन, भोजन-वस्त्र सबको अच्छे कुल की कसौटी समझता है और उनमे सुधार करना चाहता है (३९।३२)। यदि घर में दरिद्रता के कारण जीविका का अभाव है तो उसे भाग्य पर न टाल कर विनय या जीवन में प्राप्त शिक्षा से उपलब्ध करना चाहिए (अवृत्ति विनयो हन्ति हन्त्यनर्थ पराक्रम, ३९।३३)। कार्य मे अध्यवसाय प्रज्ञा का लक्षण है। कभी ऐसा भी देखने मे आता है कि बुद्धि होने पर भी धन लाभ नही होता और मूढ के पास रुपये पैसे की तरावट देखी जाती है। ऐसी घटना से प्रज्ञावादी को घबड़ाना नही चाहिए। लोक-पर्याय धर्म से ऐसा सभव है किन्तु अन्त मे प्रज्ञा का फल मिलता ही है। भाग्यवादी मूढ जन विद्यावृद्ध, शीलवृद्ध, बुद्धिवृद्ध आदि वृद्ध जनो का अपमान कर बैठते है क्योकि वे गुणो को नही मानते।

जब धृतराष्ट्र ने स्पष्ट शब्दो में विदुर से यह कहा कि भाग्यवाद ही यहाँ सब कुछ है तो विदुर को अपना उत्तर बहुत सोच समझ कर देना पडा। विदुर ने सोचा कि यदि दिष्टवाद का सीधे खडन किया जाय तो धृतराष्ट्र को अच्छा न लगेगा। उन्होने कहा—"यदि स्वय बृहस्पति भी बिना अवसर की बात कहें तो उन्हे नीचा देखना पड़ेगा।' ये बृहस्पति कौन हो सकते है? इस प्रश्न के उत्तर मे हमारा ध्यान लोकायत दर्शन के सस्थापक आचार्य बृहस्पति की ओर जाता है जो चार्वाक भी कहलाते थे। विदुर का तात्पर्य यही था कि बृहस्पति के समान भी कोई सुन्दर भाषण करने वाला हो तो उसे भी अवसर के अनुकूल ही बोलना चाहिए। इस भूमिका के बाद मे विदुर ने द्वेष्य और प्रिय व्यक्तियो का विवेचन किया—"मन जिसे अप्रिय मानता है उसे उसका कुछ भी अच्छा नही लगता, पर प्रिय का सब कुछ सुहाता

है। नियतिवादी की दृष्टि में प्रिय वह है जो दान से, चापलूसी से या मन्त्रौषधि से प्रिय बन जाता है किन्तु प्रज्ञावादी उसे ही प्रिय मानता है जो सहज स्नेह से प्रिय और हितू है। इसी प्रकार क्षय और वृद्धि भाग्य के खेल नहीं इनमें भी मनुष्य के पुरुषार्थ का करिश्मा और कर्म का जादू काम करता है। कैसा भी क्षय हो यदि उसके साथ पुरुषार्थ जुडा हुआ है और वह वृद्धि की ओर उन्मुख है तो उसे क्षय नही माना जा सकता। किन्तु कैसी भी समृद्धि हो यदि वह पुरुषार्थ से शून्य है तो उसे क्षय ही समझना चाहिए।" ज्ञात होता है कि बृहस्पति के लोकायत दर्शन का भी किसी अश में मखलि गोशाल के प्रत्यक्षवादी दर्शन में अन्तर्भाव हो गया था। भिन्न-भिन्न दर्शनो के इन बटे हुए तारो को पहचानने और अलग करने के लिए बहुत प्रयत्न और धैर्य की आवश्यकता है।

अविवित्सा का एक अर्थ अधिक जानने की इच्छा का अभाव भी है। नियतिवादी या अन्य नास्तिक दर्शन आत्मा ब्रह्म आदि के सबध में ऊहापोह से भागते थे। ऐसा मानने वाले गुरुकुलवास या पढने लिखने को व्यर्थ समझकर खट्वारुढ बन जाते थे। अर्थात् वैदिक स्वाध्याय और चरणो के नियमित अध्ययन से विमुख होकर गृहस्थ हो जाते थे (३९।२७)। प्रज्ञावाद की दृष्टि से ऐसा करना, उचित नही क्योकि उससे बाद में पछताना पडता है। नियतिवाद का परिणाम श्रमणधर्म था, अर्थात् घर-बार छोड-कर वैराग्य साध लेना। यह अच्छी स्थिति न थी। प्रज्ञावादी की दृष्टि मे अग्निहोत्र, शील, सदाचार, विवाह, दान, भोग, स्त्री, धन, अध्ययन और वेद इन सबका मूल्य है और जीवन में सबके लिए इनकी आवश्यकता है। धम्मपद के मलवग्ग और क्रोधवग्ग के कुछ श्लोक और विचार प्रज्ञावादी दर्शन में ज्यो के त्यो पाए जाते है, जैसे अक्रोधेन जयेत्क्रोधमसाधु साधुना जयेत् आदि।

विदुर नीति प्रज्ञावाद का रोचनात्मक शास्त्र प्रतीत होता है। आस्तिक ब्रह्मवाद या कर्मयोग का समन्वय प्रज्ञावादी दर्शन से था। कृष्ण ने गीता में 'प्रज्ञावादाश्च भाषसे' (गीता, २।११) कहकर अर्जुन के प्रज्ञावाद की कुछ

हँसी की है। किन्तु वह असली प्रज्ञावाद की निन्दा नही, वह तो प्रज्ञावाद का रगा चोला पहने हुए उन झूठे विचारो की निन्दा है जिनके द्वारा अर्जुन कर्म और पुरुषार्थ पर हरताल पोत देना चाहता था। यह कहा जा चुका है कि धृतराष्ट्र नियतिवादी और विदुर एव युधिष्ठिर प्रज्ञावाद के अनुयायी थे। धृतराष्ट्र ने प्रज्ञावादी युधिष्ठिर के बारे मे चर्चा छेडी थी कि वे किस प्रकार रहते और कर्म करते है। विदुर ने बहुत तरह से प्रज्ञावाद का दृष्टि-कोण धृतराष्ट्र के सामने रखा पर फल कुछ न निकला। ढाक के वही तीन पात। अन्त मे धृतराष्ट्र ने स्पष्ट कह दिया—"हे विदुर, तुम जैसा कहते हो ठीक है। तुम्हारे समझाने से मेरी मति भी वैसी बन जाती है। पर पाण्डवो के प्रति मेरी वह बुद्धि दुर्योधन को देखते ही चट बदल जाती है। कोई भी मनुष्य दिष्टि या भाग्य का उल्लघन नही कर सकता। इसलिए भाग्य प्रधान है, पौरुष निरर्थक है (४०।२८-३०)। किस शिष्य मे शिक्षक का प्रयत्न कभी ऐसा व्यर्थ हुआ होगा ? धृतराष्ट्र तो केवल कान के रसिया थे। उन्होने शुरू मे ही कहा था—"हे विदुर, तुम कहो, मै सुनने के लिए ही बैठा हूँ (३९।१)।" इस कान से सुना उस कान से निकाल दिया—यही धृतराष्ट्र का रवैया था। हृदयपरिवर्तन के लिए सच्चा प्रयत्न और निश्चयात्मक विचार धृतराष्ट्र के चरित्र मे न था। अतएव सुनने के लिए उन्होने एक करवट और ली, जैसा हम सनत्सुजात नामक पर्व के अगले प्रकरण में देखते है।

: ४६ :

ऋषि सनत्सुजात का उपदेश

(अ० ४१-४६)

उद्योग पर्व के अ० ४२ से अ० ४५ तक का नाम सनत् सुजात पर्व है जिसे सनत्सुजातीय भी कहते है क्योकि इसमे महर्षि सनत्सुजातकृत अध्यात्म-

विद्या का उपदेश है। इस प्रकरण का महत्त्व इस वात से प्रकट है कि इसपर श्री शकराचार्य ने भाष्य लिखा है। शान्ति पर्व (३८।१२) के अनुसार सनत्कुमार पिता ब्रह्मा के ज्येष्ठ पुत्र थे जिनसे भीष्म ने अध्यात्म शास्त्र की शिक्षा पाई थी। एक दूसरे स्थान पर (शान्ति अ० ३२७) यह कल्पना की गई है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दो मार्गों के आदिकर्त्ता दो प्रकार के सप्तर्षि थे। मरीचि, अगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ ये सात ब्रह्मा के मानसपुत्र प्रवृत्तिधर्मी सप्तर्षि थे जिन्होने क्रियामय प्राजापत्य मार्ग का अनुसरण किया। इनके ज्ञान का स्रोत वेद विद्या थी। अतएव ये वेदाचार्य कहे गए। इनके प्रवृत्ति मार्ग को भागवतो ने अनिरुद्ध इस प्रतीक सकेत से स्वीकार किया (३२७।६१–६३)। ब्रह्मा के दूसरे मानसपुत्र सप्तर्षि निवृत्ति मार्ग के अनुयायी हुए। सन, सनत्सुजात, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन, कपिल, ये सात मोक्षशास्त्र के आचार्य और मोक्षधर्म के प्रवर्तक थे। इन्हें योगविद् और साख्यधर्मविद् कहा गया है (शान्ति पर्व अ० ३२७।६४–६६)। प्राचीन धर्म और अध्यात्मसाधना की ये दो धाराए किसी समय एक दूसरे से मिल गई और उस समन्वय के फलस्वरूप भागवत धर्म का विशेष प्रचार हुआ जिसमे भुक्ति और मुक्ति इन दोनो आदर्शों पर वल दिया गया। छान्दोग्य उपनिषद् में कथा आती है कि नारद अपने समय के सवसे वडे वेदाचार्य अर्थात् ऋक् यजु साम रूपी त्रयी विद्या और वेदागो के परम ज्ञाता थे। वे एक वार सनत्कुमार के पास उपदेश के लिए गए। वहाँ नारद को वेदवित् और सनत्कुमार को आत्मवित् कहा गया है। आत्मविद्या की परम्परा मे ही सनत्कुमार और सनत्सुजात आदि सप्तर्षि थे। इन्ही से साख्य शास्त्र के निवृत्तिमार्ग की परम्परा विकसित हुई और उसी परम्परा में आगे चलकर श्रमणधर्म का विकास हुआ। उपनिषद् की कथा में नारद और सनत्कुमार वेदविद्या और आत्मविद्या के प्रतिनिधि है। यो तो मूल में वेद ही क्रियामार्ग अर्थात् कर्मकाण्ड और ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या का एक मात्र स्वरूप था। वैदिक दर्शन मुख्यत ब्रह्मदर्शन ही है, किन्तु क्रमश गृहस्थो के लिए कर्मकाण्ड और मुमुक्षुओ के

लिए ब्रह्मविद्या इन दो विचारधाराओ ने जन्म लिया। निवृत्तिमार्गी आचार्यों को स्वयमागतविज्ञान कहा गया है अर्थात् इन आचार्यो के मन मे ज्ञान का प्रादुर्भाव स्वय अपनी साधना से हुआ, शब्दमय वेदविद्या के पारायण और अध्ययन के फलस्वरूप नही।

'स्वयमागतविज्ञान' (शा० ३२७।६५) शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। व्याकरण शास्त्र मे स्पष्ट उल्लेख आता है कि कुछ विद्याओ का अध्ययन. अध्यापन वैदिक चरणो के अन्तर्गत हो रहा था और कुछ ऐसे नये शास्त्र भी थे जिनकी उद्भावना चरणो से बाहर विद्वान् आचार्य स्वय कर रहे थे। शाकटापन और पाणिनि के व्याकरण ऐसे ही थे। इन शास्त्रो को तदुपज्ञ अर्थात् आचार्यविशेष की बुद्धि से उत्पन्न कहा जाता था। दर्शन के क्षेत्र मे तदुपज्ञ चिन्तन को ही स्वयमागतविज्ञान कहा गया है। सनत्सुजात और कपिल इसी परम्परा के थे। इसके विपरीत नारद चरणो के अन्तर्गत वैदिक परम्परा के आचार्य थे। पहली परम्परा में ही और अधिक स्वतन्त्र विकास के अनन्तर प्रज्ञावादी बुद्ध और महावीर जैसे स्वतन्त्र आचार्यों ने जन्म लिया।

प्रज्ञादर्शन मे कर्म-ज्ञान का समन्वय

विदुरनीति के सबध में कहा जा चुका है कि वह साक्षात् प्रज्ञावाद दर्शन का ग्रन्थ था। उसकी उक्तियो का झुकाव न केवल मखलिगोशाल के नियतिवाद की काँट-छाँट करना है बल्कि प्राचीन वैदिक कर्मयोग परायण गृहस्थमार्ग को गौरव प्रदान करना भी है। प्रश्न यह है कि प्रज्ञावाद दर्शन के तुरन्त बाद ही सनत्सुजातीय प्रकरण को रखने मे महाभारतकारका क्या हेतु हो सकता था। प्रज्ञावाद अत्यन्त व्यापक दर्शन था। कृष्ण प्रज्ञावादी थे। बुद्ध भी प्रज्ञावादी थे किन्तु कृष्ण ने वैदिक कर्मयोग का आश्रय लिया और बुद्ध प्रज्ञावाद के मार्ग पर चलते हुए भी श्रमणधर्म या निवृत्ति मार्ग के प्रभाव मे आ गए और उन्होने व्यवहार मे साख्यविदो की त्यागप्रधान परम्परा को ही उत्तम समझा। हम देख चुके है कि सनत्सुजात उसी निवृत्तिमार्गी परम्परा के आचार्य थे जिसके साख्यविद् कपिल। किन्तु सनत्सुजात

स्वतत्र चिन्तन के समर्थक होते हुए भी वैदिक परम्परा से दूर न हटे थे और वेद की उच्च अध्यात्म विद्या या ब्रह्मदर्शन उन्हें मान्य था। तत्त्वचिंतन के विकास में यह स्थिति निश्चय बुद्ध के पूर्व रही होगी। कृष्ण ने भी एक ओर प्रज्ञावाद और उससे मिले हुए कर्म और पुरुषार्थ को अपनाया एव दूसरी ओर वैदिक विचारधारा का जो तेजस्वी ब्रह्मदर्शन था उसे वहुत पल्लवित रूप में प्रतिपादित किया है और उससे भी अधिक विचित्रता यह है कि निवृत्तिमार्गी साख्य कपिल की विचारधारा को भी पर्याप्त आदर दिया है। विचारो के ये भिन्न-भिन्न तन्तु जो महाभारत के कई प्रकरणो में फैले हुए स्पष्ट दिखाई पडते है, अति सुन्दरता से गीता के वुद्धियोग शास्त्र में एक में वट दिये गये हैं। गीता शास्त्र की इस काव्यमयी कला को देखकर हार्दिक रोमाच होता है। वहुत विशिष्ट कल्याणमयी प्रज्ञा से ही इस प्रकार की युक्ति सभव हो सकती है। वस्तुत अकेला प्रज्ञावाद भी जीवन के लिए पूर्ण दर्शन नही वन सकता जव तक उसके साथ ब्रह्मवाद का मेल न हो। पर यह ब्रह्मवाद केवल कहने-सुनने की वस्तु न हो और न शुष्क तर्क का मुखापेक्षी हो। इसे तो अनुभव के भीतर से पल्लवित होना चाहिए और इसका अटूट प्रवाह हृदय के भीतर से आना चाहिए। गीता की यही विशेषता है। उसका ज्ञान-सुपर्ण प्रज्ञावाद और ब्रह्मवाद इन दोनो पखो को एक साथ फडफडाकर उडना चाहता है। विदुरनीति और सनत्सुजात पर्व जानवूझकर एक दूसरे के साथ रखे गए है पर इनमें गीता जैसी कलात्मकता नही। हाँ, दो प्राचीन दर्शनो की वहुव्यापी पृष्ठभूमि अवश्य है जो उपनिपत्कालीन ज्ञानमथन के द्वार को कुछ क्षण के लिए अनावृत्त कर देती है।

ऋषि सनत्सुजात का आना

विदुर द्वारा व्याख्यात प्रज्ञावाद दर्शन की दृष्टि को सुनकर भी धृतराष्ट्र पर कोई प्रभाव न हुआ। वे अपने दिप्टवाद या भाग्यवाद पर जमे रहे। उन्होंने कहा—"कोई भी प्राणी भाग्य का अतिक्रमण नही कर सकता। भाग्य ही कर्म का रूप है, पौरुप व्यर्थ है, पर यदि इससे अधिक तुम्हारे पास कुछ कहने

को हो तो सुनाओ। मुझे तुम्हारी बात अच्छी लगती है।" विदुर ने अपने प्रयत्न को यो निष्फल देखकर फिर स्वय कुछ कहने का साहस नही किया और उन्होने सनत्कुमार का परिचय देते हुए कहा कि वे मृत्यु को नही मानते और वे ही तुम्हारे हृदय के गुप्त और प्रकट प्रश्नो पर प्रकाश डालेगे। विदुर ने सनत्सुजात का ध्यान किया और वे वहाँ आ उपस्थित हुए। धृतराष्ट्र ने एकान्त मे पूछा—"हे भगवन्, मैने सुना है कि मृत्यु नही है यह आपका उपदेश है। देवता और असुरो ने भी मृत्यु को जीतने के लिये ब्रह्मचर्य धारण किया, क्या यह बात सत्य है ?"

सनत्सुजात ने उत्तर दिया—"किसी का मत है कि कर्म से अमृत मिलता है। औरो का कहना है कि मृत्यु है ही नही। ये दोनो मत पहले से चले आते है और दोनो ठीक है। प्रज्ञावान् मोह को मृत्यु मानते है, पर मेरा मत है कि प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद अमृत है। प्रमाद से असुर हारे। अप्रमाद से लोग ब्रह्मपद पा लेते है। मृत्यु बाघ की तरह मनुष्यो को नही खाती और न उसका कोई प्रकट रूप है। एक मत यह है कि यम ही मृत्यु है। इसके विपरीत ब्रह्मचर्य वास करता हुआ आत्मा अमृत का रूप है। मृत्यु कही बाहर से नही आती वह मनुष्यो के भीतर ही उत्पन्न होती है। क्रोध, प्रमाद, मोह ये ही तो मृत्यु के रूप है। इनसे मोहित व्यक्ति यहाँ से मरकर पुन वहाँ जाते हैं और फिर यहाँ आते हैं।"

सनत्सुजात का यह मत प्राचीन निवृत्तिमार्गी दर्शन का अग था। जैन और बौद्ध दर्शनो ने भी प्रमाद मृत्यु है, अप्रमाद अमृत है, इस सिद्धान्त को अपनाया था। धम्मपद के अन्तर्गत अप्पवाद वग्ग मे लिखा है—

अप्पमादो आमतपदं पमादो मच्चुनो पदम् ।
अप्पसत्ता नमीयन्ति ये पमत्ता मता यथा ॥

उत्तराध्ययन सूत्र के अप्पमाद अध्ययन मे महावीर ने गौतम गणधर को अप्रमाद का उपदेश दिया—'समय गोयम मा पमायये'।

वस्तुत ससार के दु खवादी दार्शनिको ने मृत्यु को सबसे भारी दुख

माना। फिर इस मृत्यु दुख से छूटने की मीमासा कई प्रकार से होने लगी। ब्रह्मचर्य सूक्त में वैदिक दृष्टिकोण का उल्लेख हुआ है कि ब्रह्मचर्य और तप से देवो ने मृत्यु को जीत लिया था (ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत) (अथर्व० ११।५।१९)।

अमृत के विषय में कर्मवादियो का मत भी दिया गया है। ये यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म मानने वाले कर्मकाण्डी पूर्वमीमासक जान पडते हैं जो यज्ञ कर्मों द्वारा स्वर्गादि की प्राप्ति को ही मृत्यु पर विजय मानते थे। मृत्यु कुछ है ही नही, यह दृष्टिकोण ज्ञानवादी निवृत्तिमार्गी आचार्यों का विदित होता है। सनातन ब्रह्मचारी सनत्कुमार कपिल आदि उनमें अग्रणी थे। यदि मृत्यु की पृथक् सत्ता होती तो ये सनातन आयुष्य का उपभोग न कर सकते। सनत्सुजातने अमृतत्व और अप्रमाद को पर्यायवाची मानते हुए यज्ञादि वाह्य-कारणो से मृत्यु को हटाकर अमृत प्राप्त करने का निराकरण किया है। वे उसे एक नैतिक प्रश्न के रूप मे देखते हैं, जैसे बुद्ध ने मीमासको के कर्म-वादको बाह्य हेतुओ से छुडाकर आतरिक नैतिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया था। क्रोध, प्रमाद, मोह ये मनुष्य के भीतर से ही उत्पन्न होते हैं और इन्ही का नाम मृत्यु है। यदि पितृलोक में धर्मराज यमको मृत्यु का देवता मान लिया जाय तो वे भी स्वय निरपेक्ष ही है। अतएव अच्छो के लिए अच्छे और वुरो के लिए बुरे यही उनका व्यवहार है (शिव शिवानाम-शिवोऽशिवानाम्)। क्रोध, प्रमाद, मोह रूपी असत्कर्मों का चक्र ही मनुष्य को जन्म-मरण के बधन में डालता है। यही कर्मोदय होने का कर्मफल है। जो विषयो में गुण देखता हुआ, अबुद्ध रहकर, उत्पन्न होते हुए विषयो के हनन में अनादर से काम लेता है, वह मृत्यु रूप हो जाता है। मृत्यु के समान तीव्रता से वह उन विषयो का भोग करता है। पर जो विद्वान् है वह कामो का हनन कर लेता है (४२।९)। कामना और तृष्णा के पीछे भागने वाला मनुष्य उन्ही के साथ नष्ट हो जाता है। जो कुछ यहाँ रजोगुण है मनुष्य कामो को उठाकर स्वय उसे उत्पन्न कर लेता है। तम और प्रकाश के

अभाव का ही नाम नरक है। जैसे कोई मुँह उठाए हुए गड्ढे की ओर जाता हो ऐसे ही मनुष्य उस नरक की ओर दौड रहे हैं। विषयो मे गुण का चितन यह पहली मृत्यु है। फिर काम, क्रोध उसे पकडकर मारते है। मूर्खो की मृत्यु यही है। जो धीर हैं वे धैर्य से इस मृत्यु रूप काम, क्रोध के पार हो जाते हैं। क्रोध, लोभ और मोह का अतरात्मा में प्रवेश यही शरीरस्थ मृत्यु है और बाहर कोई मृत्यु नही है जो बाघ की तरह बछडे को उठा ले जाय। इस प्रकार जो मृत्यु की उत्पत्ति को जान लेता है वह ज्ञान का आश्रय लेकर मृत्यु से नही डरता। उसके लिये फिर मृत्यु उसी तरह नही रहती जैसे मृत्यु के चगुल में पडा हुआ मनुष्य नही रहता। यह ज्ञानमार्गी साख्य-विदो का मत था जो कहते थे कि मृत्यु की वास्तविकता कुछ नही है।

धर्म और अधर्म का तारतम्य

इस भूमिका के बाद धृतराष्ट्र ने एक और टेढा प्रश्न पूछा—"कुछ मनुष्य धर्म का आचरण नही करते, कुछ करते है, तो सच बात क्या है? पाप धर्म को मार डालता है या धर्म पाप को।" प्रश्न जैसा स्पष्ट है सनत्सुजात का उत्तर भी वैसा ही स्पष्ट है—"धर्म और अधर्म दोनो का फल भोगना पडता है। विद्वान् धर्म से अधर्म को हटाता है। अवश्य ही उसके लिये धर्म अधर्म से बलवान है।"

धृतराष्ट्र का अगला प्रश्न ब्राह्मणो के उस बाह्य आचार के विषय में है जिसके द्वारा वे उत्तम लोको की प्राप्ति सभव मानते थे और जो उनके बाह्य आचार और कर्मकाड से जकडा हुआ था। वे लोग उसी की रट लगाते थे और उसके अतिरिक्त और कोई कर्म न मानते थे। उत्तर मे सनत्सुजात ने धम्मपद के ब्राह्मण वर्ग की तरह बाह्य आचारो का खडन करके नैतिक जीवन और सदाचार को ही श्रेष्ठ ब्राह्मणधर्म कहा—"बलधारी की भाँति ब्राह्मण को बल का घमड नही होता। सच्चा ब्राह्मण वही है जो इस लोक से नही, स्वर्ग के प्रकाश से प्रकाशित होता है। जहाँ वर्षाऋतु के घास-फूस की तरह बहुत-सा अन्न-पान भरा हुआ हो सच्चा ब्राह्मण उसके लिये सतप्त नही

होता। जो बधु बाधवो के बीच में रहता हुआ भी अज्ञातचर्या से रहता है वही ब्राह्मण है। जो अपरिग्रह या न लेने के व्रत मे कभी खिन्न नही होता वही ब्रह्मवित् ब्राह्मण है। जो मानुषी धन का धनी नही, वेदो का धनी है वही अडिग है और उसे ही सच्चा ब्राह्मण समझो। जो मान के लिये प्रयत्न नही करता फिर भी पूजित होता है उसी का मान सच्चा है। जिस सम्मान के लिये ब्राह्मण को स्वय प्रयत्न करना पडे वह मान नही। विद्वान् ही योग्य व्यक्ति को मान देते है, मूर्ख नही। इसलिये अमान से सतप्त न हो। मान और मौन कभी साथ नही रहते। मान से यह लोक मिलता है, मौन से वह लोक, ऐसा जानने वालो का कहना है। कुछ लोग श्री में सुख का वास मानते है, पर वह श्री विघ्नयुक्त है। प्रज्ञाशील की जो ब्राह्मी श्री है वही सच्ची श्री है। सत्य, आर्जव, ह्री, दम, शौच और विद्या ये छह उस श्री के द्वार है।"

पाप से बचने के लिए सत्य मे स्थिति आवश्यक है

धृतराष्ट्र ने फिर एक कटीला प्रश्न पूछा—"जो ऋक्, यजु या साम-वेदो को पढता हुआ पाप भी करता है उसे पाप लगता है या नही ?" सनत्सुजात का उत्तर और भी खरा है—"न साम, न ऋक्, न यजु, कोई भी पाप से रक्षा नही कर सकता, मै तुमसे मिथ्या नही कहता—

नैन सामान्यृचो वापि न यजूषि विचक्षण।
त्रायन्ते कर्मण पापान् न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम्॥ (उद्योग ४३।२)

"जो मायावी छल-कपट मे लीन है उसे वेद पाप से नही तारते। पख निकलने पर जैसे पक्षी घोसला छोड जाते हैं ऐसे ही अन्तकाल में उसे वेद छोड जाते हैं।"

उत्तर सुनकर धृतराष्ट्र कुछ विचलित हुए और उन्होने अधिक साहस के साथ कहा—"यदि वेद वेदविद् को नही बचा सकते तो ब्राह्मणो का यह सनातन प्रलाप क्यो होता आया है ?" उत्तर मे सनत्सुजात ने वेदो के सुग्गा

पाठ और तपोमय सत्यपरायण जीवन इन दोनो के तारतम्य पर ध्यान दिलाया। यहाँ उस समय के विद्वानो को तीन वर्गों मे बाँटा गया है। पहले वे है जो बहुपाठी अर्थात् पदक्रम, जटा, घन आदि की रीति से वेदो को कठ रखते थे उन्हे छन्दोविद् कहा जाता था। दूसरी कोटि मे वे विद्वान् थे जो वेदवेदिता कहलाते थे, अर्थात् षडग वेद का जो अर्थसहित अध्ययन-अध्यापन करते थे। वे शुष्क छन्दविदो से कुछ अच्छे थे। किन्तु उनसे भी बढकर तीसरी कोटि के वे विद्वान् थे जिन्हे वेद्यवित् कहा जाता था, अर्थात् जानने योग्य जो परम तत्त्व है उसे वे जानते थे। छन्दोवित्, वेदवित् और वेद्यवित् इन तीनो मे अतिम वेद्यवित् ही श्रेष्ठ है। जो केवल वेद जानता है वह वेद्य (जानने योग्य) को नही जानता। पर जिसने सत्य का आश्रय लिया है वह जानने योग्य को भी जान लेता है—

यो वेद वेदान् न स वेद वेद्यम्।
सत्ये स्थितो यस्तु स वेद वेद्यम्॥ (उद्योग० ४३।३१)

"मै तो उसी को वेद का चतुर आख्याता (अध्यापक) मानता हूँ जो स्वय छिन्नसशय हो गया हो। मौन तप से कोई मुनि बनता है, जगल मे बसने मात्र से नही। जो अक्षर तत्त्व को यथावत् जानता है वही श्रेष्ठ मुनि है। जब ब्राह्मण सत्य में प्रतिष्ठित होता है तभी ब्रह्म का दर्शन कर पाता है। चारो वेदो का क्रम से यही मत है।" छान्दोग्य उपनिषद् में भी सनत्कुमार ने नारद को सब कुछ बताकर अन्त मे सत्य का उपदेश किया है (सत्य त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति, ७।१६।१)। सदाचार और सत्य-दर्शन इन पर ही यहाॅ विशेष आग्रह किया गया है। कैसा भी बढा-चढा तप हो वह नीतिमय जीवन के बिना रीता है, और सच्चे धर्म के बिना वेद का ज्ञान भी कोरा बुद्धि का व्यायाम ही है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, शोक, मान, असूया, स्पृहा, विवित्सा (सग्रहवृत्ति), कृपा (दैन्य), घृणा ये बारह महा दोष है। जैसे शिकारी मृगो को ढूँढता है ऐसे ही इनमे से हरएक मनुष्य की टोह मे रहकर उसे अपने चगुल मे फँसाता है। इसके विपरीत ब्राह्मणवृत्ति मनुष्य के लिये ये बारह महाव्रत है—धर्म, सत्य, दम, तप,

यज्ञ, दान, श्रुत, धैर्य, अमात्सर्य, ह्री, तितिक्षा और अनसूया। जो इन बारह गुणो से शून्य है, अथवा दम, त्याग, और अप्रमाद ये तीनो या इनमे से दो या एक भी जिसके पास नही है उसका अपना आत्मा जैसे कुछ बना ही नही। दम, त्याग और अप्रमाद इनमें ही अमृत कही रखा हुआ है। मनीषी ब्राह्मण कहते हैं कि ये सत्य के तीन मुख है। इन तीन गुणो का विशेष उल्लेख यवन देशीय भागवत हिलियोदोर के विदिशास्थित गरुडध्वज लेख में भी पाया गया है। उसे अवश्य भागवतो ने महाभारत के इसी प्रकरण से लिया था। पंचरात्र भागवतो के पास धार्मिक चर्या तो अपनी थी किंतु दर्शन उन्होंने साख्यवादियो से लिया। जैसा पहले कहा जा चुका है सनत्सुजात का दृष्टि-कोण प्राचीन साख्ययोग की परम्परा से आया हुआ था।

सत्य ही एकमात्र वेद है

धृतराष्ट्र ने प्रश्न किया—"लोक मे अनेक प्रकार के विद्वान् हैं। कोई इतिहास-पुराण नामक पाँचवे वेद के ज्ञाता होने से प्रसिद्धि पाते हैं, कोई चतुर्वेद, कोई द्विवेद और कोई केवल एक वेद जानते हैं, और कोई ऋचाओ से बिलकुल कोरे है। इनमें सच्चा ब्राह्मण किसे माना जाय?" सनत्सुजात ने इस चुभते प्रश्न का स्पप्ट उत्तर दिया—"सत्य ही एकमात्र वेद है। सत्यरूपी एक वेद के अज्ञान से वेदो को बहुत कहा जाने लगा। जो अपने ज्ञान या बुद्धि को सत्य में स्थित कर लेता है उसी की प्रज्ञा महान् आत्मा मे प्रतिष्ठित होती है। जितने यज्ञ हैं, सत्य पर आरूढ होने से ही उनका वितान होता है।' इसके बाद सनत्सुजान ने अनैभृत्य सिद्धान्त का उल्लेख किया। नैभृत्य का अर्थ है चुपचाप रहना या सकोच। अनैभृत्य का आशय था प्रगल्भता, अर्थात् सत्य के आग्रह या प्रगल्भता से ही प्रवृत्तिमार्ग है, जिसमें यज्ञ दीक्षा भी सम्मिलित है, सफल होता है, और सत्य से ही निवृत्तिमार्ग की आध्यात्मिक शाति (धातु-निर्वृति) प्राप्त होती है। जो परोक्ष तप है, जब सत्य के धारण से वह जीवन मे प्रत्यक्ष बनता है तो वही ज्ञान कहलाता है (४३।२८)।

इस प्रकार सत्य को सब वेदो का सार और सच्चे ब्राह्मण की पहचान बताकर सनत्कुमार ने उस युग के विद्वानो की कई कोटियो का उल्लेख किया है। एक वे थे जो बहुपाठी कहलाते थे, अर्थात् पद-पाठ, क्रम-पाठ आदि की रीति से वेदो को कठ करते थे। पाणिनि के अनुसार इनका पारिभापिक नाम श्रोत्रिय था (श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते)। इस प्रकार के छन्दोविद आचार्य वेदो के अर्थ की ओर से उदासीन थे। वे स्वय वेदो का पारायण करते और छात्रो को उन्हे कठ कराते थे। इनसे ऊँची कोटि के वे विद्वान् थे जिन्हें वेद-वेदिता कहा जाता था, अर्थात् जो वेद के अर्थों को भी जानते थे और आचार्य रूप मे शिष्यो का उपनयन करके उन्हें वेद के रहस्य-ज्ञान की शिक्षा देते थे। इन्हे छान्दोग्य उपनिषद् के सनत्कुमार-नारद-सवाद मे वेद-वित् या मत्रवित् कहा गया है। वैदिक चरणो की परिभाषा मे यही 'आख्याता' पद धारण करते थे। किन्तु विद्वानो की एक कोटि इनसे भी ऊपर थी और सत्य का साक्षात् दर्शन करनेवाले आत्मवित् या ब्रह्मवित् पुरुषो की गणना इसमे की जाती थी। वेद्य अर्थात् सत्य या ब्रह्म के ज्ञाता होने के कारण इन्हे वेद्य-वेदिता कहा गया है। सत्य के दर्शन से जिनके हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है और जिनके सशय छिन्न हो जाते है ऐसे व्यक्ति विचक्षण आख्याता कहलाते थे, अर्थात् वे आचार्य जिन्होनें सत्य का स्वय दर्शन किया हो। वेदिता नामक विद्वानो मे जो एक शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करते उन्हे एकविद्य, जो कई शास्त्र जानते उन्हें भूयोविद्य और जो अपने युग के सब शास्त्रो मे पारगत होते थे उन्हे सर्वविद्य या महाब्रह्मा कहा जाता था। किन्तु आत्मवित् या ब्रह्मवित् का पद सर्वविद्य से भी ऊपर था। यही उस समय ज्ञान के क्षेत्र की तरलता थी। ग्रन्थ-पाठ की अपेक्षा प्रत्यक्ष दर्शन का अधिक मूल्य समझा जाता था। जो लोक का प्रत्यक्ष दर्शन करता है वही सच्चा सर्वज्ञ है—

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः। (४३।३६)

ज्ञात होता है कि महाभारत के सनत्सुजात ऋषि और छान्दोग्य उपनिपद् के सनत्सुजात आचार्य एक ही व्यक्ति थे। जिस प्रकार सनत्सुजात

ने यहाँ सत्य को एकमात्र ब्रह्मदर्शन का हेतु कहा है (सत्ये वै ब्राह्मणस्तिष्ठन् ब्रह्म पश्यति क्षत्रिय, ४३।३७)। उसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार भी नारद को अन्त में सत्य का ही उपदेश करते हे (सत्य त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। सत्य भगवो विजिज्ञास इति, छा० उप० ७।१५।१)।

महाभारत का यह सनत्सुजातीय प्रकरण प्राचीन अध्यात्मविद्या का नवनीत है। इसमें चार अध्याय हैं। अध्याय ४२ में मृत्यु की समस्या पर विचार किया गया है। जीवन में प्रमाद या स्खलन का ही नाम मृत्यु है। यह सनत्सुजात की पहली स्थापना है। बुद्ध के प्रज्ञावाद में भी प्रमाद की इसी प्रकार निन्दा की गई है। अध्याय ४३ में सनत्सुजात ने इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर दिया है कि जीवन में शब्दमय राशि वेद का ज्ञान पर्याप्त नही है। यहाँ जीवन को सयम मे ढालकर सत्य के अनुसार आचरण ही महत्त्व-पूर्ण है। इसे ही अक्षर-ब्रह्म का साक्षात्कार कहते है। जिसने यह नही किया उसका वेद पढना व्यर्थ है। अब अध्याय ४४ में सनत्सुजात ने यह वताया है कि उस अक्षर-ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए ब्रह्मचर्य की दीर्घ-कालीन साधना आवश्यक है। काता और ले उडे की वृत्ति से ब्रह्मतत्त्व को कोई चटपट नही पा सकता (नैतद्ब्रह्म त्वरमाणेन लब्धम्)। अक्षर-ब्रह्म सम्बन्धी इस चर्चा को उस समय ब्राह्मी वाक् कहते थे (४४।१)। इसी का दूसरा नाम अव्यक्त विद्या था जो प्राचीन काल के ऋषियो की परम्परा मे सुविदित थी। यह सनातनी अव्यक्त विद्या प्रज्ञा और ब्रह्मचर्य से सिद्ध की जाती थी किन्तु धृतराष्ट्र ने स्पष्ट कहा है कि उनके समय मे कोई इस विद्या में रुचि नही लेता था। ब्रह्मतत्त्व या अमृतत्त्व की परम्परा उस समय टूट चुकी थी। इसी से इसे अनारब्धा कहा गया है। वेदो के कण्ठाग्र करने वालो की सख्या उस समय वढ गई थी। जैसा पतञ्जलि ने महाभाष्य के आरम्भ में लिखा है—लोगो की ऐसी वृत्ति हो गई थी कि इधर वेद पढा और उधर ज्ञान वघारने लगते थे। पूर्व काल में ऐसी वात न थी। सनत्सुजात का कथन है कि जैसे यत्नपूर्वक मूज के भीतर से सीक निकाली जाती है वैसे ही भौतिक देह के भीतर निगूढ आत्मतत्त्व

का साक्षात् दर्शन किया जाता है। भौतिक शरीर तो माता-पिता से मिल जाता है, किन्तु सत्य के ससार मे नया जन्म केवल आचार्य की कृपा से ही होता है। अतएव आचार्य के ज्ञानगर्भ मे प्रविष्ट होकर ब्रह्मचर्य का आचारण आवश्यक है। जो इस प्रकार ज्ञानसाधना करते है वे ही सच्चे पद के अधिकारी है और उन्हे जीवनयोग सिद्ध होता है। इसके उपरान्त यह बताया गया है कि गुरु कौन है और शिष्य को किस प्रकार उसके समीप जीवन बिताना चाहिए। जो तपश्चर्या द्वारा शरीर की चर्बी जला कर उसे झकझोर डालता है (य आशयेत् पाटयेच्चापि राजन् सर्वं शरीर तपसा तप्यमान, ४४।१६) वही जीवन मे अपनी मूर्खता को जीत पाता है और अमृत की प्राप्ति से मृत्यु को हटा पाता है। जीवन मे ब्रह्म को कभी न कभी जानना ही होगा, दूसरा मार्ग या गति नही (नान्य. पन्था अयनाय विद्यते)।

उस समय लोग ध्यान मे नीला, काला, लाल, श्वेत रङ्ग देखने का ढोग रचते थे और उसे ब्रह्मदर्शन कहते थे। धृतराष्ट्र ने प्रश्न किया कि क्या सचमुच अमृत अक्षर ब्रह्मत्त्व का कोई ऐसा रङ्ग है। सनत्सुजात ने स्पष्ट कहा कि सफेद, लाल, काले, नीले रङ्गो की कोई कल्पना ब्रह्म मे नही है। वह पृथिवी मे, अन्तरिक्ष मे, समुद्र के जल मे, आकाश मे, ताप मे, मेघ और विद्युत् मे, चन्द्र और सूर्य मे, ऋक्, यजु, साम, और अथर्व मे, बृहत् और रथन्तर मे किसी के रूप में नही है और सब उसी के रूप है। अणु और महान् रूपो मे उसी की सत्ता है। वही विश्व की प्रतिष्ठा और अमृत है। उस ब्रह्म की ही सज्ञा यश या विश्व का सुन्दर पूर्णतम स्वरूप है (४४। १९-२३)।

सनातन ब्रह्म की व्याख्या

औपनिषद ब्रह्म की इस प्रकार व्याख्या करके अगले अध्याय मे सनत्सुजात ने उपनिषदो और वेदो के वाक्याशो को लेकर अत्यन्त उदात्त शैली एव रोचनात्मक शब्दो मे सनातन ब्रह्म का गान किया है। 'योगिनस्त प्रपश्यन्ति

भगवन्त सनातनम्' यह इस सुन्दर अध्यात्म गीत की टेक है। वेद, उपनिपद्, गीता आदि के सुन्दर वाक्याश लेकर इस माला को गूथा गया है। इसकी शैली अध्यात्म भावो की दृष्टि से अत्यन्त आकर्षक है। उदाहरण के लिए—'सुनहले पत्तो वाला एक अश्वत्थ है। जबतक पख नही निकलते तबतक पक्षी उस पर बैठते हैं। किन्तु पख निकलने पर वे मनचाही दिशा में उड जाते हैं। सनातन ब्रह्म ही वह हिरण्यपर्ण अश्वत्थ है जिसका दर्शन योगियो को मिलता है औरो को नही।'

जैसा ऊपर कहा है यह सनत्सुजातीय प्रकरण उपनिषद् युग के अध्यात्म-प्रधान साहित्य से छटककर महाभारत में आ गया है। उस युग में भिन्न-भिन्न मति, दृष्टि या दिट्ठिया थी। उनके भी इसमें कई सकेत हैं और तत्सम्बन्धी शब्दावली भी पाई जाती है। गीता मे 'ध्यायतो विषयान् पुस सङ्गस्तेपूपजायते' (गीता २।६२–६३) इत्यादि श्लोको में विपयो के ध्यान से क्रमश मानव के विनाश या विनष्ट होने की बात कही गई है। उसे ही प्राचीन परिभाषा में अभिध्या कहते थे—

अभिध्या वै प्रथम हन्ति चैन कामक्रोधौ गृह्य चैन तु पश्चात्।
एते बालान् मृत्यवे प्रापयन्ति धीरास्तु धैर्येण तरन्ति मृत्युम् ॥

यद्यपि सनत्सुजात के इस अध्यात्म प्रकरण पर शकराचार्य का भाष्य उपलब्ध है, किन्तु विभिन्न दिट्ठियो के इतिहास और प्राचीन पारिभाषिक शब्दावेली के सकेतो की दृष्टि से महाभारत के इन चार अध्यायो पर पुन स्वतन्त्र अनुसधान होने की आवश्यकता है।

: ४७ :

यानसंधि पर्व

(अ० ४७–७१)

ऊपर कहा जा चुका है कि धृतराष्ट्र ने सजय को पाण्डवो के पास इस उद्देश्य से भेजा था कि युद्ध करने के विषय में उनके विचारो और चेष्टाओं की थाह ले (अ० २०–३२)। इसके बाद के प्रजागर पर्व (अ० ३३–४०) और सनत्सुजात पर्व (४१–४६) ये दो लम्बे प्रकरण धृतराष्ट्र के समय बिताने के लिए रक्खे गए है। अब फिर कथासूत्र पहले के साथ जुड जाता है।

संजय का लौटकर हाल कहना

प्रात काल होने पर धृतराष्ट्र की सभा जुडी और भीष्म, द्रोण, दुर्योधन आदि सव प्रमुख लोग पाण्डवो का उत्तर जानने के लिए उत्सुकता से एकत्र हुए। सभा में धृतराष्ट्र ने सजय से पूछा—"हे सजय, पहले बताओ कि युद्धो मे अग्रणी अर्जुन ने क्या कहा?" इसके उत्तर में सजय ने एक सौ तीन त्रिष्टुप् श्लोको मे अर्जुन की ओर से पाण्डवो और कृष्ण के विविध पराक्रमो का वर्णन किया जिनमे अनेक प्रकार से दुर्योधन को घुडकते हुए युद्ध के भयकर परिणाम के विषय में सावधान किया गया है। यह प्रकरण (अ० ४७) अत्यत तेजस्वी भाषा में भागवतो द्वारा लिपिबद्ध किया गया जान पडता है। इसके अनतर भीष्म ने दुर्योधन से नर-नारायण की महिमा का बखान किया। उस कीर्तन को ब्रह्मा के मुख मे रक्खा गया है। इसके अनुसार नर-नारायण देवो के भी पूर्वज देव हैं। वे एक रथ मे स्थित सनातन महात्मा है। कृष्ण नारायण का रूप और अर्जुन नर का रूप है। एक ही शक्ति तत्त्व नारायण और नर के रूप मे द्विधा विभक्त हो गया है—

एष नारायण कृष्ण. फाल्गुनस्तु नर स्मृत ।
नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम् ॥ (४८।२०)

नर-नारायण की महिमा के विषय में यह दृष्टिकोण भागवतों की एकान्तिन् धारा का था जिसका उल्लेख भागवत में भी आया है।[1]

इस वर्णन से एक बात स्पष्ट कही गई है कि नर और नारायण पूर्व देव थे। वे ही वासुदेव और अर्जुन के रूप मे प्रकट हुए। इससे सूचित होता है कि वैदिक परम्परा मे नर-नारायण की जो उपासना स्वीकृत हो चुकी थी, उसे ही कालान्तर मे भागवतो ने वासुदेव और अर्जुन की पूजा के रूप मे स्वीकार किया—

वासुदेवार्जुनौ वीरौ समवेतौ महारथे ।
नर-नारायणौ देवौ पूर्वदेवावितिश्रुति ॥ (४७।१८-१०९)

इसी प्रसग में भीष्म ने कर्ण पर भी छींटा कसा कि वही दुर्योधन को अपने मत मे चलाता है और अपनी हैंकडी बघारता रहता है। कर्ण ने तुरन्त इसका प्रतिवाद किया कि मै क्षात्र धर्म का पालन करता हूँ, यदि मुझमें कोई आचार दोष हो तो कहिए। भीष्म से इनका कुछ उत्तर न बन पडा।

धृतराष्ट्र के प्रश्न के उत्तर मे सजय ने एक-एक पाडव के पराक्रम का बखान किया। उससे सभा मे आतक छा गया। तब दुर्योधन ने अपने पिता को सम्बोधन करके कहा—"महाराज! डरने की कोई बात नही। हमारे लिए भी आप शोक न करे। हम युद्ध में शत्रुओ को जीतने की शक्ति रखते है। लोग हमे सलाह देते है कि राज्य पाडवो को दे दो, पर मेरा मत है कि पाण्डव अपने वचन पर दृढ नही रहेंगे क्योकि कृष्ण हम सबका जड से नाश चाहते है। तो क्या हमारे लिए उचित है कि प्रणाम करें और भाग

---

(१) ज्ञान तदेतदमल दुरवापमाह नारायणो नरसख. किल नारदाय ।
एकान्तिना भगवतस्तदकिञ्चनाना पादारविन्दरजसाऽऽप्लुतदेहिनां स्यात् ॥ (भागवत ७।६।२७)

जायँ या प्राणो को त्याग कर युद्ध करें। हे पिता ! मै ऐसा कर भी लूँ तो भी मुझे आपका शोक है, आपने मेरे लिए दु ख उठाया है और वे पाण्डव विना आपके कुल का नाश किए न मानेगे। शत्रु हमारा क्या कर सकते है ? हममें से एक-एक उन्हें जीतने योग्य है। देखिए, युधिष्ठिर मेरी सेना के भय से पाँच गाँव माँगने पर उतर आया है। आप भीम को बडा वलबीर मानते है। वताइए, गदायुद्ध में धरती पर कौन मेरे समान है ?" इस प्रकार धृतराष्ट्र को दिलासा देकर दुर्योधन ने संजय से ही पूछा—"कहिए युधिष्ठिर क्या चाहते है ?" उत्तर मे सजय ने पुन पाडवो के पराक्रम का वर्णन किया। एक अलग प्रश्न के उत्तर मे सजय ने पाडवो के मुख्य सहायक वीरो की सूची भी गिनाई। वार-वार की इस प्रशसा से क्षुब्ध होकर दुर्योधन ने धृतराष्ट्र की ओर उन्मुख होकर कहा—"हे तात, मैने यह युद्ध रूपी यज्ञ आपके, द्रोण के या अश्वत्थामा के भरोसे नही फैलाया। मुझे केवल कर्ण का भरोसा है। इसमे हम दोनो दीक्षित हो चुके है, अब युधिष्ठिर को पशु वनाकर रथ की वेदी, तलवार का सुवा, बाणो की कुशा और अपने यश की हवि वना कर वैवस्वत यमराज के लिए यजन करेंगे और विजयी होंगे। मेरा निश्चय है कि या तो मै पाण्डवो को मारकर इस पृथ्वी का भोग करूँगा और या पाण्डव ही मुझे मार कर पृथ्वी भोगेगे। मै अपना जीवन, धन और राज्य छोड सकता हूँ, पर पाण्डवो के साथ मिलकर नही रह सकता। मेरा निश्चय है कि सूई की नोक के बरावर भूमि भी पाण्डवो के लिए नही छोडूँगा।" (५७।१०–१८)। इन शब्दो मे दुर्योधन के मन का अटल साँचा प्रकट हो गया है। ऐसे हठी व्यक्ति के लिए कहने-सुनने या समझाने-वुझाने का प्रश्न ही नही उठता। वस्तुत मनोविज्ञान की दृष्टि से इस खरी वात के लिए दुर्योधन की प्रशसा करनी पडती है। उसकी लट्ठमार भाषा में चरित्र की एकरूपता है। वह लल्लो-चप्पो की वात नही कहता। उसके जो मन मे है वही ऊपर है। झुझलाहट तो धृतराष्ट्र के ऊपर आती है। वह समझता है कि वातो के कुहासे से सचाई को छिपाया जा सकता है।

कौरवो की सभा मे किचकिच

धृतराष्ट्र ने उलट-पुलट कर बातो को फिर मोडना चाहा। कभी वह दुर्योधन को समझाता और कभी सजय से पूछता कि कृष्ण ने क्या कहा? सजय ने बताया कि एकात मे जहाँ केवल कृष्ण, अर्जुन, द्रौपदी और सत्यभामा थी, अन्त पुर के उस भाग में मुझे बुलाकर कृष्ण ने कहा—"हे सजय! मेरी ओर से धृतराष्ट्र से कहना कि जो यज्ञादि पुण्य कर्म करना चाहो कर लो, ब्राह्मणो को दक्षिणा दे लो और स्त्री-पुत्रो के साथ सुख मना लो क्योकि तुम्हारे ऊपर भारी विपत्ति आने वाली है। जब कृष्ण ने दूर से मुझे गोविन्द कहकर पुकारा था, वह ऋण मै आज भी भूला नही हूँ। अर्जुन ने मेरे भरोसे युद्ध छेडा है। देव, असुर, मनुष्यो मे कोई मुझे नही दीखता जो अर्जुन को जीत सके।" इस तरह की बात का दुर्योधन पर क्या प्रभाव होना था। उसने कहा—"देवता मेरे पक्ष में है। मै जब मन्त्रो से बुलाता हूँ अग्नि आते हैं। जहाँ मै जाता हूँ, वायु और जल अनुकूलता दिखाते है। मै पानी का बहाव रोक देता हूँ तो सेना पार उतर जाती है। देवो और असुरो के कार्यो का प्रवर्त्तक मैं ही हूँ।" (देवासुराणा भावानामहमेक प्रवर्तिता, ६०।१४) कर्ण ने भी सुर मे सुर मिलाते हुए कहा कि मैने अपने गुरु को अपनी सेवा और बल से प्रसन्न करके जो अस्त्र प्राप्त किया उसके द्वारा मैं क्षण भर मे पुत्र-पौत्रो के साथ समस्त पाण्डवो को मार डालूँगा। कर्ण की डीग भीष्म से न सही गयी, उन्होने कुछ खरी बात कही, पर दुर्योधन ने छेका कि यह आपकी क्या आदत है जो सदा पाण्डवो की ही जय चाहते है। बीच में कुछ तत्तोथम्बो करने के लिए विदुर ने एक कहानी सुनाई। एक बहेलिया था। उसने दो पक्षियो को फँसा लिया। वे एक जैसे बली थे। जाल को लेकर आकाश में उड गए। यह देखकर बहेलिया भी उनके पीछे दौडा। इस दृश्य को कोई आश्रमवासी मुनि देख रहा था। उसने चिडीमार से पूछा कि ये पक्षी तो आकाश में जा रहे है और तुम पैदल दौडते हो। चिडीमार ने कहा—"आप नही समझते। अभी तो ये दोनो मिलकर मेरा जाल लिए जा रहे हैं, पर जब ये झगडेंगे तो धरती पर आ गिरेगे।"

जिनकी मृत्यु आ पहुँची थी, ऐसे वे दोनो पक्षी लड पडे और जैसा व्याध ने सोचा था, वही हुआ।' कहानी सुनाकर विदुर ने समझाया कि वे सम्बन्धी भी जो आपस में झगडते है, उन पक्षियो की तरह शत्रु के वश मे हो जाते है। उचित तो यह है कि अपने बन्धुओ के साथ मिलकर उठना-बैठना, भोजन और बातचीत करनी चाहिए। जो ऐसा करते है, वे लपट की तरह धधकते है। पर जो आपस मे विरोध करते है वे राख की तरह धुँधुआते है। विदुर ने अपना एक अनुभव और सुनाया—"एक बार मै किरातो के साथ गन्धमादन पर्वत पर गया था। वहाँ मैने क्या देखा कि एक झरने के पास छत्ते से टपका हुआ शहद घडे मे भरे हुए की तरह जम गया था और मक्खियाँ भी उसके पास नही थी। जो मेरे साथी मन्त्रसाधक ब्राह्मण थे उन्होने बताया कि यह अमृत है। इसे चखकर मनुष्य अमर बन जाता है। अन्धे को दृष्टि मिल जाती है और बुड्ढा जवान हो जाता है। यह सुनकर किरात उसे लेने के लिए झपटे। उन्होने शहद तो देखा पर सामने का खड्ड उन्हे नही दिखाई दिया। ऐसे ही हे धृतराष्ट्र! तुम्हारे पुत्र की गति है (मधु पश्यति समाहात्प्रपात नानुपश्यति, ६२।२७)। मेरी तो राय है कि तुम दुर्योधन को बुलाकर अपनी गोद मे बैठा लो। उसे तुमने वश मे कर लिया तो युद्ध कदापि न होगा क्योकि दो हाथो से ताली बजती है, एक से नही।" धृतराष्ट्र को मानो एक सहारा और मिला। उसने फिर कुछ घिसे-पिटे वाक्यो से दुर्योधन को समझाने का प्रयत्न किया।

कृष्ण का माहात्म्य

इस किचकिच से ऊबकर सब सदस्य सभा से उठ गए। केवल धृतराष्ट्र जमे रहे और उनके कारण सजय को भी वही बैठना पडा। अकेले मे धृतराष्ट्र ने कुछ भेद की बात जाननी चाही—"हे सजय! तुम पाण्डवो के सैनिक बल को भी अच्छी तरह देख आए हो और हमारे पक्ष को भी जानते हो, इसलिए साफ कहो कि दोनो का क्या बलाबल है।" सजय धृतराष्ट्र के अस्थिर स्वभाव को जानते थे। उन्होने कहा कि अकेले मे मै कुछ न कहूँगा

क्योकि सुनकर तुम चिढ जाओगे, इसलिए व्यासजी को और गान्धारी को वुला लो जिससे तुम्हारा सन्तुलन ठीक रहे। ऐसा ही किया गया, तव सजय ने चार अध्यायो (अ० ६६–६९) मे कृष्ण के माहात्म्य का वर्णन किया। स्पप्ट है कि जव सभा के लोग उठ गए थे तभी यह प्रकरण समाप्त हो जाना चाहिए था। उसके वाद के ये अध्याय थेकली की तरह हैं जिसे भागवतो ने जोडा, कुछ कास्मीरी प्रतियो में ये अध्याय हैं भी नही। गुप्त युग में वासुदेव, कृष्ण की जो अतिशय महिमा लोक में प्रख्यात हुई, उसी का सार यहाँ मिलता है। जैसे—'धनुर्धारी अर्जुन और वासुदेव परम पूज्य हैं। भगवान कृष्ण का चक्र द्युलोक तक अपनी शक्ति से घूम रहा है। कृष्ण चाहें तो ससार को भस्म कर सकते हैं। जहाँ सत्य है, जहाँ धर्म है, वहाँ कृष्ण हैं। और जहाँ कृष्ण हैं, वहाँ जय है।[1] पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में पुरुषोत्तम विष्णु क्रीडा करते हुए सव कर्म करते हैं। कालचक्र, ससारचक्र और युगचक्र को भगवान केशव रात दिन अपनी शक्ति से घूमा रहे हैं। चर और अचर, काल और मृत्यु सवके स्वामी वे ही हैं। महायोगीश्वर हरि सवके अध्यक्ष होकर भी एक सामान्य किसान की तरह कर्म करते हैं।[2]" यह सुनकर धृतराष्ट्र ने पूछा—"हे सजय! तुम कृष्ण का माहात्म्य कैसे जानते हो? मै उसे क्यो नही जानता?" सजय ने खरा उत्तर दिया—"हे राजन्! तुम्हारी विद्या सच्ची विद्या नही। मेरी विद्या वुझती नही। तुम विद्याहीन और तमोग्रस्त होने के कारण केशव को नही जानते।" धृतराष्ट्र ने फिर पूछा—"सजय! ऐसी क्या वात है कि तुम्हारा ज्ञान कम नही होता? और तुम

(१) यत. सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जव यत. ।
ततो भवति गोविन्दो यत कृष्णस्ततो जय ॥ (६६।९)

(२) विष्णु के लिए हरि शव्द का प्रयोग कुपाण युग से आरम्भ हुआ। उससे पूर्व महाभाष्य, अर्थशास्त्र आदि वडे-वडे ग्रन्थो में यह शव्द केवल इन्द्र, अश्व आदि अर्थो में है। अतएव विष्णुवाची हरि शव्द का यह प्रयोग (६६।१४) इस प्रसंग के वाद में जोडे जाने का सूचक है।

अपनी स्थायी भक्ति से मधुसूदन को जानते हो।" सजय ने कहा—"मै कपट का सेवन नही करता। विपरीत धर्म का आचरण नही करता। शुद्ध भाव से भक्ति करता हूँ और शास्त्र मे जैसा कहा है, वैसा कृष्ण को जानता हूँ" (६७–५)। सजय के ये चार वाक्य मानो गुप्तकालीन किसी भागवत की आस्था का निचोड हैं। इसी बातचीत मे भाग लेते हुए व्यास जी ने धृतराष्ट्र की कृष्ण भक्ति की सराहना करते हुए बिल्कुल स्पष्ट शब्दो मे गुप्तकालीन एकायन मार्ग अर्थात् एकान्तिन् भागवतो का उल्लेख किया है।[1] इससे सूचित है कि गुप्त युग मे धृतराष्ट्र को भी महाभागवतो की सूची मे सम्मिलित कर लिया गया था और स्वय व्यास जी के द्वारा इस पर छाप लगवाई गई। एक शब्द और ध्यान देने योग्य है, वह है 'आगम' (६७।२१)। गुप्त युग मे पचरात्र और माहेश्वर आदि इन शास्त्रो को आगम कहने की परिपाटी चल गई थी। कालिदास ने अनेक धर्म मार्गों के भिन्न शास्त्रो को आगम कहा है।

भागवत मे भी भागवत शास्त्र को आगम कहा गया है (११।३।४८)। अध्याय ६८ मे विष्णु के भिन्न नामो का निर्वचन सजय ने धृतराष्ट्र से कहा है। यह भी भागवतो के साहित्य की एक नई शैली थी। महाभारत शान्तिपर्व (अ० ३२८, ३३७) मे इसे गुणकर्मज, अर्थात् गुण और कर्मों के आधार पर नामो के निर्वचन की शैली कहा है। मत्स्य पुराण (अ० २४८) मे भी कृष्ण, नारायण, गोविन्द आदि सोलह नामो की ऐसी ही व्युत्पत्तियाँ कही गई है। वायुपुराण अध्याय ४ एव ५ तथा लिंग पुराण अध्याय ७० में भी हम इस शैली को पाते है, यद्यपि इन सूचियो मे आए हुए नाम भिन्न है। इस शैली का उत्कृष्ट रूप विष्णुसहस्रनाम के शाकर भाष्य मे प्राप्त होता है। यद्यपि वह उत्तर गुप्तकाल के वाद का है।

---

(१) एष एकायनः पथा येन यान्ति मनीषिणः।
त दृष्ट्वा मृत्युमत्येति महांस्तत्र न सज्जते ॥ (६७।१५)

भगवद्यान पर्व

(अ० ७२–१५०)

जैसे कौरवो की ओर से प्रमुख व्यक्ति के रूप मे सजय पाण्डवो के यहाँ आए थे, वैसे ही अव दूसरे पक्ष से किसी विशिष्ट प्रतिनिधि के भेजे जाने की वारी थी। वस्तुत सजय के भेजने मे धृतराष्ट्र के मन मे कोई निश्चित लक्ष्य न था। उसने गोलमोल वात कही थी कि हे सजय! जाकर कुशल-प्रश्न पूछना और ऐसा प्रयत्न करना कि युद्ध न हो। सजय उपप्लव मे पाण्डवो से मिले। लम्वी-चौडी वातचीत की और उनके लौटने पर कौरवो की सभा मे जो भाँति-भाँति के मोड-मुडक से भरा हुआ लम्वा सवाद हुआ, उसे हम केवल दोनो पक्षो के नेताओ के मनोभावो का वैज्ञानिक विश्लेपण कह सकते हैं। ज्ञात होता है कि फोडा दोनो तरफ काफी पक चुका था। युद्ध की टक्कर निकट आ रही थी पर उससे पहले कृष्ण जैसे वुद्धिमान व्यक्ति ने युद्ध टालने का एक सच्चा प्रयत्न और किया। कृष्ण जानते थे कि युद्ध होकर रहेगा। पर नीति की वात से भी मुंह नही मोडा जा सकता था। अतएव वे शान्ति का सदेश लेकर कौरवो की राजसभा में आए। अध्याय ७२ से १५० तक का लम्वा प्रकरण भगवद्यानपर्व कहलाता है, जिसका सम्वन्ध धृतराष्ट्र की सभा में कृष्ण के उपस्थित होने, अपना सन्देश कहने फिर पाण्डवो के पास लौट कर वहाँ की परिस्थिति रखकर विचार-विमर्श करने से है। इन्ही के पेटे मे कई छोटे चरित्र भी आ गए हैं। पहला गालव चरित है (अ० १०४ से १२१)। दूसरा कर्ण के साथ कृष्ण और कुन्ती का गुप्त सवाद है (अ० १३८ से १४४)। इसी से पूर्व जव कृष्ण लौट रहे थे तो कुन्ती ने पाण्डवो के लिए अपना सदेश देते हुए विदुला और उसके पुत्र के सवाद रूप

मे एक महत्त्वपूर्ण आख्यान सुनाया था (अ० १३१–१३४)। इस प्रकार पहले की अपेक्षा इस पर्व का यह अग घटनाओ के अधिक उदात्त धरातल से हमारा परिचय कराता है।

युधिष्ठिर और कृष्ण का सवाद

कथा का आरम्भ युधिष्ठिर और कृष्ण के सवाद से होता है। युधिष्ठिर ने कहा—"हे कृष्ण! आपने सजय की बात सुनी। सजय ने जो कहा वह धृतराष्ट्र का ही मत था। वह चाहते है कि बिना राज्य दिए ही शान्ति हो जाय। उनके मन मे पाप और भेदभाव है। बूढे राजा धृतराष्ट्र स्वधर्म नही देखते या देखते हुए भी अपने पुत्र का ही पक्ष करते है। मैंने तो केवल पाँच गाँव माँगे थे—कुशस्थल, वृकस्थल, आसन्दी, वारणावत और कोई एक। किन्तु दुर्योधन ने वह भी नही माना। जीवन मे दरिद्रता मृत्यु के तुल्य है। शम्बर के मत मे इससे अधिक पापिष्ठ अवस्था दूसरी नही कि जब आज और कल के भोजन के भी लाले पड जाँय। धन ही परम धर्म है, धन ही सबकी नीव है, धनी ही लोक मे जीते है, निर्धन मरे हुए हैं। जो किसी का धन हडप लेते है वे उसके धर्म और कामको भी मटियामेट कर देते है। इस दीन अवस्था को पहुँचकर तो कुछ लोगो ने प्राणो से ही हाथ धो लिए, कुछ वन मे चले गए, कुछ का मस्तिष्क ही फिर गया और कुछ ने दासता ओढ ली। सम्पत्ति ही धर्म और काम का मूल है। जो श्रीमान् है वही पुरुष है। आपने स्वय देखा है कि मै राज्यहीन होकर किस दशा मे रह रहा हूँ। किसी भी दृष्टि से हमारा राज्यहीन होकर रहना अच्छा नही। उसके लिए प्रयत्न करते हुए मृत्यु हो जाय तो अच्छा है। हमारे जीवन का प्रथम कल्प यही है। मै जानता हूँ कि ज्ञातियो का वध पाप है, किन्तु हमारे लिए तो यही सुधर्म है। ब्राह्मण भिक्षा-कपाल ले सकते है क्षत्रिय नही (अ० ७०।८–४७)।" यहाँ ग्रन्थकार ने युधिष्ठिर के मुख से, राजनीति का वह सिद्धान्त कहलाया है जो युद्ध को राज्य के लिए आवश्यक समझता था। युद्ध की इस नीति को 'आरम्भ' कहते थे। पहले सभापर्व

मे आरम्भवाद या यद्ध के दृष्टिकोण का उल्लेख हो चुका है। वहाँ कहा है कि विना युद्ध के राजा मिट्टी की वाँवी की तरह ढह जाता है (अनारम्भ-परो राजा वल्मीक इव सीदति, १४।७)।

वायपुराण में युद्ध को क्षत्रिय का यज्ञ कहा है (आरम्भयज्ञ क्षत्रस्य, ५७।५०)। क्षत्रिय क्षत्रिय को मारता है, मछली मछली को खाती है, कुत्ता कुत्ते से लडता है—यही तो पीढी दर पीढी से आया हुआ धर्म है (७०।४८)। पूर्व पक्ष के रूप मे युद्धनीति की वात कहकर युधिष्ठिर ने फिर युद्ध के भयकर परिणाम कहे—"युद्ध में कलियुग का वासा है। युद्ध में सदा प्राणो को खटका वना रहता है। जीना और मरना अपने हाथ में नही। कभी कायर शूर को भी मार लेता है। निर्वल और सवल दोनो पक्षो की हार-जीत सम्भव है। कदाचित् अपना ही मरण हो जाय, तो फिर जय-पराजय एक-सी है। जो हारता है वह तो मर ही गया, पर जो जीतता है उसकी भी हानि होती है। जिसके हृदय में कुछ करुणा है वह जीतकर भी पश्चाताप करता है। हे कृष्ण! वैर से वैर शान्त नही होता वल्कि इस तरह वढता है जैसे आहुति से आग वढती है (७०।६३)। युद्ध ऐसा ही है जैसे दो कुत्तो का लडकर एक दूसरे को फाडना। उनमें और युद्ध करने वाले मनुष्यो में कुछ भी भेद नही। हे कृष्ण! धृतराष्ट्र हमारे पूज्य हैं। हमें चाहिए कि उन्हे प्रणाम करें पर पुत्र के वशीभूत हो वे हमारे प्रणाम को भी ठुकरा देंगे। हे कृष्ण! अव हम क्या करें जिससे अर्थ और धर्म दोनो की हानि न हो? आप ही हमारी गति है, आपके अतिरिक्त हमारा सुहृत् और कौन है?" युधिष्ठिर के इस प्रकार के कातर वचन सुनकर कृष्ण भी द्रवित हुए होंगे। उन्होंने और कुछ नही कहा किन्तु अपने मन की सारी शक्ति को एक निश्चय के रूप में ढालकर वह वोले—"हे युधिष्ठिर! मैं कौरवो की सभा में जाउँगा कि शान्ति करा सकू जिससे तुम्हारे स्वार्थ की हानि न हो" (७०।७९–८०)। कृष्ण से ऐसे प्रस्ताव के लिए युधिष्ठिर सम्भवत तैयार न थे। उन्होने कहा—'हे कृष्ण! मेरा यह मत नही कि आप कौरवो के यहाँ जायें। इस समय सव राजा दुर्योधन के वश में है। उनके वीच मे

आपका जाना ठीक नही। चाहे सब देवो का ऐश्वर्य भी हमसे छिन जाय पर मैं आपका निग्रह नही सह सकता।" कृष्ण ने उत्तर दिया—"दुर्योधन की पापबुद्धि को मै समझता हूँ, पर मेरे जाने से फिर हमारे ऊपर उँगली उठाने का किसी को अवसर न रहेगा। और फिर सारे राजा भी मिलकर मेरा कुछ नही बिगाड सकते। हे पार्थ! मेरा जाना निरर्थक न होगा।" कृष्ण के निश्चय को समझकर युधिष्ठिर ने तुरन्त कहा—"हे कृष्ण! आपको जो रुचे, वह करे। मै तो आपको सकुशल लौटा हुआ देखना चाहूँगा। आप हमे जानते हैं, उन्हे भी जानते है, जो कार्य है उसे भी समझते है और भाषण मे भी समर्थ है। अतएव जिससे हमारा हित हो वह कहिएगा, चाहे शाति हो, चाहे युद्ध हो।" उत्तर में कृष्ण ने सारी परिस्थिति को आँकते हुए युधिष्ठिर के सामने सब पक्षो को रक्खा और कहा—'मैं शान्ति के लिए यत्न करूँगा और उनकी चेष्टाओ को भी देखूँगा कि कही युद्ध की ओर उनका झुकाव तो नही है?"

भीम की व्यग्य वाणी

इस अवसर पर भीम ने भी कृष्ण से सन्देश कहा पर अपने जन्मजात स्वभाव के एकदम विरुद्ध—"हे कृष्ण! जिस प्रकार से शान्ति हो, वही कहना। दुर्योधन बडा क्रोधी है, उससे प्रचण्ड वाक्य मत कहना। शान्ति ही बरतना। वह मर जाय तो भी अपना मत न छोडेगा। ऐसे के साथ शान्ति कठिन होती है। दुर्योधन के साथ अट्ठारह राजा बडे दुष्ट स्वभाव के है। दुर्योधन भी कुलागार ही है। इसलिए हे कृष्ण! उससे नम्र बात ही धीरे से कहना, उग्रता से नही। भले ही हम नीचे होकर रहे किन्तु भरतो का नाश न हो। वहाँ पितामह भीष्म से तथा और भी जो बूढे सभासद हैं, उनसे कहना कि भाइयो मे मेल हो जाय और दुर्योधन शान्ति ग्रहण करे।" भीम का यह सारा कथन आदि से अत तक चोखा व्यग था जैसा कि उसने स्वयं अत मे प्रकट कर दिया—"हे कृष्ण! मैं ऐसा इसलिए कहता हूँ क्योकि राजा युधिष्ठिर दुर्योधन की प्रशसा करते

रहते है और अर्जुन भी युद्ध नही चाहते, वे बडे दयालु है।" भीम का यह कटाक्ष बहुत ही चोखा रहा कि हे कृष्ण! कही तीक्ष्ण बात कहकर तुम युद्ध नाव आए तो यहाँ लडेगा कौन? भीम के मृदुता भरे वचन सुनकर कृष्ण मुस्कराए और को ठडा होने मे बचाने के लिए उकसाते हुए बोले—"हे भीम! तुम तो सदा युद्ध की बडाई करते रहे। तुम क्रूर कौरवो को पीस डालना चाहते थे। तुम्हे कभी ठीक से नीद भी नही आती थी, तुम्हारे भीतर बदले की आग सदा धधकती रही। रात और दिन तुम्हे चैन न था। आज शान्ति के लिए तुम्हारी बुद्धि कैसे हुई? क्या तुम डर गए हो या तुम्हारा हृदय काँपता है? मुझे आश्चर्य है कि तुम्हारे जैसा पर्वत भी क्यो हिल गया। क्षत्रिय उसका भोग नही करता, जिसे वह अपने पराक्रम से प्राप्त न करे।" उत्तर मे भीमसेन ने अपने पराक्रम के अनुरूप कुछ वचन कहे—"हे कृष्ण! अपनी प्रशसा आर्य्य कर्म्म नही। फिर भी तुम देखना कि यदि सदा अडिग रहने वाले पृथ्वी और आकाश भी चलायमान हो जायँ, तो मै उनको भी अपने भुजदण्डो से रोक दूंगा। मुझे तनिक भी भय नही। जितना कहता हूँ, उससे अधिक युद्ध मे मुझे पाओगे, किन्तु एक सौहृद भाव से मैने भी वह बात कही थी जिससे कि भरतवशियो का नाश न हो (७४।१८)।" इस वचन से ज्ञात होता है कि भीम जैसे युद्धप्रिय वीर के मन मे कही मानवोचित कृपा भाव का अकुर छिपा हुआ था। कृष्ण ने भी बात को नया मोड देते हुए कहा—"हे भीम! क्या मै तुम्हारा भाव जानता नही? मैने तो प्रेमवश ऐसा कहा। तुम्हारा परिभव मुझे इष्ट नही था। जितना तुम अपना सम्मान करते हो, उससे सहस्र गुणा मेरे मन मे तुम्हारा सम्मान है।" भीम जिस स्वभाव के थे, उसमें भाग्यवादी दर्शन को स्थान न था। सोच विचार कर न्यायानुकूल कर्म करना ही मनुष्य के लिए सब कुछ है। इस प्रकार का ठोस कर्मवाद भीम का लक्षण था।

---

(१) अहमेतद् ब्रवीम्येव राजा चैव प्रशसति।
अर्जुनो नैव युद्धार्थी भूयसी हि दयार्जुने॥ (७२।२३)

अर्जुन का सदेश

इस अवसर पर अर्जुन ने भी कुछ मिली-जुली वात कही। उसका आशय था कि शान्ति की वात करना और यदि दुर्योधन न माने तो युद्ध ही सही। उत्तर मे कृष्ण ने इस प्रसग को स्फुट करते हुए कहा—"खेत को तैयार करना किसान का काम है किन्तु वृष्टि दैव के अधीन है। कितना भी पुरुषार्थ किया जाय वृष्टि के विना दैव कृषि को सुखा डालता है। दैव और मानुष के मिलने से ही सफलता होती है। मैं वह करूँगा जो पुरुषार्थ से सम्भव है, पर दैव को बाँध कर कर्म कराना मेरे वश मे नही। मैं कर्म और वाणी से भरसक प्रयत्न करूँगा पर दुर्योधन का जैसा स्वभाव है उससे मुझे शान्ति की आशा नही।" नकुल और सहदेव ने भी अपने विचार प्रगट किए।

द्रौपदी का सदेश

फिर द्रौपदी के मन मे विचारो का जो वॉध रुका हुआ था वह इस अवसर पर फूट पडा। उसने कहा—"युधिष्ठिर सन्धि चाहते है, वह ठीक है, पर यदि दुर्योधन राज्य देने के लिए तैयार न हो तो "हे कृष्ण! सन्धि कभी मत करना। जो साम और दाम नही समझते उन पर कृपा कैसी? उन पर तो महादण्ड ही चलाना चाहिए। हे कृष्ण! पुनरुक्ति होते हुए भी मै फिर कहूँगी मेरे समान पृथिवी मे और दुक्खिनी कौन है? द्रुपद की पुत्री, महात्मा पाण्डु की पुत्रवधू और पाण्डवो की पटरानी होकर भी मैं केश खीच कर सभा मे लाई गई। पाण्डुपुत्र वैठे देखते रहे और तुम भी कृष्ण जीवित थे, तव यह अनर्थ हुआ! मै सभा के वीच उन पापियो की दासी वनाई गई। जिस समय पाण्डव निश्चेष्ट होकर देखते रहे उस समय हे गोविन्द! मैने अपने मन की शक्ति से तुम्हे पुकारा था। उस समय मेरे ससुर राजा धृतराष्ट्र ने कृपाकर मुझे वरदान देते हुए पाण्डवो को अदास किया और उससे छूटकर हम सवको वन मे जाना पडा। हे कृष्ण! हमारे ये दुःख क्या तुमसे छिपे हैं? भीमसेन के वल को धिक्कार है, अर्जुन

के धनुप को धिक्कार है यदि क्षण भर दुर्योधन जीवित रहता है। यदि मेरे ऊपर तुम्हारी कुछ भी कृपा हो तो, हे कृष्ण ! अपना सारा क्रोध कौरवो पर उँडेल देना।" इतना कहकर द्रौपदी ने अपने लम्बे केशो को वाँए हाथ मे लेकर अश्रुपूर्ण नेत्रो से कहा—"हे कृष्ण ! जब शत्रु सधि की बात कहें तो मेरे इन केशो को मत भूल जाना। आज महाबाहु भीम को धर्म दिखाई पड़ता है। उनकी बात सुनकर मेरा हृदय फटा जाता है।" इतना कहकर आँसुओ से रुँधे कण्ठ से द्रौपदी ढाड मार कर रोने लगी। कृष्ण ने उसे सात्वना देते हुए कहा—"हे द्रौपदी ! धैर्य रखो। शीघ्र ही तुम भी भरतवश की स्त्रियो को रोते देखोगी। जिनके भाई-बधु, पति और हितू मारे जाएँगे, ऐसी वे स्त्रियाँ, जिन पर तुम्हारा क्रोध है, विलाप करेंगी। यदि काल से पके हुए कौरव मेरी बात न मानेंगे तो रणभूमि में गिरे हुए उन्हें सियार और कुत्ते नोचेंगे। हे द्रौपदी ! हिमालय चाहे विचलित हो जाय, धरती चाहे फट जाय, आकाश चाहे गिर पडे पर मेरी बात झूठ न होगी। हे कृष्णे ! अपने आँसुओ को रोको। मेरी सत्य प्रतिज्ञा है कि तुम्हारे पति अपने शत्रुओ को मारकर शीघ्र राज्य प्राप्त करेंगे (८०।२०-४९)।

कृष्ण का दूत रूप मे हस्तिनापुर आना

अगले दिन सूर्योदय होने पर पौर्वाह्णिक कृत्यो से निवृत्त होकर और मगलाचरण करके कृष्ण रथ पर बैठ कर कौरवो के यहाँ चले। कृष्ण ने वह रात वृकस्थल में बिताई। अगले दिन प्रात हस्तिनापुर की ओर चले। तब भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि गुरुजन और बहुत से कौरव और पुरवासी उनके स्वागत के लिए आगे बढ़कर मिले और उन्हें साथ लेकर नगर में आए। कृष्ण सीधे धृतराष्ट्र के भवन मे गए और उसकी तीन कक्ष्याओ को पार करके राजा धृतराष्ट्र से जाकर मिले। कृष्ण ने गुरुजनो का यथोचित आदर किया और धृतराष्ट्र की आज्ञा से वे एक ऊँचे स्वर्णासन पर बैठे। पुरोहितो ने अर्घ्य-मधुपर्क से उनका आतिथ्य किया। वहाँ कुछ देर हँसी-विनोद करके कृष्ण विदुर के घर पधारे। तीसरे पहर विदुर को साथ ले

अपनी बुआ कुन्ती से मिलने गए। कुन्ती कृष्ण के गले लगकर अपने पुत्रों को याद करते हुए विलाप करने लगी। बहुत तरह से उसने अपना दु ख सुनाया। कुन्ती ने चौदह वर्षों तक अपने पुत्रो को देखा न था अतएव उसके मातृ-हृदय का शोक स्वाभाविक था। उसने कहा—"हे कृष्ण ! अर्जुन से और भीम से कहना कि जिस लिए क्षत्राणी पुत्र जनती है, उसका अब समय आ गया है" (यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागत ८८। ७४)। कृष्ण ने उसे धीरज देते हुए समझाया।

कुन्ती से विदा लेकर कृष्ण दुर्योधन के घर गए। उस भवन मे भी तीन कक्ष्याएँ थी। महल के पहले चौक मे बहुत लम्वा-चौडा खुला हुआ आँगन होता था जिसमें राजा के निजी अश्व और हाथियो के लिए मडप होते थे। दूसरे चौक या कक्ष्या में सभाभवन या आस्थान मडप रहता था, जिसे मध्यकाल मे दरबार-ए-आम कहने लगे। तीसरी कक्ष्या मे राजा का अन्त पुर होता था। प्राय· प्राचीन वास्तुविद्या के अनुसार राजा और रानियो के निवास गृह ऊपर की मजिल मे होते थे। प्रस्तुत वर्णन से ज्ञात होता है कि दुर्योधन ने कृष्ण से मिलने का प्रबन्ध सभाभवन मे ही किया था। उस सभा में अनेक कौरव और राजा उपस्थित थे। इस अवसर पर सामान्य शिष्टाचार के विरुद्ध दुर्योधन ने कृष्ण का न तो अभिनन्दन किया और न भोजन का निमन्त्रण दिया। उसने कर्ण के साथ कानाफूसी करके कृष्ण से कहा—'आपके लिए जो अन्न, पान, वस्त्र आदि लाए गए थे, आपने उन्हें क्यो स्वीकार नही किया ? आपके लिए दोनो पक्ष समान होने चाहिए। आप तो धर्मज्ञ है, फिर क्या कारण है कि आपने हमारा सत्कार नही माना ?' कृष्ण ने शिष्टाचार से शून्य इस कथन का उत्तर देते हुए कहा—"दूत लोग कार्य सिद्ध होने पर ही पूजा स्वीकार करते और भोजन करते है। कार्य सिद्ध होने पर आप अपने मन्त्रियो के साथ मेरा पूजन करे।" इस पर दुर्योधन ने उजड्डता की मात्रा बढाते हुए कहा—"हमारे प्रति आपका ऐसा व्यवहार अनुचित है। काम हुआ हो या न हुआ हो, हमने जब आपकी पूजा की तो आपने क्यो हमें अवसर नही दिया ? आपके साथ हमारा

वैर या विग्रह नही। ऐसी स्थिति में आपने जो कहा वह उचित नही।" स्थिति सम्भालने के लिए कृष्ण कुछ मुस्कराए और कहने लगे—"काम से, क्रोध से, द्वेष से या लोभ से मै कभी धर्म नही छोडता। दूसरे का भोजन प्रेम के वश किया जाता है या आपत्ति में पडकर। तुम्हारे भीतर प्रीति नही और हमारे ऊपर आपत्ति नही। मै धर्मचारी पाण्डवो के साथ हूँ और तुम उनसे अकारण वैर करते हो। इसलिए तुम्हारा अन्न मेरे लिए अभोज्य है। मै विदुर के यहाँ ही भोजन करूँगा।" यह सुनकर दुर्योधन की त्योरी चढ गई। कृष्ण भी तत्काल वहाँ से वाहर चले आए और विदुर के स्थान पर गए।

रात मे खा-पी चुकने के वाद विदुर ने अपने मन की वात कही—"हे कृष्ण! आना ठीक नही हुआ। दुर्योधन मूढ, मानी और क्रोधी है। उस दुरात्मा को साधु मार्ग पर चलाना कठिन है। कर्ण, अश्वत्थामा और जयद्रथ पर भरोसा करके उसे शान्ति अच्छी नही लगती। जिन्होने यह ठान लिया है कि पाण्डवो को उनका उचित भाग नही देंगे, उनसे कुछ कहना व्यर्थ है। वुद्धिमान को चाहिए कि सूक्त और दुरुक्त को एक जैसा समझने वाले के सामने अपना वचन व्यर्थ न करे जैसे वहरे के सामने गाना। निर्मर्याद कौरवो के सामने कुछ कहते आप अच्छे नही लगते। अकडकर वैठे हुए उनके वीच मे आपका जाना भी मुझे अच्छा नही लगता। पहले ही से आप पर उसका सदेह है। वह आप की वात न मानेगा। वह तो अपने लिए पृथ्वी का असपत्न राज्य चाहता है। आपके प्रभाव, वल और वुद्धि को मैं जानता हूं, फिर भी पाण्डवो के लिए जो मेरा प्रेम है, उससे भी अधिक आपके लिए है। अतएव उसी प्रेम और सम्मान के कारण मैंने यह कहा है।" कृष्ण ने विदुर की वात को वडे मीठे ढग से लिया—"हे विदुर! तुमने तो पिता और माता के जैसे हितू वचन कहे हैं। मै दुरात्मा दुर्योधन के वैरभाव को भली-भाँति जानता हूँ, पर मेरा भाव यह है कि अश्वरथ, कुजरो से भरी हुई इस पृथ्वी को जो यमराज के फन्दे से छुडा सकेगा, उसे धर्म होगा। धर्म के लिए यत्नशील पुरुष सफल न भी हो तो भी उसके लिए पुण्य है।

इसलिए मै शान्ति का उपाय करूँगा। यदि मित्र का झोटा खीचकर भी उसे अकार्य से रोका जा सके तो सज्जन उसे भला कहते है। मैं निष्कपट होकर कौरव-पाण्डवो के हित का यत्न करूँगा। उसके वाद तो भाग्य का वश है।' यह कहकर कृष्ण ने वह रात विदुर के यहाँ विताई।

: ४९ :

धृतराष्ट्र की सभा में कृष्ण

दूसरे दिन शकुनि के साथ दुर्योधन ने विदुर के घर आकर कृष्ण से कहा—"राजा धृतराष्ट्र सभा मे वैठे आप की प्रतीक्षा कर रहे है।" यह सुनकर कृष्ण रथ पर वैठ कर सभा मे आए। वहाँ सहस्रो राजा उनके स्वागत मे उठ खडे हुए और धृतराष्ट्र द्वारा निर्दिष्ट स्वर्णखचित सर्वतोभद्र आसन पर उनको वैठाया गया। जैसे सोने में जडी हुई मणि शोभित होती है वैसे ही कृष्ण सभा मे प्रकाशित हुए। यथास्थित होने पर कृष्ण ने अपना भाषण आरम्भ किया—

कुरूणा पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत।
अप्रणाशेन वीराणामेतद्याचितुमागतः॥ (९३।३)

हे भारत! कौरवो और पाण्डवो में विना योद्धाओ के नष्ट हुए शान्ति हो जाय, इसके लिए यत्न करने मै आया हूँ। हे राजन्! आपके हित के लिए और मुझे कुछ नही कहना है, क्योकि आप सव जानते है। आपका कुल आज सव राजकुलो मे उत्तम है और उसमे अनेक गुण भी हैं। कृपा, करुणा, ऋजुता, क्षमा और सत्य कुरु वश की विशेषता है। ऐसे महान् राजकुल मे आपके होते हुए किसी अनुचित वात का होना ठीक नही। भीतर और वाहर कहीं भी कुरुओ द्वारा मिथ्याचार हो तो आप ही रोकने वाले है। दुर्योधनादि आपके पुत्र अर्थ और धर्म को पीछे फेंककर निष्ठुर

आचरण पर उतारू हैं। लोभ ने उनके चित्त को ग्रस लिया है और उन्होने अपने वन्धुओ के प्रति शिष्ट मर्यादा भी छोड दी है। यह भारी विपत्ति कौरवो पर आई है, यदि इसकी उपेक्षा की गई, तो सव पृथ्वी नष्ट हो जायगी। आप चाहेंगे तो विपत्ति टल सकेगी। मेरे मत से अभी शम कठिन नही हुआ। दोनो पक्षो मे शान्ति आपके और मेरे अधीन है, आप कौरवो को रोक लें, मै पाण्डवो को समझा दूंगा। पुत्रो को आपकी आज्ञा माननी चाहिए। आपके शासन में रहने में ही उनका हित है। पाण्डव मेरा शासन मानते हैं और मै उनकी ओर से शान्ति के लिए यत्न करने आया हूँ। स्वय कसौटी पर कसकर आप जो उचित हो करें। यदि भरतवशी मिलकर रहेंगे तो आप ही उनके अधिपति होगे। आप धर्म और अर्थ की मर्यादा बनाए रखें तो पाण्डव आपके रक्षक हैं। उनके जैसे व्यक्ति कठिनाई से होते हैं। महात्मा पाण्डव आपके रक्षक हो तो देवराज भी आप को जीतने का साहस नही कर सकता और राजाओ की तो वात ही क्या है? जिस दल में भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा, जयद्रथ, युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन जैसे बली हो, उनसे कौन युद्ध करेगा? उनके साथ होने से जो राजा आपके समान हैं या आपसे भी उत्कृष्ट है वे सन्धि कर लेना चाहेंगे। पुत्र-पौत्र, भ्राता, पिता और सुहृत् इन सवसे रक्षित होकर आप सुखपूर्वक जी सकेंगे। पूर्व के समान पाण्डवो का सत्कार करके आप सारी पृथ्वी का भोग करेंगे। अपने पुत्र और पाण्डु पुत्रो के साथ अन्य शत्रुओ को जीतना ही आपका सम्पूर्ण स्वार्थ है। हे महाराज! यदि युद्ध हुआ तो भारी क्षय हो जायगा। दोनो ओर के नाश में क्या अच्छाई आप देखते है? रण में पाण्डव मारे गए या आपके पुत्र, इन दोनो से कौन-सा सुख आप को मिलेगा? आपके पुत्र और पाण्डव दोनो ही शूर और शस्त्र कुशल है। उन्हें इस वडे भय से बचाइए। कुरु पाण्डवो को समर में नष्ट होते हुए हमे न देखना पडे। हे राजन्! इस लोक को वचाइए जिससे प्रजाओ का नाश न हो। आप प्रकृतिस्थ रहेंगे तो और सव कुछ वचा रहेगा, अन्यथा नही। आपका जो सौहार्द पाण्डवो के प्रति कभी था अब वृद्धावस्था में भी वैसा ही हो। पाडवो ने आपको प्रणाम करके

कहा है कि आपके होते हुए भी उन्हे दु ख सहना पडा । उनके ये बारह वर्ष वन मे बीते। तेरहवें मे अज्ञातवास रहा। हमारे पिता अपनी प्रतिज्ञा का पालन करेंगे, आज भी हमारा यह विश्वास है। सब कष्ट सहकर भी हम अपने राज्य का अश पाले यही हम चाहते हैं। आपको अपना गुरु मानते हुए ही हमने बहुत से क्लेश सहे। यदि हम उत्पथ पर हो तो आप हमे ठीक कीजिए। आपकी परिषद् मे धर्मज्ञ सभासद है। उनके रहते कुछ अनुचित न होना चाहिए। जहाँ धर्म को अधर्म और सत्य को अनृत दबा लेता है, उस सभा के सदस्य मृततुल्य है। अधर्म के बाण से बिंधा हुआ धर्म सभा मे आता है, यदि सदस्य उसके काँटे को नही निकालते तो वे स्वय उससे बिंध जाते है। जो मौन भाव से विचारपूर्वक धर्म को देखते है, वे ही सत्य, धर्म और न्याय के पक्ष में बोलते है। आपसे और क्या कहा जाय ? पाडवो को उनका अश दे यही उक्ति है अथवा सभा के सदस्य जो उचित हो कहे। इन क्षत्रियो को मृत्यु के पाश से मुक्त कीजिए। शान्ति का आश्रय लेकर क्रोध को दूर कीजिए और पाण्डवो को उनका पित्र्य अश दीजिए। आप जानते है कि युधिष्ठिर अजातशत्रु होकर सदा धर्म मे स्थित है। पुत्र सहित आप में उनकी ऋजु वृत्ति है। उन्हें जलाया गया और निर्वासित किया गया, फिर भी वे आपकी अपेक्षा करते है। इन्द्रप्रस्थ में रहते हुए भी युधिष्ठिर ने और राजाओ को अपने वश मे लाकर आपके ही अनुकूल किया। इतना होने पर भी शकुनि ने कपट से उनका राज्य और धन-धान्य हर लिया। उस अवस्था में भी जब द्रौपदी सभा में लाई गई, युधिष्ठिर क्षात्र धर्म से नही डिगे। मै आप और पाण्डव दोनो का कल्याण चाहता हूँ। आप अपने लोभी पुत्रों को वश में करिये। पाण्डव आपकी सेवा के लिए और यदि आवश्यक हो तो युद्ध के लिए भी तैयार है। आपको जो हितकर जान पड़े वैसा ही कीजिए" (९३।३–६१)। कृष्ण के इस भाषण को सुनकर उपस्थित राजाओ ने हृदय से उनकी सराहना की पर कुछ कहने के लिए कोई सामने न आया।[1]

---

(१) यहाँ से अट्ठाइस अध्यायो तक कथा का सूत्र (अ० ९४–१२१) एकदम टूटा हुआ है। इस क्षेपक प्रकरण की चर्चा हम आगे करेंगे।

दुर्योधन को समझाने का यत्न

सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा—"हे कृष्ण, लोक और परलोक एव धर्म और न्याय के लिए हितकारी आपके वचन मैने सुने, पर मै स्ववश नही हूँ। आप दुर्योधन को मनाइए।" यह सुनकर कृष्ण विशेष रूप से दुर्योधन को सम्बोधित करके बोले। उन्होने परिस्थिति के अनेक उतार-चढाव समझाते हुए अत में आधा राज्य पाण्डवो को देने का प्रस्ताव रक्खा और कहा—"पाण्डवो से शान्ति करके, अपने हितू जनो की बात मानकर मित्रो के साथ चिरकाल तक सुख भोग सकोगे।" इसके वाद भीष्म और द्रोण ने एव धृतराष्ट्र ने भी दुर्योवन को विशेष रूप से समझाया (अ० १२३–१२४)। अव दुर्योघन की बारी थी कि वह भी कुछ कहे—"हे कृष्ण, आपको सोच-समझ कर कहना चाहिए। पाण्डवो का पक्ष करके आप मुझे ही विशेष रूप से क्यो चाँपते है? मै अपनी कोई त्रुटि नही देखता पर आप, विदुर, मेरे पिता, आचार्य द्रोण और पितामह भीष्म मुझमें ही त्रुटि निकालते रहते है। बारीकी से सोच कर देखता हूँ तो मुझे लगता है कि पाण्डवो ने मनचाहा जुआ खेला, उसमें शकुनि से वे अपना राज्य हार गए तो इसमें क्या हमारा दोष है? पाँसो से दाँव खोकर यदि वे वन में गए तो क्या यह हमारा अपराध है? हमने उनका क्या विगाडा है? किसलिए वे हमे मारना चाहते है? फिर ऐसे कर्म और वचन से हम भी डरनेवाले नही हैं। कौन-सा यौद्धा है जो क्षात्र धर्म में हमारे सामने टिक सके। और यदि युद्ध में हम मर भी जायँ तो भी वह स्वर्ग ही है। शत्रुओ के सामने बिना झुके वीर-गति पा जाने से हमें सताप न होगा। क्षत्रिय का धर्म है कि सीधा खडा रहे, झुके नही। उद्यम ही पौरुष है। चाहे वाँस की तरह बिना पोरी के स्थान पर टूट जाय पर झुके नही। मातग ऋषि के इस वचन को हम मानते हैं। केवल धर्म और ब्राह्मणो को प्रणाम करके जीवित रहे और किसी की परवा न करे। यह जो क्षत्रियो के लिए नियम है, वही मुझे सुहाता है। पिता ने जो राज्य मुझे दे दिया है, अव जीते जी उसमें से

मै किसी को कुछ देने वाला नही। हे कृष्ण ! सूई की नोक के बराबर भूमि भी अब मै पाण्डवो को न दूंगा।"--

यावद्धि सूच्यास्तीक्ष्णाया विध्येदग्रेण माधव ।
तावदप्यपरित्याज्य भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ॥ (१२५।२६)

दुर्योधन की बात सुनकर कृष्ण ने क्षुब्ध होकर कहा—"ज्ञात होता है, भारी युद्ध होगा। तुम वीरगति पाने के लिए तैयार रहो। तुम्हारा जो यह विचार है कि सारा दोष पाण्डवो का है, तुम्हारा कुछ नही, तो तुमने ही पाण्डवो की राज्यश्री से जलकर जूए का प्रपञ्च कराया। उसमे तुमने सदाचार का पालन किया। तुम्हारे सिवाय और कौन अपने कुटुम्ब की स्त्री को सभा के बीच मे लाकर उसे इस प्रकार अपमानित करेगा, जिस प्रकार तुमने द्रौपदी को किया ? तुमने पाण्डवो को बाल्यावस्था में ही उनकी माता के साथ लाक्षागृह मे जला डालने का षड्यन्त्र किया। उन पर विष के प्रयोग भी तुमने किए। तुम्हारे मन मे सदा कपट रहा। फिर कैसे तुम्हारा अपराध नही है ? सबने तुम्हे शान्ति के लिए समझाया पर तुमने एक की न सुनी।"

जब कृष्ण इस प्रवाह मे बह रहे थे, तो दु शासन ने बीच में ही बात काटकर दुर्योधन से कहा--"हे राजन्, मुझे तो लगता है कि यदि तुमने पाण्डवो से सन्धि न कर ली तो कौरव लोग तुम्हें बाँधकर युधिष्ठिर को सौप देंगे। भीष्म, द्रोण और हमारे पिता तुम्हे, कर्ण को और मुझे अवश्य पाण्डवो को दे डालेगे।' दु शासन का निशाना ठीक बैठा। उसकी बात कान मे पडते ही दुर्योधन महासर्प की तरह फुकारने लगा और सभा की मर्यादा तोडकर जाने के लिए उठ पडा। उसके भाई भी उठ गए। उसके जाने के बाद भीष्म ने किसी तरह स्थिति को सम्भाला और कहा—"जो धर्म और अर्थ से मुंह मोडकर क्रोध करता है, उसके शत्रु उस पर हँसते हैं। दुर्योधन इस समय क्रोध और लोभ के वश मे है। ज्ञात होता है कि सारा क्षत्रिय दल काल-पक्व हो चुका है।" इस अवसर पर कृष्ण ने एक बात कही—"दुर्योधन का व्यवहार सब कुरुवृद्धो का अपमान है। आप लोग

क्या बलपूर्वक उसे मर्यादा में नहीं रख सकते ? मेरी राय है कि जैसे कंस को मारकर उग्रसेन को राज्य दिया गया, वैसे ही कुल की रक्षा के लिए दुर्योधन, कर्ण, शकुनि और दु शासन को बाँधकर पाण्डवों को सौंप दिया जाय' (अ० १२६।४७)।

गान्धारी का दुर्योधन को समझाना

कृष्ण की बात सुनकर धृतराष्ट्र पर जो बीती उसकी केवल कल्पना की जा सकती है। उन्हें भय हुआ कि कही राजा लोग कृष्ण के प्रभाव में आकर सचमुच दुर्योधन को बाँध न ले। उन्होंने ने हडबडाते हुए विदुर से कहा—"जल्दी गान्धारी को बुलाओ।" विदुर के साथ गान्धारी वहाँ आई तो धृतराष्ट्र ने कहा—"हे गान्धारी, तुम्हारा वह मूढ पुत्र अशिष्टता से सभा छोडकर चला गया है।" गान्धारी के चरित्र में धृतराष्ट्र जैसी दुरगी चाल न थी। वह एकदम सीधे स्वभाव की आर्य नारी थी। भीतर-बाहर की सचाई, यही उसका जीवन-मंत्र था। उसने कहा—"हाँ, शीघ्र दुर्योधन को सभा मे वापिस बुला लाओ। पर हे धृत-राष्ट्र, सारा दोष तुम्हारा ही है। तुम पुत्र के दुलार में आकर उसके पाप को जानते हुए भी सदा उसी की बुद्धि के पीछे चलते रहे'। अब बात इतनी बढ गई है कि तुमसे भी वह नही रुकता। इतने में दुर्योधन को विदुर फिर सभा में ले आए। उसकी आँखें लाल थी और वह क्रोध से फुफकार रहा था। उसे आए हुए जानकर गान्धारी कहने लगी—"पुत्र दुर्योधन, मेरी बात समझो। इससे तुम्हारा हित होगा। यदि तुम शान्त होगे तो हम सबका इससे पुन सम्मान होगा। जिसकी इन्द्रियाँ वश में नही वह राज्य का भोग नही कर सकता। मेधावी और विजितात्मा ही राज्य की रक्षा कर सकता है। इन्द्रियजय का ही नाम राज्य है। इन्द्रियो को वश में करने से बुद्धि बढती है अतएव सबसे पहले अपने को ही देश समझ कर जीतना

---

(१) त्वं ह्येवात्र भृश गर्ह्यो धृतराष्ट्र सुतप्रियः।
यो जानन् पापतामस्य तत्प्रज्ञामनुवर्तसे ॥ (१२७।११)

चाहिए। जैसे महीन जाल मे दो मछलियाँ फँसी हो वैसे ही इस शरीर में रहकर काम-क्रोध बुद्धि को कुतरते रहते हैं। बेटा, युद्ध की बात मन मे मत लाओ। आधा राज्य पाण्डवो को दो, तुम्हारे लिए आधा पर्याप्त है। तेरह वर्षों से बिगाड़ खाता चला आता है उसे अब एक दिन भी मत बढाओ। हे तात, लोभ को अब बस करो।'

कृष्ण को पकड लेने की कूट मत्रणा

माता के इन वचनो का दुर्योधन पर कुछ प्रभाव न हुआ। वह क्रोध मे भरा हुआ मत्रणा के लिए फिर अपने साथियो के पास लौट गया। वहाँ शकुनि, कर्ण और दु शासन ने दुर्योधन से मत्रणा की—"अरे, यह कृष्ण हमें पकड़ने की सलाह दे रहा था। इसके पहले कि वह ऐसा करे क्यो न हम ही उसे बाँध लें? उसे पकडा हुआ सुनकर पाण्डव टूटे दाँत वाले साँप की तरह छटपटाने लगेगे। धृतराष्ट्र कितना भी चिल्लावे, बस हम कृष्ण को बाँध कर शत्रुओ को समझ लेगे।" यह बात झटपट सात्यकि ने समझ ली और बाहर आकर कृतवर्मा से कहा—"तुम सेना की टुकड़ी सजाकर कृष्ण, धृतराष्ट्र और विदुर से जाकर यह हाल कहो। सभाद्वार पर प्रतीक्षा करो, मै तबतक कृष्ण को सूचना देता हूँ।" उसने कृष्ण, धृतराष्ट्र और विदुर से कहा—"हे राजन्! आपके पुत्र मृत्यु के मुख मे आकर बल पूर्वक कृष्ण को पकड़ना चाहते है। वे आग मे पतिगो की भाँति कही के न रहेगे।" विदुर की बात सुनकर कृष्ण ने कहा—"हे राजन्, यदि ये लोग ऐसे निन्दित कर्म पर उतारू होगे तो इससे युधिष्ठिर का काम ही बनेगा। मै ही इन सबको बाँधकर पाण्डवो को सौंप दूगा। पर ऐसा निन्दित काम मै करना नही चाहता। दुर्योधन की इच्छा पूरी हो।" यह सुनकर धृतराष्ट्र ने विदुर से कहा कि फिर दुर्योधन को यहाँ ले आओ, जिससे मै उसे और उसके साथियो को समझा सकू।" विदुर ने वैसा ही किया और धृतराष्ट्र दुर्योधन को समझाने लगे। यह समझाना क्या था, कृष्ण के बल का बखान करना था। यही पर बारह श्लोको मे विदुर ने भी कृष्ण के अनेक पराक्रमो और बाललीलाओ का वर्णन किया है जो भागवतो द्वारा लगाया

हुआ छोटा सा साफ-सुथरा पैवन्द है। चालीसवें श्लोक के "इत्युक्ते-धृतराष्ट्रेण" का सटीक अन्वय १२९ अध्याय के पहले श्लोक से जा मिलता है।

अब समय आ गया था कि कृष्ण भी दो टूक बात कहते। उन्होंने कहा—"हे दुर्बुद्धि ! क्या तुम मुझे अकेला समझकर पकड लेना चाहते हो ? यहाँ ही सब अन्धक, वृष्णियो को देखो। वसु, रुद्र और आदित्य आदि देव भी यही मेरे इस विराट् रूप में है।" यह कह कृष्ण अट्टहास करके हँसे। इसके बाद बारह श्लोको मे भागवत दृष्टि से अन्य अनेक देवताओ का उल्लेख करते हुए कृष्ण के विराट् रूप का उपबृहण किया है (१२९।४–१६)।

तब सात्यकि का हाथ पकड कर कृष्ण सभा से चले गए। धृतराष्ट्र ने कृष्ण के जाते-जाते कहा—"हे कृष्ण, मेरा अपने पुत्रो पर जो प्रभाव है, वह आपने देख लिया। अब इस सारी स्थिति से परिचित होकर मुझ पर सदेह मत करिएगा।"

कुती का युधिष्ठिर को सदेश

वहाँ से कृष्ण कुती के घर गए और सभा का सब हाल सुनाया। कुती ने सुनकर कुछ व्यग से कहा—"हे केशव, धर्मात्मा युधिष्ठिर से कहना कि कोई ऐसा काम न करे कि धर्म का लोप हो जाय। उसकी बुद्धि केवल धर्म को देखती है, पर धर्म को भी तो ठीक तरह समझना चाहिए। ब्रह्मा ने क्षत्रियो को इसलिए बनाया है कि अपने बाहुबल से जिएँ और प्रजा का पालन करें।" मैंने बडे-बूढो से सुना था कि कुबेर ने प्रसन्न होकर राजा मुचकुन्द को यह पृथ्वी देनी चाही पर मुचकुन्द ने कहा कि जो मैं अपने भुजबल से अर्जित करूँगा, वही भोगूगा। और उसने अपने बाहु-वीर्य से प्राप्त राज्य ही भोगा। यही क्षत्रिय धर्म है। दडनीति ही राजा का सुधर्म है। राजा द्वारा दडनीति का पालन यही सतयुग है। काल राजा को बनाता है या राजा काल को, इसमे कभी सदेह मत करना। राजा ही काल का कारण हैं[1]। राजा के दोष से जगत् और जगत् की त्रुटियो से

(१) कालो वा कारण राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ॥ (१३०।१५)

राजा प्रभावित होता है। तुम जो सोचते हो, वह राजर्षियो का आचार नही। तुम्हारी जैसी वुद्धि हो रही है, वैसी तुम्हारे वाप-दादो की कभी नही थी। पितर पुत्रो से ही आशा लगाते है। तुम क्षत्रिय हो। अपने वाहु-वीर्य से जीवन विताओ और पिता के डूवे हुए राज्य का उद्धार करो। इससे अधिक क्या दु ख होगा कि मै दूसरो के टुकडो पर निर्भर रहूँ ?'

यहाँ कुन्ती ने विदुला का इतिहास सुनाया—"वह क्षात्र वर्म के आदर्श को मानती थी। उसके पुत्र को सिंवु देश के राजा ने हरा दिया था। तव दीन-चित्त उस पुत्र को विदुला ने राजसभा मे क्षात्र धर्म का उपदेश दिया—"अरे, न मैने, न तुम्हारे पिता ने तुम्हे जन्म दिया। कहाँ से तुम आ गए ? अपने को छोटा मत समझो। जीवन मे निराश मत वनो। उत्थान के लिए राज्य का भार सम्भालो। मुहूर्त्त भर धवकना अच्छा, देर तक धुँधु-आना अच्छा नही।" इस प्रकार अनेक प्रकार से विदुला ने अपने पुत्र को उत्साह, पुरुपार्थ, उद्यम का दृष्टिकोण समझाया। तत्पश्चात् उसके पुत्र ने माता के अनुशासन का पालन किया और विजयी हुआ (अ० १३१–१३४)। इस दर्शन का सम्वन्ध विशेषत क्षात्रधर्म एव प्रज्ञावादी दर्शन के साथ था। पराक्रम ही वास्तविक जीवन है। इस तथ्य के सूचक अनेक विशेषण उस उपाख्यान के अत मे आए है, जहाँ इस तेजोवर्धन दृष्टिकोण का पालन करने वाले व्यक्ति को विद्याशूर, तप शूर, दमशूर, वलयुक्त महाभाग, अपराजित, गोप्ता, सत्यपराक्रम, ब्राह्मतेज से दीप्तिमान और किसी के वर्पण को न मानने वाला कहा गया है।

कुंती का अर्जुन को संदेश

कृष्ण के प्रस्थान करते समय कुती ने अर्जुन को लक्ष्य करके विशेप सदेश दिया—"मै महान् धर्म को प्रणाम करती हूँ। धर्म प्रजाओ को धारण करता है। जिस लिए क्षत्राणी पुत्र को जन्म देती है, उसका समय अव आ गया है। तुम्हारे जन्म के समय जो आकाशवाणी ने कहा था कि यह पुत्र प्रतापी राज्य का उद्धार करेगा, वह वात सत्य हो।" तव कृष्ण ने कुन्ती को प्रणाम

करके विदा ली और नगर के बाहर आकर बहुत देर तक कर्ण से कुछ बातचीत की। धृतराष्ट्र के पूछने पर सजय ने उस सवाद का सार कहा। कृष्ण ने कर्ण के सामने एक नया पाँसा फेंका। उन्होने कहा—"तुम भी पाण्डवों के समान कुन्ती के पुत्र हो और धर्मशास्त्र के अनुसार ज्येष्ठ होने के कारण तुम्ही राजा बनोगे। मेरे साथ चलो तो आज ही पाण्डव तुम्हारे चरण पकडेंगे और उनके पुरोहित तुम्हारा अभिषेक करेंगे। युधिष्ठिर तुम्हारे युवराज बनेंगे।" किन्तु कर्ण जिस मिट्टी से बना था वह ब्रह्मा के पास भी थोडी ही है। कृष्ण जैसे व्यक्ति का दिया हुआ यह प्रलोभन उसे तिल भर भी न डिगा सका। उसकी आँख का तेज जैसा का तैसा रहा। उसने कहा—"हे कृष्ण, दुर्योधन ने जिस शस्त्र-यज्ञ का वितान किया है, उसमे अनेक योद्धा काम आएँगे। उसमें यदि तुम अर्जुन के द्वारा मेरा वध देखो तो समझना यज्ञ पूरा हुआ। जाओ और युद्ध के लिए अर्जुन को लेकर लौटना। यह जो तुमने कहा है, इसे गुप्त रखना। हे कृष्ण! जाओ या तो इस महायुद्ध से जीते बचकर हम तुम्हें मिलेंगे या फिर स्वर्ग में भेंट होगी।" इन वाक्यो में कर्ण का तेजस्वी व्यक्तित्व और विचारो का ऊँचा धरातल फूट पडा है। महाभारत के सब पात्रो मे मानवीय चरित्र की दृष्टि से यदि किसी एक को चुनना हो तो कर्ण का चरित्र बार-बार हमारे मन में टकराता है। कर्ण ने इस रहस्य को गुप्त रखने की बात कृष्ण से क्यो कही? उसने बहुत ऊँचे उठकर सोचा कि यदि लोग जान पाएँगे कि आपस मे फूट डालने के लिए कृष्ण ने ऐसा तुच्छ प्रस्ताव किया तो कृष्ण की कीर्ति को बट्टा लगेगा। सचमुच कर्ण जैसा महात्मा दुर्लभ है।

कुती और कर्ण

कर्ण के मन को पाण्डवो की ओर मोडने के लिए एक प्रयत्न कुन्ती ने भी किया। कृष्ण को छोडकर विदुर कुन्ती के पास आए और सम्भव है उन्होने यह प्रसग चलाया होगा। कर्ण गगातट पर सूर्योपासना कर रहे थे। कुती अपना कार्य निश्चित करके वही पहुँची। कुन्ती ने स्पष्ट

शब्दो मे वह कथा कह डाली जब कन्या दशा मे ही उसने कर्ण को जन्म दिया था और अनेक सुन्दर शब्दो से उसकी श्लाघा की। कर्ण ने दृढता से उत्तर दिया—"तुम केवल अपना हित देखती हो। पहले तुमने माता जैसा व्यवहार मेरे साथ नही किया, कि जन्म के बाद ही मुझे छोड दिया। आज तुम मुझे समझाती हो। यदि मै पाण्डव पक्ष मे मिल जाऊँ तो क्षत्रिय मुझे क्या कहेगे ? मै कदापि दुर्योधन को नही छोड सकता, किन्तु तुम्हारा यह प्रयत्न भी विफल नही होगा। अर्जुन के सिवा तुम्हारे और किसी पुत्र को मै न मारूँगा। मेरा युद्ध तो अर्जुन के साथ है। हम दोनो मे से कोई न भी रहे तो भी तुम पाँच पुत्रो की माता रहोगी (१४४।२२)।

: ५० :

सैन्य पर्व

(अ० १५१–१७२)

युद्ध की परामर्श-सभा और पाण्डव-सेना

कृष्ण ने उपप्लव्य नगर मे लौटकर हस्तिनापुर की सभा का विस्तृत हाल सुनाया और कहा कि यद्यपि मैने सत्य और पथ्य वचन कहे, पर दुर्योधन ने कुछ नही माना (अ० १४५–१४८)। तब युधिष्ठिर ने उचित समझा कि अपने सब भाइयो से उनका मत सुने। एक प्रकार से वह युद्ध की परामर्श-सभा बन गई और यही निश्चय हुआ कि युद्ध के अतिरिक्त अब दूसरी गति नही है। सहदेव ने राजा मत्स्यराज विराट को सेनापति बनाने का प्रस्ताव किया एव नकुल ने पाञ्चाल राज द्रुपद को सेनापति बनाये जाने की इच्छा प्रकट की, किन्तु अर्जुन ने धृष्टद्युम्न के लिए सम्मति दी। भीम ने शिखण्डी के नाम का प्रस्ताव किया। इस पर युधिष्ठिर ने कृष्ण की सम्मति जाननी चाही। कृष्ण ने व्यक्तिविशेष का नाम न लेकर

साभिप्राय अर्जुन की ओर देखा, जिससे उनका आशय स्पष्ट हो गया और धृष्टद्युम्न ही सेनापति बनाए गए। पाण्डवों की ओर सात अक्षौहिणी सेना थी, जिसके अलग-अलग सात सेनानी ये थे—द्रुपद, विराट, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, सात्यकि, चेकितान और भीमसेन। इन सात नेताओं में भी अग्रणी स्थान धृष्टद्युम्न को दिया गया। सेना के साथ पाण्डव कुरुक्षेत्र पहुँचे और वहाँ उन्होंने अपना शिविर लगाया। कुरुक्षेत्र मे हिरण्यवती नदी के किनारे शिविर-मापन किया गया और शिविर के चारो ओर गुप्ति के लिए खाई खोदी गई। शिविर मे भक्ष्यभोजन, काष्ठ, जल आदि का जैसा प्रबन्ध चाहिए, वह सब किया गया। वहाँ वेतनभोगी अनेक शिल्पी, कुशल वैद्य, शस्त्र, मधु, घृत, दाहक राल आदि की राशियाँ एकत्र की गई। नाराच, तोमर, परशु, शक्ति, धनुष, कवच आदि के पहाड़ लग गए।

दुर्योधन की सेना

दुर्योधन को जब पाण्डवो के अभियान की सूचना मिली तो उसने भी अपनी ग्यारह अक्षौहिणी सेना को शस्त्रास्त्रो से सज्जित होकर कूच का आदेश दिया। इस प्रसग में लेखक ने प्राचीन काल के कितने ही शस्त्रो की सूची दी है, जो सैनिक सामग्री में प्रयुक्त होते थे, जैसे—अनुकर्ष, तूणीर, वरूथ (रथ को ढकने के लिए बाघ आदि का चर्म), तोमर, उपासग (भारी तरकश), शक्ति, निषग, पोथिक, शरासन, परिस्तर, कचग्रह, व्याघ्रचर्म (बाघ की खाल से बनी ढाल), द्वीपिचर्म (तेंदुए की खाल से बनी ढाल), वस्ति (पानी फेकने का यत्र), शृग, प्रास, कुठार, कुदाल, पाश आदि। इसके अतिरिक्त गुड अर्थात् गोले और तेल मिली हुई बालू, राल का चूरा और रस भी युद्ध में प्रयुक्त होते थे। इससे ज्ञात होता है कि इन वस्तुओ को जलाकर शत्रु सेना पर फेंका जाता था।

कौरवो की ग्यारह अक्षौहिणी सेना के अलग-अलग सेनापति थे—कृपाचार्य, द्रोण, शल्य, जयद्रथ, कम्बोजराज सुदक्षिण, कृतवर्मा, अश्व-

त्थामा, कर्ण, भूरिश्रवा, शकुनि एव वाह्लीक। इन सबके ऊपर दुर्योधन ने प्रार्थना करके पितामह भीष्म को सर्वसेनापति नियत किया। भीष्म ने यह शर्त्त लगाई कि मै पाँच पाण्डु पुत्रो का वध नही करूँगा और दूसरी वात यह कही कि या तो पहले कर्ण ही युद्ध कर ले या मै युद्ध करूँ। कर्ण ने उदार हृदय से तत्काल कहा कि पहले भीष्म और पीछे मै लडूगा। इस प्रकार कौरव सेना भी कुरुक्षेत्र पहुँची और उसने वहाँ अपना शिविर लगाया।

वलराम का आना

यही पर एक छोटा-सा उल्लेख यह आता है कि पाण्डव शिविर मे वलराम जी पधारे। सबने उनका सम्मान किया, तव उन्होंने कहा—"सर्व क्षत्रिय मुझे कालपक्व दिखाई पडते है। भारी युद्ध होगा। मैंने कृष्ण से वहुत कहा कि दोनो अपने सम्वन्धी है, दोनो में समान वृत्ति रखो। जैसे पाण्डव हमारे है वैसे ही दुर्योधन भी। पर उन्होने मेरी वात न मानी। भीम और दुर्योधन दोनो गदायुद्ध मे मेरे शिष्य है। दोनो पर मेरी एक सी प्रीति है। मै अपनी आँखो से कौरवो का नाश होते नही देख सकता, इसलिए सरस्वती तट के तीर्थों की यात्रा करने चला जाऊँगा।"

इसी अवसर पर महापराक्रमी रुक्मी ने, जिसे अपने तेज के कारण माहेन्द्र-विजय धनुष प्राप्त हुआ था, पाण्डवो को अपनी सहायता अर्पित की, पर रुक्मिणी के विवाह के समय की पुरानी वात याद करके पाण्डवो ने कहा—"हमे तुम्हारी सहायता नही चाहिए।" विचित्र है कि रुक्मी के वैसा ही प्रस्ताव करने पर दुर्योधन ने भी उसे अपने पक्ष मे न लिया और वह लौट गया।

उलूक का दूत वनकर पाण्डव के पास आना

दुर्योधन के मन में पाण्डवो के विरुद्ध जो विष भरा हुआ था, उसमे एक ताजी लहर आई। उसने उन्हें चिटाने के लिए उलूक को दूत वनाकर भेजा और एकदम मुँहफट होकर पाण्डवो को चिढाने के वाक्य कहे—

"तुम लोग अव तक व्यर्थ वकवास करते थे, अव कुछ करके दिखाओ। अरे मुण्डे', पेटू भीम, तू सभा मे दुःशासन का रक्त पीने की डींग हांकता था अव कुछ करके दिखा। कुएँ के मेंढक की तरह तू नही जानता कि मेरी सेना कितनी है? अरे अर्जुन, तेरे रोते-कलपते भी मैं तेरह वर्ष तक राज्य भोगता रहा। फिर तुझे मारकर वैसा ही करूँगा। तेरा वह गाण्डीव कहाँ गया? हजार कृष्ण भी आ जायँ तो क्या मै डरने वाला हूँ?" दूत द्वारा उसके ऐसे वाग्वाण सुनकर पाण्डव छटपटाने लगे और साँप की तरह क्रोधित हो एक दूसरे का मुँह देखने लगे, पर कृष्ण का संतुलन वैसा ही रहा। उन्होने कहा—'हे उलूक, जाओ। सुयोधन से कहना कि हमने तुम्हारा कथन सुना और अर्थ भी समझ लिया। तुमने जो मुझ पर कटाक्ष किया है वह भी अनुचित है, मै युद्ध नही करूँगा। मुझे पाण्डवो ने केवल सारथी चुना है, तू डर न कर। यदि तू आकाश मे उड जाय या धरती मे समा जाय तो भी तुझे सवसे पहले प्रतिदिन अर्जुन का रथ सामने दिखाई पडेगा (अ० १५९)।

इसके वाद दुर्योधन के पूछने पर भीष्म ने अपनी और शत्रु की सेना के महारथी, रथी और अर्धरथी योद्धाओ का वर्णन किया (अ० १६२–१६९)। और अन्त मे कहा कि जितने राजा है मै सवसे लडूंगा, केवल शिखडी से नही। दुर्योधन के कारण पूछने पर भीष्म ने अम्वा का उपाख्यान सुनाया।

: ५१ :

अम्बोपाख्यान

(अ० १७०–१९१)

इस उपाख्यान का पूर्वांश आदिपर्व में आ चुका है (भारत सावित्री भाग १, पृष्ठ ७८–७९, अ० ९९–१००)। काशिराज ने अम्वा,

(१) (सं०) तूवरक=वह वैल जिसके सींग न हो, अर्थात् विना जवानी के फूला हुआ मुस्टण्डा।

अम्बिका, अम्बालिका नामक अपनी तीन कन्याओ का स्वयम्वर किया था। भीष्म को अपने भाई विचित्रवीर्य के विवाह की चिन्ता थी। वे बलपूर्वक तीनो कन्याओ को स्वयम्वर मे से ले आए। ज्येष्ठ कन्या का नाम अम्बा था। उसका सौभराज शाल्व से प्रेम था। अतएव भीष्म ने उसे वहाँ जाने की सहर्ष अनुमति दे दी। शेष दो छोटी वहनो का विवाह विचित्रवीर्य से कर दिया। व्यास जी के नियोग द्वारा अम्बिका से धृत-राष्ट्र और अम्बालिका से पाण्डु का जन्म हुआ। अम्बा जब शाल्व के यहाँ पहुँची तो उसके वहुत विनय करने पर भी शाल्व ने उसे लेना स्वीकार न किया। वह चिन्ता करने लगी कि अब मै क्या करूँ? इसी उलझन मे वह शैखावत्य नाम के तपस्वी ब्राह्मण के आश्रम मे पहुँची और वहाँ सहायता की याचना की। मुनियो ने उसका हाल जानकर सहायता का वचन दिया। पर वे निश्चय न कर सके कि कन्या को क्या करना चाहिए? उसी समय वहाँ होत्रवाहन नाम का राजा आया। उसने कन्या से कहा—"मुझे तू अपना पिता समझ, मै तेरा दुख दूर करूँगा। तू मेरे कहने से जमदग्नि के पुत्र, परशुराम के पास जा, वे तेरा उपाय करेगे।' उसी समय वहाँ परशुराम के सखा अकृतव्रण नाम के मुनि आए। उनसे भी वही चर्चा हुई। उन्होने उसे भीष्म के पास जाने की सलाह दी, पर सयोग से रात्रि के समय परशुराम वहाँ आकर प्रकट हो गए। होत्रवाहन ने अम्बा का परिचय कराया और अम्बा ने रोते हुए उनसे प्रार्थना की कि मेरा दुख दूर कीजिए। परशुराम ने उसे धैर्य देते हुए कहा कि मै तुम्हारा कार्य करूँगा। यदि भीष्म से युद्ध भी करना पडे तो भी मै पीछे न हटूगा। तव परशुराम भीष्म के पास आए और उन्हे वहुत प्रकार से समझाया। पर भीष्म ने उनकी वात स्वीकार करने मे अपनी असमर्थता प्रकट की। इसके वाद गुरु और शिष्य का घोर युद्ध हुआ। भीष्म ने गुरु को रथविहीन देखकर आग्रह किया कि वे भी रथ ले ले। किन्तु परशुराम ने कहा—'मेरे जैसे ब्रह्मतेजस्वी ऋषि के लिए पृथ्वी ही रथ है, चारो वेद सुन्दर अश्व है, भगवान् मातरिश्वा मेरे सारथि है, वेद माताएँ मेरा कवच

हैं[1]। दोनो के अत्यन्त घोर सग्राम का विस्तृत वर्णन किया गया है। अन्त मे ऋचीक, नारद आदि आठ ब्रह्मवादी ऋषियो ने बीच-बचाव किया और दोनो युद्ध से निवृत्त हुए। तब परशुराम ने अम्बा से कहा—"हे भद्रे, मै जो कर सकता था, वह मैने किया। अब भीष्म के विरुद्ध मेरी शक्ति नही। तुम जैसा चाहो, करो।" अम्बा ने भी उत्तप्त होकर कहा—"मैं भीष्म के पास कदापि नही जाऊँगी। मै वह उपाय करूँगी जिससे युद्ध मे उसका वध करूँ।" परशुराम तो महेन्द्र पर्वत पर चले गए और अम्बा तप करने के लिए वन मे चली गई। वहाँ यमुना तट के एक आश्रम में उसने बारह वर्ष तक कठोर तप किया। अत मे भीष्म के वध की इच्छा लिए हुए उसने शरीर त्याग दिया। दूसरे जन्म मे भी वह कन्या होकर फिर तप करने लगी। उसके नाम से वत्स देश में एक छोटी बरसाती नदी भी अम्बा कहलाई। अगले जन्म मे उसकी कठोर तपश्चर्या से प्रसन्न होकर शिव ने प्रकट होकर उसे वरदान दिया कि तू भीष्म का वध करेगी और जन्मान्तर में पुरुष रूप से जन्म लेगी। वही राजा द्रुपद के यहाँ शिखण्डी रूप मे उत्पन्न हुई है।

शिखंडी का स्वरूप

कथा मे आगे यह भी कहा है कि द्रुपद के यहाँ भी उसने कन्या रूप मे जन्म लिया था। द्रुपद के कोई सतान न थी। उन्होने तप करके शिव से वरदान माँगा तो भगवान् शिव ने कहा कि पहले तुम्हारे कन्या जन्म लेगी किन्तु पीछे वह पुत्र रूप में परिवर्तित हो जायगी। द्रुपद के यहाँ कन्या उत्पन्न होने पर उन्होने उसके कन्याभाव को छिपाकर दशार्ण देश के राजा की पुत्री के साथ उसका विवाह कर दिया। पर बात खुल गई और दशार्ण के राजा को भी पता चला। वह सेना लेकर चढ आया। द्रुपद के लिए

---

(१) रथो मे मेदिनी भीष्म वाहा वेदा सदश्ववत्।
सूतो मे मातरिश्वा वै कवचं वेदमातर.॥ (१८०।३)

वडा संकट उपस्थित हो गया। राजा-रानी दोनो वहुत चिन्तित हुए और भाँति-भाँति से देवताओ की आराधना करने लगे। इसी समय शिखण्डिनी कन्या भागकर वन मे चली गई। वहाँ स्थूणाकर्ण नाम के यक्ष ने उसका हाल जानकर दयाभाव से उसे अपना पुरुपत्व दे दिया और उसका स्त्रीत्व स्वय ले लिया। इस रूप में शिखण्डी नगर मे पुन प्रविष्ट हुआ। इससे द्रुपद को वहुत हर्ष हुआ और उसने दशार्ण राजा के पास सूचना भेजी कि आकर देख लो, मेरे यहाँ पुत्र है कन्या नही। पहले दूत भेजे गए, फिर दशार्ण राज ने स्त्रियो को भेजकर अपना समाधान किया और दोनो मे सन्धि हो गई। उधर कुछ समय वाद यक्षराज कुवेर घूमते हुए अपने अनुचर स्थूण यक्ष के भवन के पास पहुँचे। स्थूणाकर्ण लज्जा से घर मे छिप रहा और उनके स्वागत के लिए नही आया। तव अनुचरो से पूछने पर कुवेर को सव हाल ज्ञात हुआ कि महाराज उसने तो कुछ समय के लिए अपना पुरुपत्व देकर स्त्री-लक्षण स्वीकार कर लिया है। कुवेर ने यक्ष को वुलवाया और वह लज्जावश स्त्री रूप मे उनके सामने उपस्थित हुआ। तव कुवेर ने कहा—'तुमने अनहोनी वात की है, इसलिए आज से तुम स्त्री वने रहोगे और वह पुरुप रहेगा।' फिर अन्य यक्षो के अनुनय-विनय करने पर उन्होने कहा कि जव युद्ध मे शिखण्डी का अन्त हो जायगा तव फिर तुम अपना पुरुपत्व प्राप्त करोगे।

शिखण्डी को यक्ष ने अपना पुरुपत्व नियत समय के लिए ही दिया था। समय आने पर शिखण्डी उसके पास आया। इस सचाई से प्रसन्न होकर यक्ष ने कहा कि तुम्हारे कारण मुझे कुवेर शाप दे चुके है, अव तुम जाओ और जीवन भर पुरुपत्व का भोग करो। यह सुनकर शिखण्डी हर्प के साथ अपने नगर को लौट आया।

अन्त में भीष्म ने कहा—"वही अम्बा नाम की कन्या शिखण्डी है। मेरा व्रत है कि मै स्त्री पर या स्त्री नाम वाले व्यक्ति पर या जो पहले स्त्री रहा हो उस पर वाण नहीं चलाऊँगा।" यह सुनकर दुर्योधन भी चुप हो गया।

शिखडी की कथा का क्षेपक रूप

यह कुछ उलझा हुआ उपाख्यान महाभारत के इस प्रसग का आवश्यक अग नही ज्ञात होता। एक तो आदि पर्व में अम्बा की कथा का उचित स्थान था ही। दूसरे यहाँ की इस कथा के सूत्र बहुत ही उखडे और उलझे हुए हैं। शैखावत्य का आश्रम, वहाँ अकृतव्रण राजा का अकस्मात् आ जाना और सबसे अधिक परशुराम का भी अकस्मात् प्रकट हो जाना, ऐसे अभिप्राय हैं, जो कथा की कृत्रिमता सूचित करते हैं। सर्वथा यह कहानी बाद में जोडी गई प्रतीत होती है। भीष्म और जामदग्नि राम के इस घोर युद्ध की कल्पना भी जानबूझकर की गई है। हमें विदित है कि भार्गव राम का चरित्र महाभारत के कितने ही स्थलो पर अजेय योद्धा के रूप में रक्खा गया है, जिन्होंने इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियो से शून्य कर दिया था। वही भार्गव वीर राम अपने ही शिष्य गागेय भीष्म से परास्त होते हैं और निस्तेज एव निरुपाय होकर महेन्द्र पर्वत पर चले जाते हैं। यह कथा किसने रची होगी? इस पर विचार करते हुए हमारा ध्यान पचरात्र भागवतो की ओर जाता है। गुप्त युग की भागवत मान्यता के अनुसार द्वादश महाभागवतो में भीष्म की प्रमुख गणना थी। जैसा भागवत में स्पष्ट कहा है—

> स्वयभूर्नारद. शम्भु. कुमार. कपिलो मनु ।
> प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम् ॥ (भागवत ६।३।२०)
>
> द्वादशेते विजानीमो धर्म भागवत भटा. ।
> गुह्य विशुद्ध दुर्बोध य ज्ञात्वामृतमश्नुते ॥ (भागवत ६।३।२१)

इस सूची में स्वय शिव को भी भागवत कहा गया है। भीष्म वासुदेव कृष्ण के बहुत बडे भक्त थे, ऐसा महाभारत में शातिपर्व में आए हुए भीष्मस्तवराज (अ० ४७) नामक स्तोत्र से सूचित होता है। भृगुवशी परशुराम शिव के भक्त थे। एक मान्यता के अनुसार वे शिव के अवतार

ही थे। इस प्रकार के परमशैव ऋषि, परम भागवत भीष्म के समक्ष प्रभावहीन हो जाते हैं। यही इस आख्यान की रचना का मार्मिक उद्देश्य था।

शिखण्डिनी मे लिग-परिवर्तन की घटना उसी प्रकार तथ्यात्मक जान पडती है, जैसी कई घटनाएँ वर्तमान युग मे सुनी जाती हैं। प्राचीनकाल मे ठीक ही इसे दैवी चमत्कार समझा गया जिसमे एक ओर शिव के वरदान और दूसरी ओर कुवेर के अनुचर यक्ष की सहायता की आवश्यकता पडी। यक्ष स्त्रीप्रसक्त मनोवृत्ति के प्रतीक माने जाते थे। ऊपर की पृष्ठभूमि मे इस विचित्र कथा के तन्तुओ की सगति समझी जा सकती है।

: ५२ :

मातलीय उपाख्यान और गालव-चरित

(अ० ९४–१२१)

जव कौरवो की सभा मे कृष्ण अपना भाषण समाप्त कर चुके तो स्वाभाविक यह था कि उपस्थित सदस्य अपना मत प्रकट करते। अवश्य ही मूल महाभारत मे इसी प्रकार का पाठ रहा होगा, जिसके अनुसार अध्याय ९३ के वाद वह प्रकरण था जो इस समय अध्याय १२३ मे कृष्ण की उक्ति पर भीष्म के वचन से आरम्भ होता है। जैसा हम पहिले लिख चुके है बीच के २८ अध्याय बेडौल पैवन्द की तरह अलग पहचाने जाते हैं। इनमे दो कथानक हैं। पहले मे इद्र के सारथि मातलि की कन्या की कथा है (अ० ९४–१०३)। दूसरे में गालव द्वारा अपने गुरु विश्वामित्र को गुरुदक्षिणा मे ८०० श्यामकर्ण घोडे देने की कथा है (अ० १०४–१२१)। इन दोनो उपाख्यानो का लोक मे पृथक् अस्तित्व था। वहाँ से पचरात्र भागवतो की कृपा द्वारा इन्हें 'महाभारत' मे स्थान

प्राप्त हुआ। इन्हें पढते ही रचयिताओ की छाप प्रकट हो जाती है। मातलि उपाख्यान इस प्रकार है।

जब कृष्ण हस्तिनापुर आ रहे थे, तो सक्षेप में एक सूचना दी गई है कि मार्ग में उन्हें कुछ ऋषि मिले और उन्होने अनुमति चाही कि आपका जो अभूतपूर्व भाषण कौरव-सभा में होने वाला है, क्या हम भी उसे सुनने आ सकते है ? कृष्ण को इसमें क्या आपत्ति होनी थी ? उनका सकेत पाकर ऋषि भी सभा मे पहुँच गए। कृष्ण तो वहाँ थे ही, उन्होने भीष्म से कहकर ऋषियो को भीतर बुलवाया और सम्मानपूर्वक आसन दिलवाया। वे चुपचाप कृष्ण का भाषण सुनते रहे। यहाँ तक तो किसी प्रकार सगति लगाई भी जा सकती है, पर इतने बडे ऋषि सभा में आकर चुप रह जायँ ये कैसे सम्भव था ? अतएव कृष्ण के बैठते ही जामदग्नि परशुराम ढीठ होकर कहने लगे—"एक सच्चा दृष्टान्त मै कहता हूँ, उसे पहले सुनकर फिर अपना मार्ग निश्चित कीजिएगा। कोई दम्भोद्भव नामक राजा था। युद्ध के लिए उसके भुजदण्ड फडकते रहते थे। अपने योग्य प्रतिपक्षी से भिडन्त करने के लिए जब सारी पृथ्वी में फिरकर उन्हें कोई न मिला, तो अपने यहाँ के ब्राह्मणो से पूछा कि ऐसे किसी पुरुष का नाम बताओ जो मेरे सामने डट सके। बार-बार तग करने पर उन्होंने भी कह दिया कि दो बबर शेर तुल्य मनुष्य ऐसे है कि तुम उनके सामने कुछ नही। राजा ने चट पूछा कि वे कौन हैं ? विनोदी ब्राह्मणो ने कहा—"हमने सुना है कि वे नर-नारायण नाम के ऋषि है। जो मनुष्य लोक में जन्मे है, उनसे चाहो तो युद्ध करो। वे गन्धमादन पर तप कर रहे हैं। यह सुनकर दम्भोद्भव बडी सेना सजाकर वही पहुँचा। ऋषियो ने स्वागत करके आने का कारण पूछा तो राजा ने कहा कि मै युद्ध के लिए आया हूँ, वही मेरा आतिथ्य है। ऋषियो ने कहा—"यह आश्रम है। यहाँ क्रोध, लोभ और युद्ध नही होता।" पर दम्भोद्भव उन्हें ललकारता रहा। इस पर नर ने सीको की एक मुट्ठी उठाकर उसकी तरफ फेंक दी और कहा कि लो इससे युद्ध कर लो। देखते-देखते वे सीकें धरती

से आकाश तक छा गई और सैनिको की आँख, नाक तथा कानो मे भर गई। राजा का दर्प चूर हो गया और वह ऋषि के चरणो मे गिर पडा। तब उसे अभय देते हुए ऋषि ने समझाया कि धर्म का पालन करो। जाओ, अब फिर ऐसा न करना। राजा अपने नगर को लौट आया। नर नामक ऋषि की इतनी महिमा थी, नारायण तो उनसे कितने ही गुना बडे थे।"

यह कहानी सुनाकर परशुराम ने समझाया कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान, मत्सर और अहकार ये आठ घोर शत्रु है[1]। इनके वश में पडने से मृत्यु ही हो जाती है। हे दुर्योधन, इनसे बचो। नर-नारायण ही अर्जुन और कृष्ण है।

इस कथा का आशय नितान्त स्पष्ट है। दम्भोद्भव दुर्योधन का ही प्रतीक है। वह युद्ध के लिए तडप रहा है और किसी को अपने जैसा नही समझता। किसी भागवत कथाकार ने उपयुक्त अवसर पर उसे यह

(१.) यहाँ एक विचित्रकूट श्लोक है—

काकुदीक शुकं नाकमक्षिसतर्जनं तथा।
सतान नर्तन घोरमास्यमोदकमष्टमम्॥ (९४।३८)

(१) काकुदीक=कूचड़वाला साँड, काम।
(२) शुक=टाँय-टाँय करने वाला सुग्गा, क्रोध।
(३) नाक=मौज मजे वाला स्वर्ग, लोभ।
(४) अक्षि-सतर्जन=दुखती हुई आँख, मोह।
(५) संतान=कल्पवृक्ष, मद।
(६) नर्तन=मटकना, मटकता हुआ मोर, मान।
(७) घोर=सतानेवाला, भैरव, मत्सर।
(८) आस्यमोदक=मुंह लड्डू, अहकार।

(सतान स्वर्ग के एक वृक्ष की संज्ञा है। इससे मद चुआया जाता था)। ये आठ दैवी अस्त्र जिसे बाँध देते है वह बिना मृत्यु के मर जाता है, बौरा जाता है या बेहोश हो जाता है।

सकेत देना उचित समझा कि जिन कृष्ण और अर्जुन को तुम तुच्छ समझ रहे हो, वे साक्षात् नर-नारायण ऋषि हैं जिनके सामने तुम तिनके के वरावर भी नही हो ।

मातलि-चरित

वहाँ उपस्थित ऋपियो में कण्व भी थे। उन्होने भी विष्णु की महिमा का वर्णन करते हुए एक कहानी सुनाई—"इन्द्र के सारथि मातलि की गुणकेशी नामक एक ही कन्या थी । उसके योग्य कोई वर देवलोक या मनुष्य-लोक में जव पिता को नही मिला तो वह नागलोक में गया । मार्ग में नारद भी मिल गए और साथ हो लिए । वहाँ उन्होने मातलि को वैष्णव चक्र और गाण्डीव धनुप दिखाया जो दोनो अग्नि की ज्वालाओ से धधक रहे थे और देवता जिनकी रक्षा कर रहे थे (९६।१८–१९) । ऐसे चमत्कारी अद्भुत रूप दिखाते हुए नारद ने नागलोक या पाताल में असुरो का हिरण्यपुर दिखाया और अनेक नाग, असुर, सुपर्णों का दर्शन कराते हुए एक विष्णु-भक्त परिवार का परिचय कराया जिसमें गरुड ने जन्म लिया था । उसके वाद रसातल में फेनपा नामक ऋषियो का दर्शन कराते हुए सुरूपा, हसका, सुभद्रा और कामदुघा नाम की चार गउओ का परिचय कराया जिनके दुग्ध से क्षीरसागर का निर्माण हुआ था, जिसे मथकर असुरो और देवो ने रत्नो को प्राप्त किया था । तब भोगवती नामक पुरी में वासुकि और शेष का दर्शन कराया । यहाँ ६० से अधिक नागो के नामो की एक सूची दी गई है । ज्ञात होता है कि यह किसी पुरानी अनुश्रुति का अग थी । अत मे मातलि की निगाह सुमुख नाम के एक नागकुमार पर ठहरी और उसने अपनी कन्या उसे देनी चाही । सुमुख के पिता को गरुड ने खा डाला था । सुमुख के पितामह आर्यक ने उपयुक्त अवसर जानकर अपने पुत्र का जीवन माँगा । मातलि ने कहा—"हमारी कन्या का और तुम्हारे पौत्र का सम्वन्ध तय रहा । तुम हमारे साथ स्वर्ग में इद्र के पास चलो । हम तुम्हारा कार्य कराएँगे ।" नागराज ने वैसा ही

किया। सब लोग देवलोक मे गए और वहाँ उन्होने इद्र को देखा। सयोग से चतुर्भुजी विष्णु भी वहाँ इद्र से मिलने आए हुए थे। नारद ने वह समस्या सुनाई। सुनते ही विष्णु ने इद्र से कहा कि आर्यक को अमृत दो जिससे उसका पुत्र जी उठे। इद्र गरुड का पराक्रम समझकर सोच मे पड गए और उन्होने विष्णु से कहा कि आप ही दीजिए। विष्णु ने कहा—"हे इन्द्र, तुम चराचर लोक के स्वामी हो। तुम्हारे दिए हुए को कौन उलट सकता है ?" तब इद्र ने उस नाग को आयु का वरदान दे दिया किन्तु अमृत नही चखाया।

इससे आगे कथा एक नया मोड लेती है। गरुड ने जब इद्र के वर-दान की बात सुनी तो वे आपे से बाहर हो गए। उन्होने इद्र के पास आकर कहा—"हे इद्र, ब्रह्मा ने हमारे भोजन का जो विधान किया है, उसमे बाधा डालनेवाले तुम कौन हो ? यदि तुम इसी प्रकार हमारे साथ छेडछाड करोगे तो हम प्राण त्याग देंगे। क्या तुम हमको इसलिए डपटते हो कि हम तुम्हारे छोटे भाई के नौकर है ? मेरे बल को देखो, मै तुम्हारे भाई को अपने पख की फुनगी पर बैठाकर ले जाता हूँ।" विष्णु तो वहाँ थे ही। गरुड के दर्पयुक्त वचन सुनकर उन्हे भी ताव आ गया और उन्होने कहा—"हे गरुड ! मेरे सामने इस प्रकार अपने बल की डीग मारना उचित नही। तुम क्या, तीन लोक भी मेरा भार धारण नही कर सकते। मै स्वय अपने आपको और तुम्हें भी धारण करता हूँ। तुम्हारी शक्ति हो तो केवल मेरी दाहिनी भुजा ही उठा लो। यदि ऐसा कर सके तो तुम्हारा दर्प सफल है।" यह कहकर विष्णु ने गरुड़ के कन्धे पर अपनी भुजा रख दी। गरुड को ऐसा लगा मानो समस्त पृथ्वी और पर्वतो का भार उन्हे दबा रहा हो। वे विह्वल हो गए और अपनी अल्पता जानकर उन्होने विष्णु को प्रणाम किया—"भगवन्, आपकी केवल एक भुजा ने मुझे पीस डाला। मुझे क्षमा कीजिए। मैने आपका बल नही जाना।"

कहानी सुनाकर कण्व ने फिर दुर्योधन को विष्णु के माहात्म्य के विषय मे सावधान करना चाहा। पर दुर्योधन ने उनकी बात को हवा मे

उडाते हुए कहा—"अरे ऋषि, ब्रह्मा ने मुझे जैसा बनाया है, मैं वैसा हूँ, वैसा ही रहूँगा। तुम व्यर्थ प्रलाप क्यो करते हो (१०३।३८) ?" कथासूत्र की दृष्टि से गरुड और इद्र की तू-तू-मैं-मैं की यह कहानी नितान्त भौंडी है। विष्णु के माहात्म्य की मोहर दुर्योधन के मन पर लगाने के लिए इस प्रकार गरुड को ही निमित्त बनाना बहुत समीचीन नही कहा जा सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि इद्र, विष्णु और गरुत्मा सुपर्ण (गरुड) इन तीनो का जो वैदिक पृष्ठभूमि में ऐक्य सम्बन्ध था उसे भागवतो ने कुछ अपने ढग से ढाला है। कुषाण युग की कला में गरुड और नागो का सग्राम कई बार अकित हुआ है, जिसमें गरुड विजयी दिखाए गए है। शक-यवन-सस्कृति मे गरुड की अत्यन्त महिमा मानी जाती थी। उसी के उत्तर में गरुड के दर्पभग की यह कथा पचरात्र भागवतो द्वारा विरचित हुई किन्तु विष्णु का वाहन होने से गरुड वैष्णवो के लिए भी पूज्य थे, अतएव उनके बल और लोकव्यापी प्रभाव को इस प्रकार घायल करके छोड देना भी कथाकार को मन पूत नही हुआ। तभी गालवचरित की एक नई कथा जोडकर गरुड के माहात्म्य की पुन प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया गया है। नारद भागवतो के आदर्श थे। और वे ही इस अगली कथा के वक्ता हैं।

गालव-चरित

कौरवो की सभा मे उपस्थित मुनियो में नारद भी थे। दुर्योधन को उपदेश देने की उनकी बारी आई—"हे कुरुनदन, हितैषी सुहृद् दुर्लभ है। उसकी बात माननी चाहिए। हठ करना उचित नही, उसका परिणाम भयकर होता है। एक कथा कहता हूँ उसे सुनो। पहले विश्वामित्र ऋषि की गालव नाम के मुनि ने बहुत सेवा की। अपने शिष्य की भक्ति से विश्वामित्र प्रसन्न हुए और उसे जाने की अनुमति दी। गालव ने कुछ गुरुदक्षिणा देने की इच्छा प्रकट की। विश्वामित्र उसकी सेवा से ही प्रसन्न थे पर गालव के बार-बार आग्रह करने से वे रुष्ट हो गए और उन्होने ८०० श्यामकर्ण घोडे, जिनका एक कान काला और शेष रग श्वेत हो, लाने को

कहा। गुरु की बात सुनकर गालव की तो भूख-प्यास जाती रही। वह सूखकर काँटा हो गया। चिन्ता मे डूबा हुआ वह सोच रहा था कि मैंने आजतक किसी से कुछ नही माँगा, क्यो न मैं महायोगी सब देवो में श्रेष्ठ विष्णु की ही शरण मे जाऊँ ? तत्काल उसके सामने गरुड जी प्रकट हुए। गरुड ने उसकी इच्छा जानकर कहा—"भगवान् विष्णु सबकी कामना पूरी करते है। तुम जहाँ कहो, तुम्हारी कामनापूर्त्ति के लिए मैं तुम्हें वहाँ ले चलू।" यह कहकर गरुड ने चारो दिशाओ के भूगोल का वर्णन किया (अ० १०६–१०९)।

दिक्-वर्णन

यह दिक्-वर्णन गुप्त युग की विशेषता थी। स्थल और जल से यात्रा करने वाले अनेक सार्थवाह और सायात्रिक पोताध्यक्षो को इस प्रकार के दिक्वर्णन की आवश्यकता पडती थी। उनके सगे-सम्बन्धी भी पुराणो की कथाओ के द्वारा इन्हे सुनना चाहते थे। अतएव इस प्रकार के छोटे-बडे कई दिक्वर्णन उस समय रचे गए, जो साहित्य मे पडे रह गए है। महाभारत के सभापर्व में जो अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव इन चारो भाइयो की दिग्विजय का वर्णन है, उसमे कुषाण-गुप्त-युग के जल-थल मार्गों का विस्तृत उल्लेख है। उसी के आगे उपायन पर्व मे भी दिक् वर्णन के आश्रय से उस समय की भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति और व्यापार का बहुत मूल्यवान् वर्णन सुरक्षित रह गया है। इसकी व्याख्या हम प्रथम भाग में विस्तार से कर चुके है (भारत सावित्री भाग १, पृष्ठ १३३–१४३, सभापर्व, अ० २३–२९, वही, पृष्ठ १५२–१५६, अ० ४५–४८)। इसी प्रसग में 'वाल्मीकि रामायण' के किष्किन्धा काड के दिग्वर्णन का भी स्मरण आता है (अ० ४०–४३) जिसमे यवद्वीप (जावा) के सप्त राज्य और सुवर्ण द्वीप (सुमात्रा) से लेकर मध्य एशिया की शैलोदा नदी (वर्तमान खोतन नदी, जहाँ यशव की खानें है) और उत्तर कुरु (चीनी तुर्किस्तान) तक का उल्लेख आया है।"

हरिमेधस् ऋषि की ध्वजवती कन्या का अर्थ

गरुड का यह दिग्वर्णन उन वर्णनो की अपेक्षा अधिक काल्पनिक और सक्षिप्त है, फिर भी पश्चिम दिशा के वर्णन में एक उल्लेख बहुत ही महत्त्वपूर्ण है —

अत्र ध्वजवती नाम कुमारी हरिमेधस. ।
आकाशे तिष्ठ तिष्ठेति तस्थौ सूर्यस्य शासनात् ॥ (१०८।१३)

अर्थात् हरिमेधस् की ध्वजवती नाम की कुमारी कन्या सूर्य की आज्ञा से आकाश मे खडी हो गई। यह श्लोक जितना क्लिष्ट और गूढ है उतना ही ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। हरिमेधस् कौन है ? उनकी कुमारी कन्या ध्वजवती कौन है ? सूर्य के आदेश से वह आकाश में क्यो खडी है ? इन तीन प्रश्नो का उत्तर भारतीय साहित्य में कही नही है। इनका उत्तर ईरानी पारसीक धर्म में है। 'अहुरमज्द' ईरानियो के सबसे बडे देव है। उन्हें सासानी युग की पहलवी भाषा में' हुरमुज्' कहा गया। उन्ही के लिए गुप्तयुग की संस्कृत भाषा मे 'हरिमेधस्' नाम का प्रयोग हुआ है। देव 'हरिमेधस्' का उल्लेख पश्चिम दिशा के सम्बन्ध में कितनी ही बार शान्ति पर्व के अन्तर्गत नारायणीय पर्व में आया है (३२३।१२, ३२५।४, ३३५।८ आदि)। वस्तुत शक-कुषाण काल में सूर्य पूजा के साथ हरिमेधस् देव और उनके धर्म का साक्षात् परिचय भारतवासियो को प्राप्त हुआ था। इन्ही अहुरमज्द की शक्ति या प्रभा ह्वरेनो कहलाती थी। उसका अकन प्रभामडल के भीतर होता था और उसके दोनो ओर फहराता हुआ पट या ध्वज दिखाया जाता था। इसी कारण यहाँ उसे ध्वजवती नाम दिया गया है। प्राचीन ईरानी और सासानी काल में इस प्रभारूपी शक्ति को युवती के रूप मे आकाश में स्थित दिखाया गया है। अहुरमज्द या हरिमेधस् की उस शक्ति का प्रेमी सूर्य है, मानो सूर्य के लिए ही वह आज-तक आकाश मे व्याप्त है। मित्र या मिहिर की पूजा प्राचीन पारसी धर्म की विशेषता थी। शक-कुषाणो के समय में सासानी या उदीच्य वेशधारी

सूर्य की अनेक प्रतिमाएँ वनाई गई । इनमे भी सूर्य के मस्तक से कन्धो के पीछे फहराता हुआ पट दिखाया जाता है, जो प्राय सभी सासानी युग की मूर्तियो मे देखा जाता है। गुप्तकला मे भी वह वहुधा मिलता है। इसी पृष्ठभूमि में इस श्लोक की रचना हुई।

• तत्पश्चात् गरुड की पीठ पर वैठकर गालव सर्वत्र हो आए पर उन्हे घोडे न मिले। तब वे गरुड की सलाह से ययाति राजा के यहाँ गए। प्रतिष्ठान के राजा ययाति ने कहा कि मेरे पास घोडे तो नही एक माधवी नामक कन्या है, उसे तुम ले जाओ। उसके विवाह शुल्क मे तुम्हे श्यामकर्ण अश्व राजाओ से प्राप्त हो जाएँगे। गालव कन्या को लेकर पहले हर्यश्व नामक राजा के यहाँ गया और फिर काशिराज दिवोदास के यहाँ और इसी तरह अत मे भोजनगर के उशीनर राजा के यहाँ गया। प्रत्येक ने उसे दो-दो सौ श्यामकर्ण अश्व दिए। और अत मे शेप २०० घोडो के लिए उस माधवी कन्या को विश्वामित्र को ही अपर्ण कर दिया। ययाति की कन्या माधवी के उपाख्यान के अन्त मे स्पष्ट ही फलश्रुति का उल्लेख है। माधवी के चार पुत्रो ने अपने पुण्य फल से अपने नाना ययाति को स्वर्ग मे भेजा। ज्ञात होता है कि यह उस कथा का कोई दूसरा पुछल्ला था, जिसमे ययाति के स्वर्ग जाने की और वहाँ से पुण्यफल क्षीण होने पर गिरने की कथा थी। ययाति का आख्यान प्रसिद्ध था और उसके दो भागो को पूर्व यायात और उत्तर यायात कहा जाता था (आदि० अ० ७०–८८) जैसा महाभाष्य (सूत्र ६।२।१०३) मे आया है। ययाति कन्या माधवी के चार पुत्रो की कथा और उन दौहित्रो के पुण्य से ययाति की स्वर्गप्राप्ति उत्तर यायात आख्यान का उछटा हुआ अग ज्ञात होता है। विश्वामित्र और गालव की कहानी के साथ उसका जोड नितान्त शिथिल है। भगवद्यान पर्व के साथ तो उसकी सगति किसी प्रकार वैठती ही नही। इसके कारण कथासूत्र के प्रवाह मे असह्य विक्षेप उत्पन्न होता है।

छठा भीष्म पर्व

यहाँ से महाभारत के युद्ध की कथा आरम्भ होती है। भीष्म, द्रोण, कर्ण और शल्य नाम के चार पर्वों में असली लडाई का वर्णन है। पूना सस्करण के अनुसार इनमे कुल मिलाकर ४१५ अध्याय और २२९१३ श्लोक है। मोटे तौर पर महाभारत की कुल ग्रन्थ सख्या का यह लगभग चौथाई अश होता है। इन पर्वों की एक विशेपता यह है कि इनमे वाहर की सामग्री कम-से-कम आने पाई है। 'भीष्मपर्व' का आरम्भिक भाग इसका अपवाद है। इस पर्व के कुल ११७ अध्यायो में पहले ४० अध्याय विपय की महत्ता की दृष्टि से प्रसिद्ध है। उनमे से पहला है 'जम्बूखड विनिर्माण पर्व' (अ० १–१३)। इसे 'भूमिपर्व' भी कहते है। इसमें प्राचीन भुवन कोश का सविस्तर वर्णन है। दूसरा 'श्रीमद्भगद्गीता' पर्व है, जिसमे प्राचीन भारतीय अध्यात्म और दर्शन का निचोड भर दिया गया है और जो विचारो की गहराई, भापा के प्रवाह और अनुभव की तीव्रता के कारण न केवल भारतवर्प वल्कि विश्व के साहित्य मे अत्यन्त सम्मानित पद को प्राप्त हुआ है। 'भगवद्गीता' के वाद तो शस्त्र-सपात शुरु हो जाता है और भीष्म ने दस दिन तक जो घोर युद्ध किया, उसका वर्णन पर्व के अन्त तक चलता है।

: ५३ :

भुवन कोश पर्व

(अ० १–१२)

इस पर्व मे प्राचीन भारतीय भूगोल की विस्तृत सामग्री पाई जाती है। इसे हम सुविधा के लिए 'भुवनकोश' कह सकते हैं, जो नाम कई पुराणो में आता है। मत्स्य (अ० ११४), वायु (अ० ४५), ब्रह्माण्ड (अ० ४९), वामन (अ० १३) और मार्कण्डेय (अ० ५७) नामक पुराणो में भुवनकोश की सामग्री आई है। इन अध्यायो मे विपय की दृष्टि से सामग्री के दो

भाग हैं। एक तो भारत के बाहर के जो वर्ष और पर्वत थे, उनका वर्णन कही कम, कही विस्तार से किया गया है। जैसे भीष्म पर्व मे ही शाक द्वीप का वर्णन वहुत विशद है। इसका कारण हो सकता है कि यह सामग्री शक-कुषाण-युग के प्रभाव से इस प्रकरण मे आई हो। इस सामग्री का दूसरा अश ठेठ भारतवर्ष के भूगोल से सम्बन्धित है, जिसमे पर्वत, नदी और जनपदों की विस्तृत सूचियाँ सगृहीत हैं। भारतीय भूगोल के विषय मे इस प्रकार की दो सूचियाँ मिलती हैं। एक पुरानी और दूसरी नई। पुरानी सूची ही वस्तुत पुराणो का भुवन कोश था। अनुमान होता है कि इस देश के नदी, जनपदो के नामो का सग्रह जनपद युग के अत मे ५०० ई० पूर्व के लगभग किया गया था। उसी समय पाणिनि ने भी पामीर पठार के कम्बोज जनपद लेकर असम प्रदेश के सूरमस जनपद (सूरमा घाटी) तक के जनपदीय भूगोल का अष्टाध्यायी मे उल्लेख किया है। बाद मे गुप्त युग के लगभग अनेक नई जातियाँ शक, यवन, तुषार आदि इस देश मे आ गई थी, तब वदली हुई परिस्थिति के अनुसार भौगोलिक नामो की एक नई सूची वनाई गई, जिसे कूर्म सस्थान कहा गया। यह सूची बृहत् सहिता मे मिलती है। मार्कण्डेय पुराण मे पुरानी और नई दोनो सूचियाँ आगे-पीछे सुरक्षित हैं (अ० ५७–५८)। भीष्म पर्व की नदी, जनपद सूची (अ० १२) पुरानी सूची का ही अवान्तर रूप है, कूर्म सस्थान से इसका सम्वन्ध नही है। पाठक देखेंगे कि इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण है, जिसे स्पष्ट समझ लेने पर ही पृथ्वी के भूगोल की कुछ सगति लग सकेगी।

चतुर्द्वीपी भूगोल

मूल वात यह है कि प्राचीन भारतीय भूगोलवेत्ताओ ने पृथ्वी के भूगोल की दो प्रकार से से व्याख्या की थी। एक को चतुर्द्वीपी भूगोल और दूसरे को सप्तद्वीपी भूगोल कहते है। चतुर्द्वीपी भूगोल की व्याख्या पुरानी थी, जो कि सम्भवत: वैदिक युग से चली आती थी। यह व्याख्या स्पष्ट, सरल और सक्षिप्त थी। जव आवागमन और व्यापार के कारण भारतीय जनता का परिचय मध्य एशिया के उत्तरी,

पूर्वी और पश्चिमी देशो से वहुत अधिक वढ गया तो एक नए प्रकार से वर्ष और पर्वतो का क्रम वैठाया गया। इसके अन्तर्गत सात द्वीप, सात पर्वत और सात समुद्रो की कल्पना की गई। अकेले जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भी सात वर्ष मान लिए गए, जिनका स्पष्ट वर्णन हम आगे करेंगे। यदि पौराणिक लेखक चतुर्द्वीपी और सप्तद्वीपी भूगोल के वर्णनो को अलग-अलग रखते तो कोई उलझन न थी। किन्तु प्राय सव पुराणो मे और भीष्म पर्व में भी पुराने और नये दोनो वर्णनो का जोड लगाने के फेर में आपस मे घोटाला हो गया। चतुर्द्वीपी भूगोल में पृथिवी की उपमा चार पखडियो वाले कमल से दी गई है (चतुष्पत्र पार्थिव पद्मम्)। इसे भीष्मपर्व में चक्रसस्थान कहा गया है। इसका ठाठ इस प्रकार था—यह समस्त पृथ्वी एक परिमडल के समान है[1]। इसके मध्य मे मेरुपर्वत है। इस चक्र सस्थान की चार फाँकें की जाँय तो मेरु के चार पार्श्वों में चार द्वीप फैले हुए है—१ पूर्व में भद्राश्व, २ पश्चिम में केतुमाल, ३ दक्षिण मे जम्बूद्वीप और ४ उत्तर मे उत्तर कुरु[2]। इनमे से प्रत्येक द्वीप के पर्वत, नदी, सरोवर, एव वन आदि के नाम अन्य पुराणो में मिलते है। जैसे—जम्बूद्वीप या भारतवर्ष मे हिमवान् पर्वत, अलकनन्दा नदी, नन्दन वन, मानस सर एव भगवान् का कच्छप रूप मे अवतार हुआ है। पूर्व के केतुमाल वर्ष में ऋषभ, और पारियात्र पर्वत, स्वरक्षु नदी (वर्तमान वक्षु या आक्सस नदी), वैभ्राज वन, शीतोद सर और वराह अवतार हुआ है। उत्तर कुरु में शृंगवान् और जारुधि पर्वत, महाभद्र सर और मत्स्य अवतार हुआ है। पूर्व के भद्राश्व द्वीप में देवकूट (चीनी थिएनशन) और जठर पर्वत, सीतानदी, चैत्ररथ वन, वरुणोद सर और हयग्रीव का अवतार हुआ है। पर भीष्म पर्व के लेखक ने इस प्रकार के व्यौरे का सग्रह छोड दिया।

---

१ परिमण्डलो महाराज द्वीपोऽसौ चक्रसस्थित। (६।१२)

२ तस्य पार्श्वे त्विमे द्वीपाश्चत्वारः सस्थिता प्रभो।
भद्राश्व केतुमालश्च जम्बूद्वीपश्च भारत॥
उत्तराश्चैव कुरव कृतपुण्य प्रतिश्रया॥ (७।११)

सप्त द्वीपी भूगोल

इसके बाद सप्तद्वीपी भूगोल के निर्माताओ ने सात वर्ष, सात पर्वत, सात समुद्र और सात द्वीपो की कल्पना करते हुए पृथ्वी के भूगोल का एक नया मानचित्र फैलाया। इसकी स्पष्ट रूपरेखा इस प्रकार है—सबके बीच मे स्वर्णमय मेरु पर्वत है। उसे आजकल पामीर का बडा पठार कहा जाता है जिसे प्राचीन परिभाषा मे परम मेरु (१२।१४) और महामेरु (१२।२३) कहते थे। यहाँ भी मेरु को पृथ्वी का मध्य भाग माना गया। मेरु जिस भूभाग मे था, उसकी सज्ञा इलावृत वर्ष या ऐरावत वर्ष हुई। मेरु के उत्तर मे तीन वर्ष और तीन पर्वत एव दक्षिण मे भी तीन वर्ष और तीन पर्वत माने गए। यो इस परिमडल मे कुल सात वर्ष और सात पर्वत हुए। इन सबको मिलाकर जम्बूद्वीप कहा गया। इस नाम की व्याख्या मे यह कल्पना की गई कि बीचोबीच मे कोई जम्बू नाम का महावृक्ष है जिससे द्वीप का नाम जम्बू द्वीप प्रसिद्ध हुआ। उसके फलो का रस जिस नदी मे मिलता है, वह जम्बू नदी हुई और वहाँ की खानो से अर्थात् मध्य एशिया से जो स्वर्ण उत्पन्न होता था, वह जाम्बूनद स्वर्ण कहलाया।

मेरु के दक्षिण मे सबसे पहले पूर्व से पश्चिम दिशा मे, निषध पर्वत फैला हुआ है। उसके बाद हरिवर्ष है फिर हेमकूट पर्वत है, जिससे सटा हुआ प्रदेश किंपुरुषवर्ष है। किंपुरुष के दक्षिण मे हिमवान् पर्वत है जिससे मिला हुआ भारतवर्ष है। अब मेरु के उत्तर की ओर क्रमश चले तो पहले नील पर्वत और रमणक वर्ष मिलेगा। रमणक वर्ष को रम्यक वर्ष भी कहा गया है। उसके और उत्तर मे दूसरे स्थान पर श्वेत पर्वत है, जिसके वर्ष का नाम हिरण्यमय वर्ष है। हिरण्यमय को हैरण्यवत भी कहा है और वहाँ की नदी हैरण्यवती कही गई है। उसके और उत्तर तीसरे स्थान पर श्रृङ्गवान् पर्वत पूर्व से पश्चिम तक फैला हुआ है, जिसके वर्ष का नाम उत्तरकुरु है। उत्तर-कुरु के बाद समुद्र है। वहाँ समुद्रान्त प्रदेश मे शाडिली देवी का निवास है, जिसे सदा प्रकाशित रहने के कारण स्वयप्रभा भी कहा जाता था।

उत्तरी ध्रुव की शाडिली देवी

यह उल्लेख कुछ आश्चर्यजनक है। ध्रुव प्रदेश में जो रगविरगी उषा होती है और एक साथ महीनो तक जिसका प्रकाश वना रहता है, उसका यह वर्णन है। उधर की यात्रा करके आनेवाले व्यापारियो से यह परिचय प्राप्त हुआ होगा। जिसे आजकल 'अरोरा वोरिएलिस' (Arora Borealis) कहा जाता है उसी का प्राचीन भारतीय नाम शाडिली देवी था। शाडिली को अग्नि की माता कहा गया है। उत्तरी ध्रुव में रह-रहकर उठनेवाली आकाश को छूती हुई रगविरगी लपटें ऐसी जान पडती है, मानो विना सूर्य और विना चद्र के अग्नि की माता की गोद मे उसका तेजस्वी बालक खेल रहा हो। यही स्वयप्रभा देवी शाडिली का दर्शन था जिसकी ज्वालाओ की कीर्त्ति भारतीय भौगोलिको के पास आ पहुँची थी।

जम्बूद्वीप का नया रूप

पाठक देखेगे कि चतुर्द्वीपी भूगोल में जहाँ मेरु के उत्तर मे उत्तरकुरु द्वीप और दक्षिण में भारत द्वीप या हैमवत द्वीप था उन्हें ही फुलाकर तीन-तीन भागो में बाँट दिया गया और उन्हें द्वीप न कहकर वर्ष कहा गया। अब पुराने चतुर्द्वीपी भूगोल के दो द्वीप बच गए। पूर्व का भद्राश्व और पश्चिम का केतुमाल। इन्हें ज्यो का त्यो रहने दिया गया और यह मान लिया गया कि मेरु के चारो ओर का जो इलावृत वर्ष है, उसके पूर्व में भद्राश्व वर्ष और पश्चिम में केतुमाल वर्ष है (मेरोस्तु पश्चिमे भागे केतुमालो महीपते, ७।२९, ८१३)। इस प्रकार तीन वर्ष बीचोबीच में, तीन दक्षिण की ओर और तीन उत्तर की ओर मान लिए गए और कुल मिलाकर ९ वर्षों की सख्या पूरी की गई। ये ९ वर्ष जम्बूद्वीप के ही अग माने गए। प्रत्येक वर्ष के साथ एक-एक वर्ष पर्वत भी था, जो एक वर्ष को दूसरे वर्ष से अलग करता था। तदनुसार सात वर्षों के सात वर्ष पर्वत ऊपर कहे गए है। बीच में पश्चिम

स्वादुदसमुद्र
पुष्कर द्वीप
क्षीरसमुद्र
शाक द्वीप
दधिसमुद्र
क्रौंच द्वीप
घृत समुद्र
कुश द्वीप
सुरा समुद्र
शाल्मलि द्वीप
इक्षुरस समुद्र
प्लक्ष द्वीप
क्षार-समुद्र
उत्तर-कुरु
शृंगवान् प०
हिरण्मय वर्ष
श्वेत प०
रम्यक वर्ष
नील प०
निषध प०
हरिवर्ष
हेमकूट प०
किंपुरुष वर्ष
हिमवान् प०
भारतवर्ष
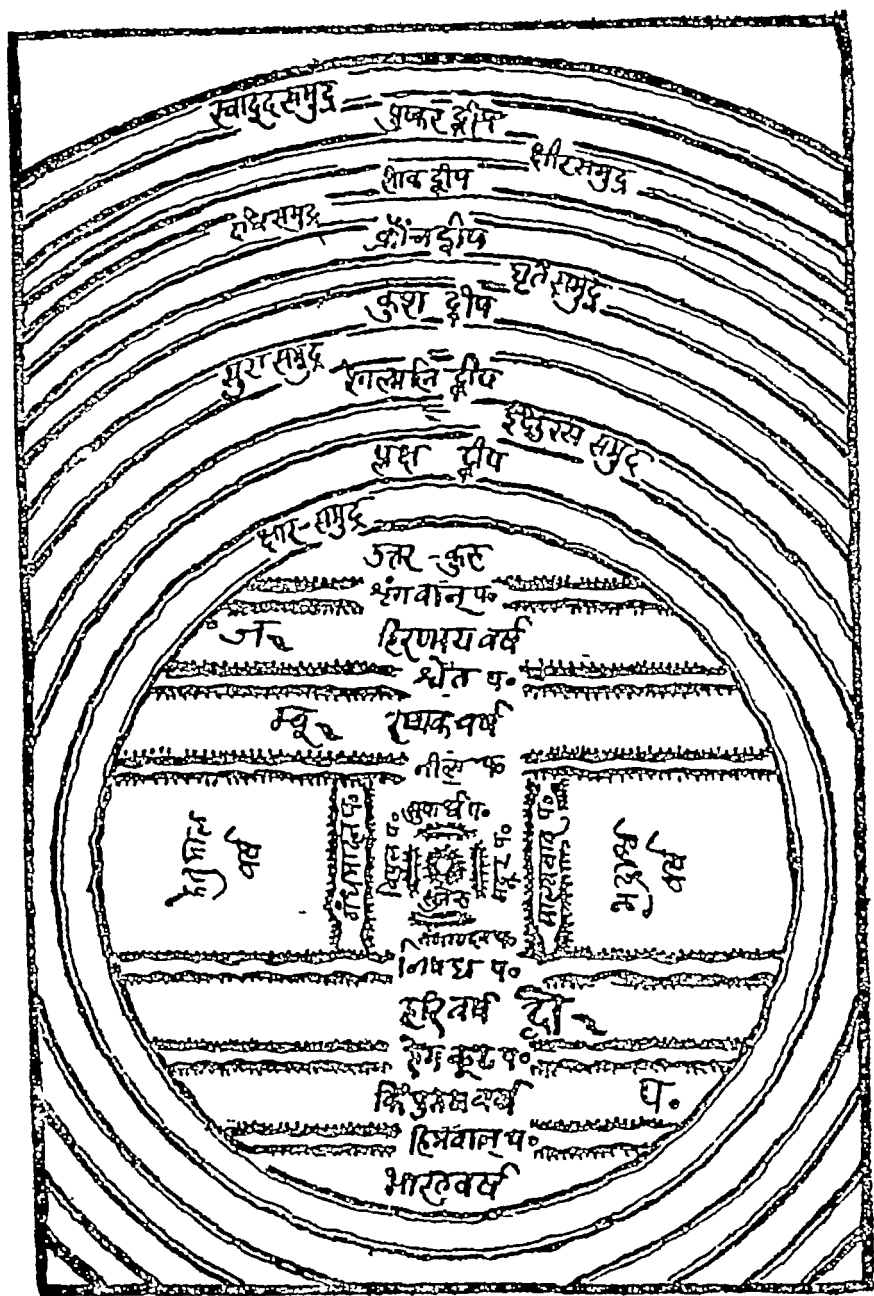
सप्तद्वीपी भूगोल

के केतुमाल वर्ष का वर्ष-पर्वत गन्धमादन एव पूर्व के भद्राश्व वर्ष का वर्ष-पर्वत माल्यवान् कहा गया। इन दो वर्प-पर्वतो का औरो से यह अन्तर था कि शेष सात पूर्व से पश्चिम की ओर फैले थे और ये दो उत्तर से दक्षिण की ओर। इस प्रकार बीच की मेरु सज्ञक पठार भूमि चारो ओर से चार ऊँचे वर्षपर्वतो से घिरी हुई थी। उत्तर मे नील, दक्षिण मे निषध, पूर्व मे केतुमाल और पश्चिम मे माल्यवान्। आज जिसे हम मेरु या पामीर की ऊँची पठार भूमि कहते हैं, उसके लिए पुराना शब्द वेदि था। इसीलिए मेरु के उत्तर के तीन वर्षो को उत्तर वेद्यर्ध और दक्षिण के तीन वर्षों को दक्षिण वेद्यर्ध कहा जाता था। मेरु को स्वर्ण का पर्वत और शेष ६ को रत्न-पर्वत कहा जाता था (७।२, षडेते रत्न पर्वता, ७।२०, १३।२६)।

इस प्रकार नौ वर्ष और नौ वर्ष-नर्वतो को मिलाकर भूमि की एक गोल इकाई मानी गई, जिसे जम्बूद्वीप यह नया नाम दिया गया (तस्य नाम्ना समाख्यातो जम्बूद्वीप सनातन, ८।१९)। जम्बूद्वीप के चारो ओर का समुद्र क्षार समुद्र कहलाया। उसके वाद दूसरा प्लक्षद्वीप का घेरा, उसके बाद इक्षुरस समुद्र फिर तीसरा शालमलि द्वीप का घेरा, उसके बाद सुरा-समुद्र, फिर चौथा कुशद्वीप का मडल, उसके बाद घृत-समुद्र, फिर पाँचवाँ क्रौञ्च द्वीप उसके बाद दधि-समुद्र, फिर छठा शाकद्वीप उसके बाद क्षीर-समुद्र एव सातवाँ पुष्कर द्वीप और उससे मिला हुआ मीठे जल का (स्वादूद) समुद्र था। इन द्वीपो और समुद्रो के नाम भीष्म पर्व मे दिए गए हैं (१२।२–४, १३।२)। किन्तु ये नाम और यह वर्णन दूसरे पुराणो की तुलना मे बहुत अधूरा है, जैसे द्वीपो की सख्या सात कहते हुए भी केवल पाँच नाम गिनाए गए है और उस सूची मे प्लक्ष और क्रौञ्च को छोड दिया गया है। इस दृष्टि से भीष्म पर्व का भुवनकोश प्रकरण वायु जैसे प्राचीन पुराण की तुलना में बाद का है और उससे घटकर है। न इसमे उतनी सूचनाएँ है और न स्पष्टता। शेप द्वीपो के वर्णन भी छोड दिए गए है, केवल उत्तर कुरु वर्ष और उससे भी अधिक शाकद्वीप का वर्णन महत्त्वपूर्ण भौगोलिक और सास्कृतिक सूचनाओ से भरा है।

उत्तर कुरु द्वीप

उत्तरकुरु प्रदेश की ठीक स्थिति कहाँ थी, इसे समझना आवश्यक है। चतुर्द्वीपी भूगोल के अनुसार मध्यवर्त्ती मेरुपर्वत के उत्तर की समस्त भूमि उत्तरकुरु कहलाती है अर्थात् पामीर पठार से उत्तरी ध्रुव तक का सारा भूभाग किसी समय उत्तरकुरु के नाम से प्रसिद्ध था। जब सप्तद्वीपी भूगोल में इसे तीन भागो मे बाँट दिया गया, तो सबसे उत्तरवाला प्रदेश उत्तरकुरु कहलाता रहा। इससे यह सूचित होता है कि पामीर के उत्तर में जो चीनी तुर्किस्तान का बहुत लम्बा चौडा भूभाग है, वह सब और उसके उत्तर मे 'साइबीरिया' की जो विस्तृत, गहन वन-भूमियाँ है, वे सब 'उत्तर-कुरु' इस भौगोलिक नाम से प्रसिद्ध थी। इस प्रदेश में शक जाति का आरम्भिक निवास स्थान था, जो कालान्तर में पामीर पठार की ओर सरकती हुई क्षीरोद समुद्र (मध्यकालीन शीरवान, वर्तमान कास्पियन सागर) तक फैल गई। पीछे पामीर से क्षीरोद तक का प्रदेश शाकद्वीप नाम से प्रसिद्ध हो गया। सयोग से उत्तरकुरु और शाक द्वीप इन दो का ही विस्तृत वर्णन भीष्मपर्व के भूगोल में बचा है।

उत्तरकुरु के सम्बन्ध में एक बहुत पुरानी अनुश्रुति चली आती थी, जो लगभग काल्पनिक है, अर्थात् इतिहास का अश इसमें प्राय नही है, जबकि शाक द्वीप का वर्णन इतिहास के दृढ आधार पर टिका है।

ऐसी मान्यता थी कि उत्तरकुरु में कुछ ऐसे कल्पवृक्ष होते है, जो वहाँ के निवासियो के भोजन, वस्त्र आदि सब आवश्यकताओ की पूर्त्ति करते हैं (सर्वकामफला वृक्षा, ८।४)। उनसे छहो रसवाले भोज्य पदार्थ, पहनने के दुकूल आदि वस्त्र और नाना प्रकार के आभूषण उत्पन्न होते हैं। उन्ही से स्त्री और पुरुषो के मिथुन या युगल जन्म लेते है, जो सदा स्वस्थ रहकर सहस्रो वर्ष जीवित रहते है। उत्तरकुरु एक ऐसा आदर्श लोक था, जहाँ अनायास सब प्रकार की सुख समृद्धि प्राप्त हो जाती थी। यह कल्पना लोकप्रिय हुई और अन्यत्र भी इसका वर्णन मिलता है। वाल्मीकिरामायण में जब सुग्रीव ने अपने वानर दल को उत्तर दिशा में भेजा तो उसने वहाँ के

उत्तरकुरु देश का इसी प्रकार का रोचनात्मक वर्णन किया (किष्किन्धा का० ४३–४८)। वायुपुराण म भी इसी प्रकार का वर्णन है (४५।११–५०)। पाली साहित्य मे भी ऐसी ही प्राचीन अनुश्रुति चली आती थी (महा वाणिज जातक स० ४९३)।

शाकद्वीप

सप्तद्वीपी भूगोल के नए सस्करण मे 'शाकद्वीप' का तथ्यात्मक वर्णन जोड दिया गया, जो उस समय की आँखो देखी सूचनाओ के आधार पर इकट्ठा किया गया था। शाकद्वीप के साथ इस प्रकार का परिचय एक ओर यूनानी इतिहास लेखक हीरोदोतस को ज्ञात था जैसा उसके इतिहास से प्रकट होता है। दूसरी ओर ईरान सम्राट् 'दारा' को भी ऐसा ही परिचय था जैसा उसके 'भगस्थान' (बिहिश्तून) और 'शूषा' के लेखो से विदित होता है। तीसरी ओर भारतवर्ष का भी शको के साथ प्रथम परिचय लगभग ६ठी शती ईसवी पूर्व से आरम्भ हो गया था, इसके कुछ प्रमाण पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' मे मिलते है, जैसे ५ सूत्रो मे आया हुआ 'कन्था' शब्द, जो नगर के अर्थ मे शक भाषा का शब्द था। अत एव भारतीय 'भुवन कोष मे शाकद्वीप का जो वर्णन मिलता है, वह भी लगभग ६ठी–५वी शती ई० पूर्व में सकलित हुआ होगा। आगे चलकर पहली शती विक्रम पूर्व मे तो शकस्थान से आए हुए, शक क्षत्रपो ने तक्षशिला, मथुरा और उज्जैनी मे अपने राज्य जमा लिए। उस समय उनके धर्म और सस्कृति का गाढा परिचय भारत-वासियो को हुआ, जिसका छिपा हुआ वर्णन महाभारत के 'नारायणीयपर्व' मे आया है और कुछ प्रकट वर्णन भविष्यपुराण के 'ब्राह्मपर्व' मे विस्तार से आया है (अ० ५८–९५)।

शाकद्वीप का सम्बन्ध क्षीरोद समुद्र के साथ बार-बार दोहराया गया है (१२।९)। यह शाकद्वीप का स्थान समझने की कुजी है। आजकल के 'कास्पियन सागर' का प्राचीन नाम क्षीर-सागर था। इसका प्रमाण यह है कि 'मार्कोपोलो' के समय तक यह क्षीरवान् नाम से प्रसिद्ध था। एक बार इस पहचान को स्वीकार कर लेने पर शाकद्वीप की स्थिति 'कास्पियन'

से मध्य एशिया तक के प्रदेश के बीच में ठहरती है। और शाक द्वीप से सम्बन्धित नदी और पर्वतो की अधिकाश पहचान मिल जाती है। 'दारा प्रथम' के लेख में 'कास्पियन समुद्र' के आसपास बसे हुए शको को 'शका तर-दरिया' और 'शका पर-दरिया' कहा गया है। फारसी मे दरिया समुद्र के लिए है, जिसका अभिप्राय 'कास्पियन सागर' से ही था। वे ही भारतीय भूगोल में 'क्षीरोद सागर' के शक कहलाए। और शाकद्वीप ही यूनानी लेखको का 'सीथिया' हुआ। शाकद्वीप मे सात पर्वत कहे गए है— १. परममेरु, २ मलय, ३ जलधार, ४ रैवतक, ५ श्याम, ६ दुर्गशैल और ७ केसरी (१२।१४–२१)। इन्ही नामो की दूसरी सूची भी तुरन्त आगे (श्लोक २३–२४) दी गई है। उसमें मलय का पाठ 'जलद' है। और ६ ठे 'दुर्गशैल' का नाम छूटा हुआ है। 'मत्स्य और वायु पुराण' में 'जलद' का पाठ 'उदय' है और भीष्म पर्व के कुछ हस्तलेखो मे मलय की जगह जलद पाठ ही है। ज्ञात होता है, मूल नाम जलद ही था, जैसा कि मत्स्य के इस उल्लेख से कि वहाँ वृष्टि के लिए मेघ आते है और चले जाते है ज्ञात होता है। वायु पुराण से यह भी सकेत मिलता है कि इन द्वीपो के पर्वतो, वर्षों और नदियो के नाम दो-दो प्रसिद्ध थे। जिसे द्विनामवती शैली कहा है (मत्स्य० १२२।७०)। भीष्म पर्व की दूसरी सूची में पर्वतो के साथ वर्षों का भी उल्लेख है। किन्तु उसमे केवल पाँच नाम है, जो इस प्रकार हैं—

पर्वत नाम पहली सूची	पर्वत नाम दूसरी सूची	वर्ष सूची—मत्स्य०		वायु०	नदी सूची
१ परम मेरु	१ महामेरु	×	मेरु	मेरु	
२ मलय	२ जलद	कुमुद	उदय	उदय	
३ जलधार	३ जलधार	सुकुमार	जलधार	जलधार	सुकुमारी
४. रैवतक	४ रैवत	कौमार	×	रैवतक	कुमारी
५ श्याम	५ श्याम	मणीचक	श्याम	श्याम	मणिजल
६ दुर्गशैल			दुर्गशैल	दुर्गशैल (आम्बिकेय)	
७ केसरी	७ केसर	मोदाकी	विभ्राज	केशरी	

पर्वत और वर्षों की पहचान यथासभव इस प्रकार है—चतुर्द्वीपी और सप्तद्वीपी भूगोल का मध्य बिन्दु जो महामेरु था वही यहाँ परममेरु या पामीर का पठार है। यह तथ्य है कि किसी समय शको का राज्य मेरु के चारो ओर फैला हुआ था और वे वक्षु नदी के किनारे बसे थे। वहाँ से १६० ई० पूर्व के लगभग उन्ही की एक दूसरी प्रबल ऋणिक सज्ञक शाखा ने उन्हे पामीर से खदेड दिया और तब शक भाग कर ईरान और अफगानिस्तान की सीमा पर शकस्थान मे बस गए। 'जलद पर्वत' का सम्बन्ध 'कुमुद वर्ष' से था, जिसकी पहचान टालमी के 'कोमेदाई पर्वत' से स्पष्ट है, जो 'सीर नदी' और "आमू नदी' के उद्गम स्थानो के बीच मे था। 'स्टाइन' ने कुमुद नदी की पहचान 'वखशाब नदी' और 'कारातिगिन' तथा 'ऑक्सस नदी' के बीच की भूमि से की है। जलधार पर्वत और सुकुमारवर्ष इसी से मिलते हुए ऊपर की दोनो नदियो के बीच मे कुछ पश्चिम की ओर रहे होगे जिसे टालमी ने 'कोमाराई' कहा है। 'श्यामगिरि' 'मुस्ताग' पर्वत था। 'मुस्ताग' का अर्थ 'काला पर्वत' है। 'अवस्ता' मे भी श्यामक-पर्वत का उल्लेख आता है। 'दुर्गशैल' को आम्बिकेय भी कहा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि वहाँ 'दुर्गा या मातृदेवी' का कोई पुराना मन्दिर था। केसरी और मोदाकी के विषय मे कुछ ज्ञात नही होता, केवल इतना सूचित होता है कि काश्मीर की तरह वहाँ भी 'केसर' की खेती होती थी। शाक द्वीप की सात नदियो के नाम दिए गए है—सुकुमारी, कुमारी, सीता, कावेरका, महानदी, मणिजला, इक्षुवर्धनिका। विष्णुपुराण के अनुसार 'सीता' मेरु के पूर्व की ओर और चक्षु पश्चिम की ओर बहनेवाली नदियाँ थी (विष्णु० २।२।३५-३७)। यह चतुर्द्वीपी भूगोल का वर्णन था, जो सप्त द्वीपी भूगोल मे भी बचा रहा। इक्षु, चक्षु, वक्षु या वक्षु ये सब एक ही बडी नदी की सज्ञाएँ है, जिसे आजकल 'आक्सस' कहते है। 'सीता' को चीनी लेखको ने 'सीतो' कहा है, जो वर्तमान 'यारकन्द नदी' है। 'मणिजला' शैलोदा नदी का ही दूसरा नाम जान पडता है, जिसकी पहचान पश्चिम की ओर बहनेवाली 'जरफ्शाँ नदी' से की जाती है, जिसपर समरकन्द स्थित है। 'आक्सस' (आमू)

और सीर नदी के बीच में 'जरफ्शां नदी' बहती है। इस नदी के पास में श्वेत यशव की खानें थी जहाँ से वह भारत, चीन तथा अन्य देशो को जाता था। कावेर का नाम सदिग्ध है। उसका पाठ मत्स्य० में 'वेणुका' और वायु० की एक प्रति में 'वेनिका' भी मिलता है। सम्भवत यह वही प्रदेश था जहाँ होनेवाले मोटे बाँसो को सस्कृत साहित्य में 'कीचक वेणु' कहा गया है और जिनका उल्लेख रामायण और महाभारत दोनो में आया है (रामायण किष्किन्धा ४३।३७, सभापर्व ४८।२)। यह प्रदेश मेरु और मन्दर अर्थात् 'पामीर' और 'अल्ताइताग' के बीच में कही था।[1] इसी प्रकरण में शको के चार जनपदो का उल्लेख है—मग, मशक, मानस और मन्दग। मगो को ब्राह्मण, मशको को क्षत्रिय, मानसो को वैश्य और मन्दगो को शूद्रो की कोटि में रखा गया है। अपने देश मे शाकद्वीपी ब्राह्मण अभी तक. मग कहे जाते है। 'मशक' यनानी लेखको के 'मस्सग' थे। शाकद्वीप के सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही गई है कि वहाँ शिव की पूजा होती थी (पूज्यते तत्र शकर, १२।२६)। मथुरा में कुषाण जाति के जिन शको का राज्य हुआ, वे शिव के बडे भक्त थे। 'वेम तक्षम' के सिक्को पर उसे माहेश्वर कहा गया है और उन सब पर नन्दी वृष के सहारे खडे हुए नन्दिकेश्वर शिव की मूर्त्ति है। ज्ञात होता है कि ये लोग मध्य एशिया से ही शिव की पूजा अपने साथ लाए थे।

भारतवर्ष

धृतराष्ट्र ने प्रश्न किया कि कुरुक्षेत्र के सग्राम में कौन-कौन से राजा इकट्ठे हुए, जो लोभी दुर्योधन और उसी प्रकार लोभ से सने हुए पाण्डवो की सहायता करने की इच्छा से आए थे। उत्तर में सजय ने भारतवर्ष के भूगोल

---

१ मेरुमन्दरयोमध्ये शैलोदामभितो नदीम्।
ये ते कीचकवेणूना छाया रम्या उपासते॥
(सभा० ४८।२)

का विस्तृत वर्णन किया (अ० १०)। पुराणो मे भी यह वर्णन आता है, पर वहाँ वह अधिक क्रमबद्ध है। जैसा सप्तद्वीपो के वर्णन मे हुआ है, ऐसे ही यहाँ भी भीष्म पर्व के लेखक का स्तर कुछ नीचा ही है। नदियो के नाम यहाँ की सूची मे अवश्य अधिक है, पर उनके पर्वतीय उद्गमो का वर्गीकृत नामोल्लेख नही है, जैसा कि पुराणो मे है। जनपदो के नामो मे भी क्रम का निर्वाह आधा-पर्धा ही है। आरम्भ मे भारत वर्ष की प्रशस्ति वहुत ही तेजस्वी शब्दो मे दी गई है—

अत्र ते वर्णयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च॥
(१०।५)

पृथोस्तु राजन्वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः।
ययातेरम्बरीषस्य मान्धातुर्नहुषस्य च॥
(१०।६)

तथैव मुचुकुन्दस्य शिबेरौशीनरस्य च।
ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा॥
(१०।७)

कुशिकस्य च दुर्धर्ष गाधेश्चैव महात्मनः।
सोमकस्य च दुर्धर्ष दिलीपस्य तथैव च॥
(१०।८)

अन्येषा च महाराज क्षत्रियाणां वलीयसाम्।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम्॥
(१०।९)

अर्थात् हे भारत, अव मै तुमसे उस भारतवर्ष का बखान करूँगा, जो भारत देवराज इन्द्र को प्यारा है, विवस्वान् के पुत्र मनु ने जिस भारत को अपना प्रिय पात्र वनाया था,

हे राजन्, आदिराज वैन्य पृथु ने जिस भारत को अपना प्रेम अर्पित किया था और महात्मा राजर्षिवर्य इक्ष्वाकु की जिस भारत के लिए हार्दिक प्रीति थी,

प्रतापी ययाति और भक्त अम्बरीप, त्रिलोकविश्रुत माधाता और तेजस्वी नहुप जिस भारत को अपने हृदय में स्थान देते थे,

सम्राट् मुचुकुन्द और औशीनर शिवि, ऋपभ, ऐल और नृपति नृग जिस भारत को चाहते थे,

हे दुर्धर्प, महाराज कुशिक और महात्मा गाधि, प्रतापी सोमक और व्रती दिलीप जिस भारत के प्रति भक्ति रखते थे, उसे मैं तुमसे कहता हूँ।

हे महाराज, अनेक वलशाली क्षत्रियो ने जिस भूमि को प्यार किया है तथा और सव भी जिस भारत को चाहते है—

हे भरतवश में उत्पन्न, उस भारत को मै तुमसे कहता हूँ।"

ऊपर लिखी हुई भारत-प्रशस्ति केवल भीष्म पर्व में है। अन्य पुराणो में एक नई प्रशस्ति भुवन-कोप के अन्तर्गत मिलती है, जिसमें गुप्तकालीन भारतवर्ष के सास्कृतिक यश का उल्लेख उपलव्ध होता है और जिसका एक प्रसिद्ध श्लोक यह है—

गायन्ति देवा किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते भवन्ति भूय पुरुषा सुरत्वात्॥

स्वर्ग के देवो से भी भारत का मानव ऊँचा है और देवता भी यहाँ जन्म लेना चाहते है, यह स्वर्णयुग की लोक-व्यापी भावना थी।

पर्वत सूची

आरम्भ में सात 'कुलपर्वतो' के नाम हैं। वर्प-पर्वत एक वर्प या वडे भूखड को दूसरे वर्ष से अलग करते है। इनकी सख्या भी सात है। कुल-पर्वत वे है जो देश के भीतर ही उसकी प्रादेशिक सीमाएँ सूचित करते है, इनके नाम ये है—

महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्षपर्वत, विन्ध्य और पारियात्र (९।११)। इनमे से कलिग या उडीसा से शुरू होनेवाली पूर्वी घाट की पर्वत शृखला का पुराना नाम महेन्द्र था। आज भी 'गजम' के समीप वह 'महेन्द्र मलै' कहलाता है। मलै दक्षिण भारत के पर्वतो की सज्ञा थी

जिसमे 'नल्लमलै', 'अन्नमलै' और 'एलामलै' आदि कावेरी के दक्षिण की चोटियाँ सम्मिलित थी। सह्याद्रि उत्तर से दक्षिण तक फैला हुआ पश्चिमी घाट का प्रसिद्ध पर्वत है जो आज भी सारे महाराष्ट्र और कन्नड मे इसी नाम से प्रसिद्ध है। शुक्तिमान्, ऋक्ष और पारियात्र इन तीन नामो की निश्चित पहचान करना भारतीय भूगोल के लिए अत्यन्त आवश्यक है। शुक्तिमान् सह्याद्रि के उत्तरी छोर से कुछ पहले पूर्व की ओर बढी हुई उसकी वाहियाँ ज्ञात होती है, जिसमे खानदेश की पहाडियाँ, अजन्ता एव काफी भीतर घुसा हुआ हैदराबाद गोलकुण्डा पठार भी सम्मिलित है। वर्तमान खानदेश का पुराना नाम 'ऋषिक' था। शुक्तिमान् पर्वत से निकलनेवाली नदियो मे ऋषिका नदी मुख्य है। ऋषिका ऋषिक जनपद मे वहनेवाली ही कोई नदी होनी चाहिए। ऋक्ष पर्वत सह्याद्रि के ठीक उत्तरी छोर ताप्ती के दाएँ किनारे पर वर्तमान सतपुडा से लगाकर महादेव पहाडियो के पूर्वी सिलसिले तक की कुल पर्वत शृखला का नाम था। मध्य प्रात की इस गाँठ से निकलनेवाली नदियो मे ताप्ती, वेण्या (वेनगगा) इस पहचान को पुष्ट करती है। उडीसा की ब्राह्मणी और वैतरणी नदी का उद्‌गम भी ऋक्ष पर्वत से था। इसमे ज्ञात होता है कि छोटा नागपुर की पहाडियो का राची तक वढा हुआ सिलसिला ऋक्ष पर्वत के ही अन्तर्गत था। ऋक्ष के पूर्वी छोर से उत्तर की ओर घूमकर नर्मदा के उत्तर की पर्वत शृखला विन्ध्याचल है, जिससे शोण, नर्मदा, महानदी, मध्यभारत की टौस (तमसा) और घसान (दशार्ण) आदि नदियाँ, जो सोन और सिन्ध के वीच मे विखरी हुई है, निकलती है। भारतवर्प के भीतर के कुल पर्वतो मे, जो दक्षिणी पठार की सीमाओ पर और उसके भीतर फैले हुए है प्राय सवकी पहचान इन ६ नामो मे आ जाती है। अव केवल एक नाम 'पारियात्र' और एक ही पहाडी वच जाती है और वह है 'अडावला' पहाडी। श्री पार्जीटर ने यह प्रमाणित किया है कि भोपाल से पश्चिम विन्ध्याचल के पश्चिमी भाग से लेकर राजपुताने के 'अडावला' (अरावली) पहाड तक का सिलसिला पारियात्र था, जैसा कि उससे निकलनेवाली नदियो के नाम से निश्चित

रूप से ज्ञात होता है। इनमें पर्णाशा (वनास नदी), वेत्रवती (वेतवा), चर्मण्वती (चम्बल), मही, पार्वती मुख्य है, जो अभी तक पुराने नामो से प्रसिद्ध है और इस कारण पारियात्र और अडावला की पहचान का निश्चित सकेत देती है।

नदी-सूची

भीष्म पर्व की नदी-सूची में १५० से कुछ अधिक नाम है। पुराणो में यह वताया है कि किस नदी का स्रोत किस कुल पर्वत में है। इससे पुराने नामो की पहचान मे सुविधा मिलती है, पर वर्तमान सूची में जनपद-नामो की भाँति नदी-नामो का भी कोई वर्गीकरण नही पाया जाता और इससे केवल लेखक की असावधानी सूचित होती है।

एक ओर से चला जाय तो इस सूची में उत्तर पश्चिम की सबसे वडी नदी 'सिन्धु' और उसकी ५ शाखा नदियो के नाम आए है, जैसे—वितस्ता (झेलम), इरावती (रावी), चन्द्रभागा (चिनाव), विपाशा (व्यास) और शतद्रु (सतलज)। पजाव की वडी नदी 'देविका' (वर्तमान देग नदी) भी इस सूची मे है, जो जम्मू की ओर से आती हुई काफी आगे चलकर रावी में मिल जाती है और जिसके किनारे होनेवाले धान सारे पजाव में प्रसिद्ध है और पाणिनि ने भी जिनका उल्लेख किया है। सिन्धु के उस पार की शाखा नदियो मे वरा (पेशावर की वारा नदी), सुवास्तु (प्राचीन उड्डियान या स्वात घाटी की स्वात नदी), गौरी (वर्तमान पञ्जकोरा, यूनानी गोरिअस) और पचमी (वर्तमान पजशीर) का नामोल्लेख है। यह आश्चर्य है कि इसमे इन सवसे वडी कुभा (कावुल नदी) का नाम नही है, जिसे 'कुहू' भी कहा जाता था, और जिसके तटवासी 'कुहक' कहलाते थे। यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारतवासी अपने देश की सीमा मध्य एशिया के मेरु पर्वत या पामीर पठार तक मानते थे जिसकी भूमि कम्वोज जनपद कहलाती थी। यद्यपि दूसरे प्रसग में कम्वोज की वक्षु नदी का नाम महाभारत के भीष्म पर्व में आया है, किन्तु इस नदी सूची मे वह नही है। वाहीक या पचनद

प्रदेश के वाद हम सरस्वती नदी के प्रस्रवण क्षेत्र मे आते है। सरस्वती का उद्गम नाहन की पहाडियो से आगे है जिसे वैदिक साहित्य मे प्लक्ष प्रस्रवण कहा गया है। सरस्वती कुरुक्षेत्र की प्रधान नदी है, किन्तु उत्तरी राजस्थान मे पहुँचकर यह बालू में खो जाती है, जिसे पूर्वकाल मे विनशन कहते थे और फिर कई वार इसकी धारा प्रकट हो जाती है और इस प्रकार के स्थानो को प्राचीन परिभाषा मे उद्भेद कहा जाता था। सरस्वती की सहचारिणी बडी धारा दृपद्वती है, जिसे कुरुक्षेत्र की सीमा कहना चाहिए। इस समय जो चिताग (प्राचीन चित्रागा) या घग्घर (गर्गरा) नदी है वही प्राचीन दृपद्वती ज्ञात होती है। यह भी आगे जाकर बालू मे खो जाती है। कुरुक्षेत्र की ही दूसरी नदी ओघवती का नाम इस सूची मे है, जो सरस्वती की शाखा मार्कण्डा नदी है।

नदी सूची की दृष्टि से गगा यमुना के काठे के नाम सवसे अधिक है। गगा अन्तरवेदि की मुख्य धारा है। यमुना उसकी सवसे बडी सहायक नदी है। गगा की उपरली धारा अलकनन्दा कहलाती है, जिसका स्रोत गन्धमादन और वदर पर्वत के पास है, जिनका उल्लेख वन पर्व के तीर्थयात्रा पर्व मे आ चुका है। हिमालय मे अलकनन्दा, मन्दाकिनी, जाह्नवी और भागीरथी ये चारो धाराएँ अलग-अलग है, जो एक ही विस्तृत प्रस्रवण क्षेत्र के हिमगलो का जल लेकर परस्पर मिलती हुई गगा नामक एक धारा के रूप मे प्रवाहित होती है। देवप्रयाग से गगा नाम पड जाता है और यही धारा कनखल के पास शैलराज हिमवन्त के पितृगृह से वाहर आकर मैदान मे उतरती है। इस सूची मे उन चारो मे से कोई भी नाम नही आया। वाईं ओर से आकर गगा में मिलनेवाली शाखा नदी इस प्रकार है—रथस्था (रामगगा), गोमती, सरयू, सदानीरा (राप्ती), कौशिकी (विहार की कोसी नदी)। इनके अतिरिक्त इक्षुमालिनी (फर्रुखावाद जिले की ईखन नदी), करीषणी (मेरठ की वाघपत तहसील में करीसन नदी) है। कुछ विद्वान् वाहुदा की पहचान बूढी राप्ती से और धूतपापा की वनारस प्रदेश मे वहनेवाली गगा की छोटी शाखा नदी से करते है। शतकुम्भा गगा और

सरयू के बीच की कोई छोटी नदी थी। वेदस्मृति का दूसरा नाम यदि वेद-श्रुति हो तो वह कोसल जनपद की विसूई नामक नदी होनी चाहिए, जो गोमती से १५ मील दूर एक छोटी धारा है और जिसे श्रीराम ने गोमती और तमसा के बीच में पार किया था। वाराणसी काशी की सुप्रसिद्ध वरणा और अस्सी नामक सुप्रसिद्ध धाराएँ हैं।

यमुना के दाहिने किनारे पर विन्ध्याचल से आनेवाली बहुत-सी छोटी-बडी नदियाँ मिली हैं, जैसे—चर्मण्वती (चम्बल), सिंघ (काली सिंघ), वेत्रवती (वेतवा)। वेत्रवती की छोटी शाखा विदिशा (वर्तमान वेस नदी) का भी इस सूची में नाम है। वेस और वेतवा के सगम पर भेलसा नगर है। जहाँ प्राचीन विदिशा राजधानी थी। परा की पहचान चम्बल की शाखा पार्वती से की जाती है। चम्बल की ही एक महत्त्वपूर्ण शाखा पर्णाशा (आधुनिक वनास), और दूसरी छोटी शाखा 'शीघ्रा' या क्षिप्रा है। इसके तट पर उज्जैनी नगरी वसी हुई है, और यही इसकी प्रसिद्धि का कारण है। यमुना की तीन शाखा नदियाँ इस सूची मे और है, तमसा (टोंस नदी), शुक्तिमती (मध्यभारत की केन नदी) और पुष्पवती (मध्यभारत की पहूज नदी)। चित्रकूट के पास वहनेवाली छोटी नदी मन्दाकिनी भी इस सूची में है जो पयस्विनी (वर्तमान पैसुनि) में मिलती है और फिर पयस्विनी केन और टोस के बीच यमुना में मिल जाती है।

गगा में उत्तर से आकर मिलनेवाली दो छोटी पर महत्त्वपूर्ण नदियो के नाम इस सूची मे है, एक ताम्रा (तामड नदी) और दूसरी कोका। ताम्रा विश्व के भूगोल मे सवसे अधिक प्रसिद्धि पाने योग्य है। इसने अपने लिए पहाड में इतनी गहरी घाटी काटी है कि नदी की उपरली धारा झूलती जान पड़ती है। इसका स्रोत सिक्किम के पश्चिम में है। इसी के साथ गौरीशकर चोटी की ओर से उतरने वाली अरुणा नदी है। दोनो 'सुनकोसी' नदी के साथ जहाँ मिली है, वह ताम्रारुण सगम के नाम से प्रसिद्ध था और वही कोकामुख स्वामी नामक देवता का प्रसिद्ध मन्दिर और तीर्थ था। उसके समीप इस धारा को कोका भी कहते थे, जिसका विशेष उल्लेख भीष्म

पर्व की नदी सूची मे है। बगाल मे कई अच्छी नदियाँ उत्तर की ओर से गगा मे मिली है किन्तु इस सूची मे केवल करतोया का नाम है, जो आज भी इसी नाम से प्रसिद्ध है और बगाल-असम की सीमा बनाती है। उस पार भारत का महान् नद ब्रह्मपुत्र है, जिसकी शाखा लोहित्या (वर्तमान लोहित नदी) का यहाँ उल्लेख है। दक्षिण की ओर से गगा मे मिलनेवाला महानद शोण (वर्तमान सोन) है। इसे हिरण्यबाहु भी कहते थे। यहाँ स्त्रीलिंग मे इसे शोणा कहा गया है। शोण की एक प्रसिद्ध शाखा अमरकण्टक की ओर से आकर उसमे मिली है। उसका पुराना नाम ज्योतिरथा था, जिसे आजकल जोहिला कहते है। कालिदास ने शोण और ज्योतिरथा के सगम का विशेष उल्लेख किया है (रघुवश ७।३६), जहाँ मल्लिनाथ ने ज्योतिरथा से अपरिचित होने के कारण पाठ बदलकर भागीरथी कर दिया है। स्वय महाभारत मे भी शोण और ज्योतिरथा के सगम को पवित्र तीर्थ-स्थान कहा है (आरण्यक ८३।९)।

विंध्य की बडी नदियो मे नर्मदा का नाम आया है और अमरकण्टक से निकलने पर उसकी बिल्कुल आरम्भिक धारा कपिला का भी नाम है। दूसरी नदी पयोष्णी है, जिसकी पहचान ताप्ती से की जा सकती है क्योकि ताप्ती का नाम सूची में नही है। वस्तुत सूची मे पयोष्णी नाम दो बार है। कुछ विद्वान् पयोष्णी की पहचान पेनगगा (गोदावरी की शाखा) से भी करते है। कई पुराणो मे पयोष्णी और ताप्ती दोनो नाम साथ आए है। अत एव यह सम्भव है कि ताप्ती के अतिरिक्त किसी दूसरी नदी की सज्ञा भी पयोष्णी रही हो। एक छोटी नदी पलाशिनी (वर्तमान परास नदी) है। यह छोटा नागपुर जिले मे बहकर कोयल नदी मे मिलती है जो स्वय शोण की शाखा है। दूसरी पलाशिनी नदी (वर्तमान पलाश्यो) रैवतक या गिरनार पर्वत के पास थी पर वह इस सूची मे अभीष्ट नही है।

छत्तीसगढ के ढलानो का जल लेकर बहनेवाली महती धारा की सज्ञा आज भी महानदी कहलाती है जो उडीसा की प्रधान नदी है। उडीसा की अन्य नदियो मे वैतरणी (वर्तमान वैतरनी, जिसके किनारे जाजपुर है),

ब्रह्माणी (वर्तमान ब्राह्मणी नदी, सम्भलपुर के निकट), ऋषिकुल्या (जिसपर वर्तमान गंजम नगर है) के नाम हैं। महेन्द्रा महेन्द्र पर्वत से निकलनेवाली कोई छोटी नदी होनी चाहिए। सम्भवत, यही महेन्द्र-तनया है, जो कलिंग की वंशधरा नामक नदी की शाखा है।

गोदावरी दक्षिण की प्रसिद्ध नदी है, जो नासिक के पास त्र्यम्बकेश्वर से निकलती है। गोदावरी का प्रस्रवण क्षेत्र बहुत विशाल है, पर इस सूची मे केवल वेण्णा (वेनगगा), पिञ्जला (मजीरा नदी) और प्रवरा (अहमद नगर जिले की नदी) के नाम है। विश्वामित्रा बड़ौदा की विश्वामित्री नदी है।

गोदावरी के दक्षिण की बड़ी नदी कृष्णा है, जिसे यहाँ कृष्णवेणी कहा गया है। उसी की बडी शाखाएँ तुगवेण्णा (वर्तमान तुगभद्रा) और भैमरथी (आधुनिक भीमा नदी) है, जो क्रमश दक्षिण और उत्तर से आकर कृष्णा में मिली हैं।

इस सूची में मलय पर्वत से निकलनेवाली ताम्रपर्णी और कृतमाला जैसी नदियो के नाम भी छूटे हुए है। केवल कावेरी का नाम है। नदी नामो के सम्बन्ध मे यह ज्ञातव्य है कि कालक्रम से उनमें सबसे कम परिवर्तन होता है, अत एव लगभग तीन चौथाई नाम आज भी अपने प्राचीन रूपो मे बच गए हैं।

जनपद सूची

पुराण-लेखको ने भारत देश के ७ विभाग किए है—मध्यदेश, प्राच्य, दक्षिण, अपरान्त, उदीच्य, विन्ध्यपृष्ठाश्रयी और पर्वताश्रयी। प्रत्येक के जनपदो के नाम अलग-अलग दिए गए हैं, जिससे उनकी पहचान मे सुविधा होती है। पर भीष्म पर्व के लेखक ने ऐसा नही किया। केवल उत्तर और दक्षिण इन दो दिशाओ का नाम लिया है। पर उनमे भी और दिशाओ के नाम घुलमिल गए हैं। यदि एक क्रम से देखा जाय तो जनपदीय नामो की पहचान के विषय में निम्नलिखित सामग्री सामने आती है।

१. उदीच्य जनपद

प्राचीन भारतवासी इस देश की सीमा मध्यएशिया के मेरु पर्वत या पामीर पठार तक मानते थे। उस भूमि का जनपदीय नाम कम्बोज था। उसकी प्रधान नदी वक्षु थी। इस विस्तृत भूभाग में चार जनपदो को स्पष्ट पहचान लेना चाहिए, अर्थात् कम्वोज, बाह्लीक, कपिश और गान्धार। इनमे कपिश के अतिरिक्त और तीनो नाम यहाँ दिए गए हैं—

तक्षशिला से कावुल नदी तक का प्रदेश प्राचीन गन्धार था। सिन्धु नदी उसे दो भागो मे बाँटती थी। एक पूर्व-गान्धार, जिसकी राजधानी तक्षशिला थी और दूसरा अपर-गन्धार, जिसकी राजधानी पुष्कलावती थी, यह स्वात और कावुल नदी के सगम पर अत्यन्त प्रसिद्ध स्थान था, पर जिसकी जगह आज चारसद्दा नामक एक छोटा-सा गाँव रह गया है। कई पुराणो मे पुष्कलावती के प्रदेश को अलग जनपद मानकर पुष्कला (मार्कण्डेय०, ५७।५९) नाम दिया है। यह ज्ञातव्य है कि सस्कृत व्याकरण के अनुसार जनपदो के नाम सदा वहुवचन मे होते थे। अपर-गन्धार के पश्चिम मे हिन्दूकुश पर्वत है, जिसका पुराना नाम उपरिश्येन था। उसे पार करने पर कपिश जनपद की भूमि थी, जिसे अव काफरिस्तान का इलाका कहते है। उसके वाद और पश्चिम की ओर वॉमियॉ घाटी पार करके उत्तर की ओर मुडकर वाह्लीक जनपद मे पहुँचते थे, जिसे अव वल्ख कहते है। यही वाह्लीक प्राचीन यूनानी भापा मे वैक्ट्रिया कहलाता था। आज की तरह प्राचीनकाल मे भी सिन्धु नदी के दोनो ओर का पहाडी इलाका लड़ाकू जातियो से भरा हुआ था। उनके अनेक कवीले थे। उनके वहुत से नाम सस्कृत-साहित्य मे मिलते है। उनमे से दो नाम अति प्रसिद्ध है, एक मोहमद और दूसरे अफरीदी। मोहमदो का प्राचीन नाम मधुमत और अफरीदियो का आप्रीत था। ये लोग अभी भी अपने आप को 'अपरीदी' कहते है और यूनानी लेखको ने भी इन्हे 'अपरिताइ' लिखा है। मोहमद 'दीर' इलाके के रहनेवाले है और अफरीदी 'तीरा' के। ये दो नाम भी सस्कृत भापा से निकले है। चित्राल और गौरी (वर्तमान पजकोरा)

नदियो के बीच का हिस्सा 'द्वीरावतीक' (आजकल का दीर) था। कावुल नदी के दक्षिण त्रीरावतीक (वर्तमान तीरा) था, जो कुभा नदी (कावुल नदी), वरा (पेशावर की बारा नदी) और सिन्धु इन तीन नदियो के वीच का प्रदेश था। पतजलि के महाभाष्य मे इन दोनो का एक साथ नाम आया है (महाभाष्य १।४।१, वार्तिक १९))। आप्रीतो का नाम इस सूची में नही है, पर पाणिनि ने उनका उल्लेख किया है। पहाडी कन्दराओ या गारो मे रहने के कारण कवायली लोगो को 'गिरिगह्वरवासिन' कहा गया है (द्रोण पर्व, ९३।४८)। इस सूची मे गिरिगह्वर नाम के एक विशेष जनपद या कवीले का उल्लेख है (भीष्म० १०।६६)। सम्भव है कि गोरी नाम के कवायली इसी समूह के हो। इस सम्बन्ध में वातजाम और रथोरग ये दो नाम विचारयोग्य है और इन्ही जातियो के जान पडते हैं। वातजाम का अर्थ है हवा के वेग से जानेवाले (गत्यर्थक जम् धातु, निघण्टु) और रथोरग का अर्थ है रथ की छाती या ठोकर से गमन करनेवाले। इस प्रकार का रथ गाँवो मे फिरक कहलाता है। व्रात्यो के रीतिरिवाजो का वर्णन करते हुए उनके रथ को 'फलकास्तीर्ण' (फट्टों से जडा हुआ) और विपथ (ऊवड खावड रास्तो में जानेवाला) कहा है। (कात्यायनश्रौतसूत्र, २२।४।१६)। यह लोग लूट-मार करके भाग जाते थे (प्रसेवमाना यन्ति, लाट्यायनश्रौतसूत्र, ८।६।७)। रथोरग इसी प्रकार के सरहद्दी लोग थे। कवायली का प्राचीन पारिभाषिक शब्द ग्रामणीय था, जिसका पाणिनि ने उल्लेख किया है (अष्टा० ५।२।७८) और सभापर्व में भी जिनका नाम आया है (सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महावला, सभा० २९।८)। इसी प्रसग में 'दश मालिक' नामक जनपद भी ध्यान देने योग्य है। यह सम्भवत अफगानिस्तान का उत्तर-पूर्वी और मध्य भाग था, जो इस समय कोहिस्तान कहलाता है। सभापर्व में लोहित प्रदेश के दशमडल राज्यो का उल्लेख है (सभा० २४।१६)। ये ही लोहित या रोह (अफगानिस्तान का मध्यकालीन नाम, जहाँ के रोहेले प्रसिद्ध है) के दसमालिक राज्य ज्ञात होते है। दशमडल को ही दस मालिक कहा गया है।

इस सूची मे शक (शकस्थान, वर्तमान सीस्तान), यवन (सम्भवत· यह भी वल्ख के पास बसे हुए यूनानी), पह्लव (उत्तर-पूर्वी ईरान का पार्थिया प्रदेश), पारसीक (ईरान का दक्षिणी प्रदेश), पारतक (वलूचिस्तान का हिंगुल प्रदेश), रमठ (गजनी का इलाका), वनायु (सीमाप्रान्त की वानाघाटी) नाम भी पश्चिमोत्तर भारत के भूगोल की सूक्ष्म जानकारी सूचित करते है।

खशो का स्थान सम्भवत काश्मीर में था। तुखार मध्य एशिया की एक जाति थी जिसका स्थान बदलता रहा। कुषाण जाति भारत मे तुषार नाम से प्रसिद्ध थी। काश्मीर के उत्तर-पश्चिम का भाग दरद् (वर्तमान गिलगित का दरदिस्तान प्रदेश, जहाँ के निवासी अब भी दरदी कहलाते है) और ठेठ उत्तरी भाग हसमार्ग (वर्तमान हुजा) नामो से प्रसिद्ध था। हसमार्ग नाम पडने का हेतु यह है कि यहाँ के पहाडी दर्रों से हस जाति के लाखो पक्षी भारत से मध्यएशिया और साइबेरिया की ओर प्रतिवर्ष उडकर जाते थे। आज भी यह सिलसिला जारी है। ये पक्षी गर्मी के आरम्भ मे उत्तर की यात्रा करते है और जाडे के आरम्भ मे लौटते है। इसी प्रकार का दूसरा हसमार्ग अल्मोडा से आगे 'लीपूलेख' का दर्रा है, जिसे प्राचीन भारतीय क्रौञ्चद्वार कहते थे और जहाँ से होते हुए हस जाति के पक्षी भारत से कैलास-मानसरोवर की यात्रा करते है और फिर उसी प्रकार लौट आते है। इस प्रकार क्रौञ्चमार्ग और हसमार्ग ये दोनो भारतीय भूगोल की सुविदित परिभाषाएँ है। इस सूची मे चीन का नाम भी है, जो कश्मीर की सीमा के उत्तर मध्यएशिया का कोई भाग रहा होगा।

काश्मीर अभी तक इसी नाम से प्रसिद्ध है। यह उस प्रदेश की वडी वीच की घाटी थी। उसके दक्षिण का भाग 'अभिसार' (वर्तमान पुछ-राजौरी–भिम्भर का इलाका) और उससे मिला हुआ दक्षिण-पूर्व का इलाका दार्व (डुग्गर–जम्मू) कहलाता था। रावी और चिनाव के वीच मे दार्व एव चिनाव और झेलम के वीच मे अभिसार का प्रदेश था। 'दार्वाभिसार' इन नामो का जोड़ा महाभारत मे कई वार आया है। अभिसार के

पश्चिम मे झेलम और सिन्धु के बीच का प्रदेश 'उरशा' (वर्तमान हजारा जिला) जनपद के नाम से प्रसिद्ध था जिसका उल्लेख अर्जुन की दिग्विजय के वर्णन में आया है (सभा० २४।१८, वहाँ उसका मूल पाठ 'उरशा' चाहिए 'उरगा' नही)।

सिन्धु और शतद्रु के बीच का प्रदेश 'वाहीक' कहलाता था। उसे यहाँ केवल एक जनपद कहा गया है। परन्तु वस्तुत वाहीक में अनेक जनपदो और सघराज्यो का एक छत्ता ही भरा हुआ था, जिनमे से अधिकाश के नाम पाणिनि की अष्टाध्यायी में और महाभारत के भी अन्य प्रसगो में आए है। किन्तु वर्तमान सूची मे इनका बहुत ही सक्षिप्त उल्लेख है। केवल तीन नाम आते है। यदि वाहीक को मध्य पजाब मान लिया जाए तो उसके अतिरिक्त माद्रेय, उत्तरी पजाब की सज्ञा थी। वह मद्र जनपद के नाम से प्रसिद्ध था और उसकी राजधानी 'शाकल' या 'स्यालकोट' थी। दूसरी शती ई० पूर्व मे बल्ख के यूनानी राजा वहाँ से उखड कर पजाब चले आए और शाकल को राजधानी बनाकर उन्होने अपना राज्य स्थापित किया। वे मद्रक कहलाए, जिनका विस्तृत उल्लेख आगे कर्णपर्व मे आनेवाला है। वाटधान (भटिण्डे का इलाका) दक्षिणी पजाब के लिए और केकय (शाहपुर -झेलम गुजरात के जिले) पश्चिमी पजाब के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार वाहीक प्रदेश का यह बहुत ही चलता हुआ वर्णन है।

२. पर्वताश्रयी जनपद

उत्तर-पूर्वीपजाब अर्थात् कागडा-कुल्लू का इलाका पौराणिक भूगोल का पर्वताश्रयी प्रदेश था। यहाँ के जनपदो मे त्रिगर्त अर्थात् रावी-व्यास सतलज इन तीन नदी घाटियो का समस्त प्रदेश मुख्य था। इसी का एक भाग कुलूत या कुल्लू था और सतलज की घाटी का प्रदेश उत्सवसकेत (राम-पुर-बशहर का इलाका) कहलाता था, जहाँ किन्नर जाति का निवास था। उत्सवसकेत नाम रघुवश मे भी आया है, जहाँ उन्हे गणशासन के अनुयायी कहा है (रघुवश, ४।७८)। इस नाम का विशेष कारण है। सकेत का

अर्थ है 'विवाह' (मत्स्य० १५४।४०६) और उत्सव का अर्थ किसी विशेष अवसर पर लगनेवाला मेला था। यहाँ के निवासियो की यह प्रथा थी कि वे किसी वार्षिक मेले मे एकत्र होकर सैकडो वर-कन्याओ के विवाह निश्चित कर लेते थे। उपत्यक नाम इसी प्रदेश के ऊँचे पहाडी पठार के लिए प्रयुक्त जान पडता है। कुल्लू-कागडा के पूरब मे मिला हुआ जो 'भोट' का प्रदेश है, उसके लिए यहाँ 'तगण' और 'परतगण' नाम आए है, जिनके मध्य से सतलज और सिधु की उपरली धाराएँ बहती है।

पठानकोट-जालन्धर से लेकर यमुना तक का जो प्रदेश है, इसमे भी कई प्राचीन जनपद थे। कुरुक्षेत्र (थानेश्वर) और उससे मिला हुआ दक्षिण-पश्चिम की ओर का जगल, जिसे कुरुजागल कहते थे, प्रसिद्ध नाम है। किन्तु उसी प्रदेश मे साल्व जनपद के कई छोटे-मोटे टुकडे फैले हुए थे, जिन्हे पाणिनि ने 'साल्वावयव' कहा है। उन्ही मे इस सूची के बोध और पुलिंद (पाठान्तर भूलिंग) जनपद थे। सुकुट्ट का स्थान अनिश्चित है। सम्भव है यह सुकेत (एक रियासत) हो। सैरन्ध्र भी सम्भवत सरहिन्द का ही नाम था।

यमुना पार करते ही मध्यदेश में प्रवेश करते है, जहाँ इद्रप्रस्थ से हस्तिनापुर तक फैला हुआ यमुना-गगा के बीच का पूरा भूभाग कुरु जनपद कहलाता था (वर्तमान दिल्ली-मेरठ)। कुरु जनपद के दक्षिण मे पाचाल (फर्रुखाबाद-कन्नौज-बरेली) का बडा जनपद था और पश्चिम मे यमुना के किनारे शूरसेन (मथुरा) जनपद था जिसे अब ब्रजमडल कहते है। मध्यदेश के बीच मे कोसल और काशी के दो विस्तृत जनपद थे। सरयू कोशल की मुख्य नदी है। काशी गगा और गोमती के बीच का प्रदेश था। इसी का पश्चिमी भाग अपरकाशि कहलाता था जिसे अब कसवार कहते है। बलिया-गोरखपुर का प्रदेश मल्ल जनपद था।

३. मध्यदेश के जनपद

राप्ती नदी के उस पार प्राच्य भारत शुरू हो जाता है। यहाँ कई जनपद स्पष्ट पहचाने जाते है। गगा के उत्तर का विस्तृत भूभाग विदेह

(वर्तमान मिथिला) कहलाता था और गगा के दक्षिण का प्रदेश मगध। इन्ही दोनो के बीच में किन्तु पूर्व की ओर अग (भागलपुर) जनपद था, जिसकी प्राचीन राजधानी चम्पा (भागलपुर) थी। जहाँ गगा दक्षिण की ओर मुडी है, उसके पूर्व और पश्चिम एव उत्तर और दक्षिण के जनपदो के नाम इस सूची में आए है। उत्तरी बगाल मे पुण्ड्र (बोगरा-रगपुर-राजशाही) दक्षिण मे सुह्मोत्तर या सुह्म (ताम्रलिप्ति का इलाका, मेदिनीपुर), पूरब में वग (ढाका-मैमनसिह) और पश्चिम में मानवर्जक (पाठान्तर मानवर्तिक, बर्दवान-बीरभूम-मानभूम) नाम के प्रसिद्ध जनपद थे। गगा के ठीक पूरब में मालदह जिला है, जो सम्भवत प्राचीन मलद था और इस सूची मे आया है।

४. प्राच्य जनपद

यहाँ दो नाम विशेष ध्यान देने योग्य है, अन्तर्गिरि और वहिर्गिरि। अन्तर्गिरि हिमालय की भीतरी शृखला या महाहिमवत का पुराना नाम था, जिसमे २० सहस्र फुट या उससे ऊँची चोटियाँ है, जैसे कञ्चनजघा, नन्दादेवी, धौलागिरि, वदरी-केदार आदि। वहिर्गिरि हिमालय की बाहरी शृखला की सज्ञा थी, जिसे पाली में चुल्लहिमवत भी कहते थे। इसमें हिमालय की ५ से लेकर १० सहस्र फुट तक ऊँची चोटियाँ आती है, जैसे—मसूरी, नैनीताल, शिमला आदि। प्राचीन काल में हिमालय के इन दोनो भागो की अलग-अलग पहचान की जाती थी। इस समय वहिर्गिरि प्रदेश मे किरात जाति का और अन्तर्गिरि भाग में भोट जाति का निवास है। सम्भवत यही स्थिति प्राचीनकाल में भी थी। इन दोनो देशो के निवासी क्रमश वहिर्गिर्य और अन्तर्गिर्य कहे गए है। हिमालय का एक तीसरा भाग भी है, जिसे आजकल तराई-भावर कहते है और जो प्राचीन परिभाषा में उपगिरि कहलाता था। यहाँ उसका नाम नही है, किन्तु पाणिनि की अष्टाध्यायी (५।४।११२) में और सभापर्व (सभापर्व २७।३) में आया है।

५. विन्ध्यपृष्ठ के जनपद

उत्तर से दक्षिण की ओर चलते हुए बीच के भूभाग की संज्ञा विन्ध्य-पृष्ठ थी। पुराणो मे इस प्रदेश के जनपदो को विन्ध्यपृष्ठाश्रयी कहा है। इनमे ये नाम उल्लेखनीय हैं—बघेलखड का बडा भाग करूष जनपद था, जहाँ अनेक जगली जातियाँ पहले और आज भी बसती हैं। 'करूष' के दक्षिण की ओर मेकल (अमरकटक) जनपद था, जो नर्मदा और शोण (सोन) की उद्‌गम भूमि थी। पश्चिम की ओर पूर्वी मालवा का भूभाग, जहाँ धसान नदी बहती है प्राचीन काल का दशार्ण जनपद था। इसके कुछ उत्तर-पश्चिम मे निषध जनपद था, जहाँ इस समय नलकच्छ या नरवर-गढ है। नर्मदा के तट पर निमाड जिले का भू-भाग प्राचीनकाल मे 'अनूप' कहलाता था, जिसकी राजधानी 'माहिष्मती' या 'ओकार-मान्धाता' थी। इसके कुछ उत्तर में अवन्ति जनपद (आधुनिक मालवा) था, जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। इस प्रकार यमुना के दक्षिणी प्रस्रवण क्षेत्र से लेकर नर्मदा के काँठे तक का भूप्रदेश इन ६ बडे जनपदो मे बँटा हुआ था। उनमें पूर्व से पश्चिम की ओर चलते हुए करूष, दशार्ण और निषध इन तीन जनपदो की पट्टी थी और उनके नीचे क्रमश. मेकल, अनूप और अवन्ति नामक जनपदो की दुहरी पेटी फैली हुई थी।

६. अपरान्त के जनपद

इसके आगे अपरान्त और पश्चिमी दिशा के कुछ जनपदो की ओर दृष्टि जाती है। इनमें सह्याद्रि और समुद्र के बीच की लगभग ५०० मील की पतली पट्टी भारतीय भूगोल मे अपरान्त या कोकण नाम से प्रसिद्ध रही है। पिछला नाम आज भी चलता है। इस सूची मे दोनो नाम हैं। ज्ञात होता है कि रत्नागिरि जिले का नाम विशेषकर कोकण था और उत्तरी भूभाग का, जिसमे कल्याण, सुपारा आदि जिले हैं, अपरान्त कह-लाता था। उसे ही यहाँ 'कुट्टापरात' कहा गया है। काक्ष कच्छ के लिए स्पष्ट है। सामुद्रनिष्कुट का तात्पर्य वह भूप्रदेश है, जो प्रायः

द्वीप की तरह समुद्र में निकला हुआ हो। इस दृष्टि से यह काठियावाड ही होना चाहिए, किन्तु इसी के साथ 'सुराष्ट्र' का नाम भी आया है। उस स्थिति मे काठियावाड का पूर्वी भाग केवल सौराष्ट्र नाम से प्रसिद्ध रहा होगा, किन्तु इस सज्ञा का भौगोलिक विस्तार पूरे प्रायद्वीप के लिए भी लागू था। अहमदावाद से दक्षिण, वडौदा, राजपीपला और सूरत तक का प्रदेश आनर्त्त या गुजरात था। इसी में भडौच का वन्दरगाह भी नर्मदा के किनारे वहुत वडा व्यापारिक नगर था। उसके आस-पास का प्रदेश भृगुकच्छ जनपद के नाम से प्रसिद्ध था। वर्तमान अहमदावाद के पूर्व में मही नदी और पश्चिम मे सरस्वती नदी है। इन दोनो के प्रदेशो को इस सूची मे क्रमश माहेय (वर्तमान महीकांठा) और सारस्वत (गुजरात की सरस्वती का कांठा) कहा गया है। सरस्वती के उत्तरी छोर पर आवू पर्वत है, जिसे यहा 'अर्वुद' कहा गया है। एक नाम 'द्वैभेय' है, जो विशेष ध्यान आकृष्ट करता है। इसका पाठान्तर 'द्वैपेय' है और वही मूल ज्ञात होता है, जिसे इस समय 'दीव (ड्यू) कहते है उसकी प्राचीन सज्ञा द्वीप थी। समुद्र तटवर्ती इन कई द्वीपो के निवासी द्वैपेय कहलाते थे। उनकी गणना भी भारतीय सीमा मे की जाती थी।

यदि हम आवू की चोटी पर खडे होकर पश्चिम और उत्तर की ओर दृष्टिपात करे तो इस भूखड के चार वडे भाग, जिनके नाम इस सूची मे है, साफ समझ में आ जाते है। सिन्धु, सौवीर, मरुभूमि और जागल। इनमें 'थर पारकर' के रेगिस्तान से लेकर जोधपुर के वडे रेगिस्तान तक मरुभूमि का विस्तार था। वहाँ के रहनेवालो को मरुभौम कहा गया है। आजकल का जो सिन्ध है, उसका पुराना नाम सौवीर था। उसकी राजधानी 'रोरुक' नगर (सवर्तमान रोडी) थी। वीकानेर का भाग जागल और सिन्धु नदी के पूर्व का वडा रेगिस्तान 'सिन्धु' कहलाता था। इन चारो के अतिरिक्त एक नाम 'शूद्राभीर' है। सिन्धु के उत्तरी भाग से लेकर पूर्व की ओर राजस्थान मे घुसा हुआ जो प्रदेश है, वहाँ प्राचीन काल में शूद्र और आभीर सज्ञक जातियो के दो राज्य एक दूसरे से सटे हुए थे।

७ दक्षिणापथ के जनपद

अव दक्षिणापथ के जनपदीय नामो का गुच्छा रह जाता है। भीष्म-पर्व की सूची में भी उन्हे स्पष्टतया दक्षिण दिशा से सम्वन्धित कहा है। जानना चाहिए कि गोदावरी से लेकर ताम्रपर्णी तक का विशाल भूखड प्राचीन भूगोल के अनुसार दक्षिण कहलाता था। इनमे उत्तर की ओर से तीन नाम सामने आते है, विन्ध्यपुलक (पाठान्तर विन्ध्यमूलक) अर्थात् विन्ध्याचल और सतपुडा की दक्षिणी तलहटी मे फैला हुआ भूभाग। उसके नीचे ऋषिक (वर्तमान खानदेश) और उसके बाद अश्मक (गोदा-वरी के दक्षिण अहमदनगर एव साथवाले जिलो का प्रदेश, जिसकी पुरानी राजधानी प्रतिष्ठान—वर्तमान पैठण गोदावरी के किनारे थी)। उसके पूरव मे ठेठ हैदराबाद का इलाका है, जिसका पुराना नाम मूषक था। उसका स्मरण दिलाने वाली 'मूसी' नदी पर हैदराबाद स्थित है। भीमा नदी के दक्षिण तुगभद्रा तक, जिनके बीच में कृष्णा नदी है, तीन जनपद भूमियाँ और होनी चाहिए—कुन्तल, कर्णाटक और वनवासी। इतिहास के उतार चढाव में ये नाम एक दूसरे के साथ घुलमिल भी गए, किन्तु अनुमान होता है कि भीमा नदी का काँठा कुतल (शोलापुर-विजापुर), कृष्णा का कर्णाटक (वेलगाम-धारवाड) और तुगभद्रा का वनवासी (उत्तरी कन्नड और कारवार जिला) कहा जाता था। इसके दक्षिण मे 'माहिषक' (वर्तमान मसूर) का बडा जनपद था, जिसे 'महिषविषय' भी कहते थे। बल्लारी, चितलद्रुग और शिमोगा आदि के जिले इसी जनपद की जातीय भूमियाँ है।

दक्षिण का जो भाग वच रहता है, उसमे भरने के लिए चार जन-पदीय नाम इस सूची मे वच जाते हैं। उनमें आन्ध्र और केरल स्पष्ट है, जो आज भी इन्ही नामो से विख्यात हैं। कृष्णा नदी आन्ध्र की दक्षिणी सीमा है। इधर पश्चिमी समुद्र की तटवर्ती भूमि केरल है, जहाँ की भाषा मल-यालम् इस प्रदेश को औरो से अलग करती है। अव 'एलामलै' (इलायची

की पहाडी) और नीलगिरि के पूर्व से लेकर मद्रास के समुद्र तट तक और उत्तर में पेन्नार नदी से लेकर कन्याकुमारी तक का प्रदेश बच जाता है। कावेरी नदी इसको बीच से लगभग दो बराबर भागो में बाँटती है। ज्ञात होता है कि कावेरी के दक्षिण का जनपद चोल और उत्तर का द्रविड यहाँ कहा गया है। ये दोनो नाम भी विशेष रूढ न थे और कभी-कभी उनके अर्थ एक दूसरे में मिल जाते है, परन्तु मोटे तौर पर ये नाम सही जान पडते है। इस प्रकार उत्तर में कम्बोज से लेकर दक्षिण में चोल देश तक के जनपदो के नाम भीष्मपर्व की सूची में पाए जाते है।

स्पष्ट है कि यह प्रकरण किसी विज्ञ लेखक की कृति है। उसके सामने पुराणान्तर्गत भुवनकोष की सामग्री थी, पर उसने उसकी प्रतिलिपि नही की। केवल नामो को लेकर मनमाने ढग से सूची में गूथ दिया। उन्ही नामो की क्रमबद्ध व्याख्या यहाँ दी गई है।

जनपद इस देश की प्राचीन जातीय भूमियाँ थी। उनकी सीमाएँ इतिहास के उतार-चढाव से घटती-बढती रही हैं। नामो में भी कमी और वृद्धि हुई है, पर वह अलग अध्ययन का विषय है। राजनैतिक और सास्कृतिक दृष्टि से जनपदो का अत्यधिक महत्त्व था। जैसे यूनान देश के पुरराज्य (सिटि स्टेट्स) थे, वैसे ही भारत में लगभग १५०० ई० पूर्व से ५०० ई० पूर्व तक जनपदो का देशव्यापी आन्दोलन प्रबल रूप मे फैला हुआ था। इनमें से कुछ राजाधीन और कुछ गणाधीन थे। जनपदो की विशेषताओ का कुछ विस्तृत अध्ययन हमने अपने 'पाणिनि-कालीन भारतवर्ष' में किया है। आज इनका राजनैतिक पक्ष प्राय लुप्त हो गया है किन्तु सास्कृतिक प्रभाव बहुत कुछ शेष है।

और भी जनपदीय भूगोल के लिए देखिए, मेरी पुस्तकें भारत की मौलिक एकता पृ० ४३-५३, पाणिनिकालीन भारत वर्ष पृ० ५७-७७, मार्कण्डेय पुराण एक सास्कृतिक अध्ययन पृ० १४९-१५६।

कौरवो और पाण्डवो के पक्षपाती

प्रस्तुत प्रसग में धृतराष्ट्र ने सजय से कुरुक्षेत्र मे युद्ध के लिए एकत्र हुए राजाओ का परिचय पूछा था और उसी के उत्तर मे सजय ने यह भौगोलिक वर्णन सुनाया था। इसका उद्देश्य यह है कि निकट और दूर के अनेक राजा और उनकी सेनाएँ युद्धभूमि मे एकत्र हुईं। उनमें से कुछ कौरवो की और कुछ पाण्डवो की ओर थे। इसका विशेष उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलेगा। सक्षेप मे कुल्लू-काँगडा से लेकर मध्य एशिया तक के लोगो की सहानुभूति कौरवो के पक्ष मे थी और मध्यदेश, विन्ध्यपृष्ठ, प्राच्य एव सौराष्ट्र अपरान्त के राजा पाण्डवो के पक्ष में थे। इनमे कुछ अपवाद भी थे। पर मोटे तौर पर शक्तियो के विभाजन का रूप यही था। कृष्ण ने इस बात को पहले ही अच्छी तरह ताड लिया था कि सैनिक शक्ति का सतुलन किस प्रकार किया जाय। और इसके लिए उन्होने कई सफल प्रयत्न भी किए। उन्होने देख लिया था कि पश्चिम मे सिन्धु-सौवीर के जयद्रथ, उत्तर-पश्चिम मे गान्धार के शकुनि और मद्र या मध्य पजाव के शल्य इनका तगडा तिगड्डा दुर्योधन का अटल पक्षपाती था। इन्ही का पुछल्ला त्रिगर्त के गणराज्यो का सघ था, जिसे सशप्तक गण कहा गया है। इनके वीच मे किसी छोटे राजा की ताव न थी कि उनके प्रभाव से बाहर जा सके। कृष्ण समझते थे कि इनमे से किसी को भी फोड़ना कठिन है, इसलिए उनकी आँख मत्स्य या विराट् से लेकर मध्यदेश, विन्ध्यपृष्ठ और पश्चिम के राजाओ पर थी। पर इसमे भी दो काँटे थे—एक मगध का जरासन्ध, जिसके प्रभाव मे प्राच्य देश के और सव राजा थे, और दूसरा चेदि (जबल-पुर) देश का राजा शिशुपाल। इन्ही का पिछलग्गू करूप जनपद का दन्तवक्र था। कृष्ण ने अपनी राजनीतिक चतुराई और वल से इन तीनो को पहले ही वीन लिया। अत एव चेदि, करूप और मगध का विस्तृत प्रदेश पाण्डवो के लिए निष्कण्टक हो गया। करूप के पश्चिम मे दशार्ण और निपध जनपदो मे कृष्ण की नारायणी सेना का अड्डा था। शूरसेन,

पाञ्चाल और विराट के राज्य स्पष्टत पाण्डवो की ओर थे। उधर सौराष्ट्र में अन्धक और वृष्णियो के बहुत से गणराज्य कृष्ण के अपने ही थे, जो सब पाण्डव पक्ष में नियत सहायक थे। इस प्रकार कुरुक्षेत्र की भूमि में एकत्र योद्धाओ का विभाजन कौरव और पाण्डव पक्ष मे समझना चाहिए।

उत्पादन और निमित्त

भीष्म पर्व के आरम्भ में ५ अध्यायो में उन उत्पात और निमित्तो की सूची है, जो युद्ध के रूप में होने वाले भारी विनाश के सूचक थे। इस प्रकार के अपशकुन, उत्पात और दुर्निमित्तो के सम्बन्ध में विश्वास प्राचीन काल से चला आता रहा है, न केवल इस देश में बल्कि अन्य देशो मे भी कुछ इस प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित थी। प्रकृति के कार्यकलापो में या मानव-जीवन में जो बधी हुई स्वाभाविक पद्धति है, उसका उल्लघन, विपर्यय या विनाशकारी चक्र इन निमित्तो के मूल में पाया जाता है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, वायु, नदी, पर्वत, वृक्ष-वनस्पति, पुष्प-लता, पशु-पक्षी और मनुष्य ये सब विश्व के विराट् विधान के अग है, जो सबके लिए एक जैसा है। उसमे होने वाली उलटफेर सूचित करती है कि भारी विपत्ति की आशका है। महाभारत के युद्ध को इसी दृष्टि से देखा गया। इस युद्ध में भारतीय सभ्यता ने अपनी बहुत सी उपलब्धियाँ खो दी। आश्चर्य यही है कि इतने भारी विनाश के बाद भी यह सस्कृति किसी तरह बची रह गई। रामायण के द्वारा जिन आदर्शों को देश ने पाया था, महाभारत में उनका ककाल दिखाई पडता है। यह बहुत ही भीषण और भयकर अवस्था थी। राष्ट्र की आत्मा जैसे घायल हो चुकी थी। युद्ध तो केवल बाहरी लक्षण था। मानव जब इस प्रकार दुर्मद हो जाते हैं तो युद्ध अनिवार्य हो उठता है। वैसा ही द्वापर के गाढे समय में हुआ, जिसका रोमाञ्चकारी वर्णन आगे के पर्वों में है।

५४.
श्रीमद्भगवद्गीतापर्व
(अ० २३–४०)
गीता-महिमा

श्रीमद्भगवद्गीता भीष्मपर्व का सुप्रसिद्ध अश है। इसके १८ अध्याय है (पूना सस्करण अ० २३–४०)। आरभ मे और अत मे इसमे धृतराष्ट्र और सजय के सवाद रूप में कुछ श्लोक है, शेष कृष्ण और अर्जुन के सवाद के रूप में हैं। भगवद्गीता जैसा ग्रथ भारतीय साहित्य मे दूसरा नही है। भारतीय मान्यता के अनुसार यह ईश्वर का मानव को उपदेश है। इसकी कई विशेषताएँ हैं जो और ग्रथो मे नही मिलती। गीता सवाद-ग्रथ है। अत एव आदि से अत तक इसकी मार्मिक रोचकता का प्रभाव मन पर पडता है। इसकी शैली शुष्क वर्णन से ऊपर है। यह मुख्यत अध्यात्मविद्या का ग्रन्थ है। धम्मपद के समान नीति-विद्या तक यह सीमित नही। अध्यात्म से तात्पर्य मनुष्य के मन की उस समस्या से है, जो आत्मा के विषय मे, उसके अमृत स्वरूप, आदि और अन्त के विषय मे, शरीर और कर्म के विषय मे, ससार और उसमे होनेवाले अच्छे-बुरे व्यवहारो के विषय मे, आत्मा और ईश्वर के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे, एव मानवी मन की जो ज्ञान, कर्म और भक्ति रूपी तीन विशेष प्रवृत्तियाँ है, उनके अनुसार किसी एक को विशेष रूप से स्वीकार करके सब प्रकार के जीवन व्यवहारो को सिद्ध करने और सबके समन्वय से जीवन को सफल, उपयोगी और आनन्दमय बनाने के विषय मे उत्पन्न होती है। इस प्रकार के अत्यन्त उदात्त लक्ष्य और जिज्ञासा की पूर्त्ति, जिस एक शास्त्र से होती है वह भगवद्गीता है। इसकी शैली मे कविता का रस है। इसके स्वर ऐसे प्रिय लगते है, जैसे किसी अत्यन्त हितू मित्र की वाणी अमृत बरसाती है। इसमे उपनिषदो के समान वक्ता के प्रत्यक्षसिद्ध या स्वानुभव मे आए हुए ज्ञान का वातावरण प्राप्त होता है।

गीता की पर्याप्त प्रशसा शब्दो में करना अशक्य सा ही है, क्योकि विश्व के साहित्य में कर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र का ऐसा रसपूर्ण ग्रथ कोई दूसरा उपलब्ध नही है, जिससे गीता की तुलना की जा सके। धार्मिक मान्यता के अनुसार गीता साक्षात् भगवान् की वाणी है, पर अर्वाचीन मन को इस तथ्य को स्वीकार करने में झिझक हो सकती है। तो भी इस प्रकार की कल्पना तो स्वीकृतियोग्य मानी ही जा सकेगी कि यदि ईश्वर जैसी कोई अध्यात्मसत्ता सृष्टि में है और मानव अपने जीवन के लिए सशयरहित मार्ग की जिज्ञासा से युक्त होकर उस ईश्वरतत्त्व के ही जिसने विश्व और मानव का निर्माण किया है, सान्निध्य मे पहुँच जाय तो उससे प्राप्त होनेवाले समाधान का जो स्वरूप सम्भव हो, वही 'गीता' है। मनुष्य को गीता जैसे मार्मिक ज्ञान की जीवन में वहुत वार आवश्यकता पडती है, जिसके प्रकाश में वह अपने सशयो को सुलझाकर अपने लिए कर्म करने या न करने का निश्चय कर सके। व्यक्ति के मन की और कर्म की शक्ति जितनी अधिक होती है, उसी के अनुसार उसका सशय उसे भीतर तक झकझोरता है और उसके समाधान के लिए उतने ही गम्भीर ऊहापोह और समाधान करनेवाले व्यक्ति की ऊँचाई की आवश्यकता होती है। हमे अर्जुन और कृष्ण के रूप मे ऐसे ही शिष्य और गुरु के दर्शन होते हैं। भगवान् कृष्ण की वाणी वेद-व्यास की पूर्णतम मन समाधि से निष्पन्न हुई है। अत एव इसमें सदेह नही कि गीता मानव के जीवन की मौलिक समस्याओ की व्याख्या करने-वाला ऐसा परिपूर्ण काव्य है, जिसकी तुलना अन्य किसी दर्शन, धर्म, अध्यात्म या नीति के ग्रन्थ से करना सम्भव नही। भारतवर्ष में अध्यात्म की परम्परा वहुत ऊँचे धरातल पर सहस्रो वर्षो तक फूली फली है। वेद और उपनिषद् जैसे महान् ग्रथ उसीके फल हैं। किन्तु यहाँ के साहित्य में भी गीता के ७०० श्लोक अपनी उपमा नही रखते। उनमें जो वक्ता और श्रोता के हृदय की उन्मुक्त सरलता है, शब्दो की जैसी शक्ति है, शैली का जो प्रवाह है और सर्वोपरि विषय की मानव जीवन के साथ जैसी सन्निधि है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

पहला अध्याय--अर्जुन का विषाद

'गीता' महाभारत का सर्वोत्तम अश है। इस बडे ग्रथ मे जिसे शत-साहस्त्री सहिता कहते हैं और भी कितने ही तेजस्वी प्रकरण है, किन्तु गीता जैसी साभिप्राय और सुविरचित रचना दूसरी नही। गीता को महाभारत-कार ने जिस सदर्भ मे रक्खा है, इसका भी ग्रथ की अर्थवत्ता के लिए बहुत महत्त्व है। गीता कुरु-पाडवो के युद्ध से पूर्व उस व्यक्ति से कही गई, जो दोनो पक्षो के क्षात्रबल का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है, युद्ध की दृष्टि से अर्जुन पाण्डव पक्ष का सर्वश्रेष्ठ पात्र है। पाण्डवो के पक्ष मे धर्म का आग्रह था। युद्ध आरम्भ करने से पूर्व अर्जुन का मन बहुत बडे तनाव की स्थिति में आ गया था। मनुष्य की सोचने की, कर्म करने की, और चाहने की जितनी शक्ति है, उसकी भरपूर मात्रा जिस काम मे उँड़ेल दी जाय, वह युद्ध का रूप है। बाह्य शस्त्रो का प्रयोग और सहार तो उसका गौण पक्ष है। हम शस्त्रो का प्रयोग न भी करे तो भी मन का वैरभाव विनाश करा डालता है। अपने ज्ञान, कर्म और हृदय की भावना से युक्त होकर विपरीत परिस्थितियो का सामना करने के अनेक प्रसग जीवन मे आया ही करते है। जो व्यक्ति जितना महान् है, उसके लिए ऐसे प्रसग भी उतने ही गम्भीर हुआ करते है। इस बिन्दु पर पहुँचकर मानव अपने पूरे व्यक्तित्त्व को समेट कर कर्म की भट्टी मे डाल देता है। पूर्व की घटनाओ ने अर्जुन को भी उसी मोड तक पहुँचा दिया था। उस बिन्दु से आगे उसके लिए दूसरा मार्ग न था, 'कार्य वा साधयामि, शरीर वा पातयामि' यही एकमात्र अर्जुन के जीवन की सगति थी। इसे ही युद्ध कहते है। यह युद्ध भौतिक और आध्यात्मिक दोनो प्रकार का हो सकता है। दोनो में ही आत्माहुति वीर की एकमात्र गति होती है, वही उसके चलने का मार्ग अवशिष्ट रहता है, पलायन नही। ऐसे कठिन मोर्चे पर पहुँच कर अर्जुन का दृढ मन टुकडे-टुकडे हो गया। जिस धर्म के भाव ने उसे युद्ध के लिए आगे बढाया था, उसी ने अर्जुन के मन को सदेह से भर दिया। उसे ऐसा लगा मानो वह नीति-धर्म की हत्या

के लिये वढ रहा हो। जिस राज्याधिकार के लिए युद्ध करना धर्म था, उस अधिकार की भावना को त्याग के भाव से क्षण भर में ही जीता जा सकता था और यो युद्ध का प्रपच ही मिट जाता। कृष्ण ने अर्जुन की इस डाँवाडोल स्थिति को क्लैव्य या नपुसकता कहा। अर्जुन के लिए यह शब्द इसी अर्थ में सार्थक है कि उसकी जितनी दुर्धर्ष कर्मशक्ति थी, उसे त्याग की इस झूठी भावना ने विलकुल समाप्त कर डाला। जैसे किसी के शरीर की पुस्त्वशक्ति नष्ट हो जाय, वैसे ही अर्जुन के मन का पौरुष बिखर गया। वस्तुत अर्जुन ने गीता सुनने के वाद स्वय स्वीकार किया कि वह एक प्रकार का मोह या उसके मन पर छाया हुआ अवेरा था। जिस धर्मनिष्ठ कर्त्तव्य के लिए अपने सारे जीवन को दाँव पर लगा दिया था, उसी में उसकी आस्था जाती रही और उसका मन सदेह से भर गया। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार का सदेह केवल अर्जुन को ही हुआ और किसी को नही। और किसी का मन इस प्रकार के विवेचन के लिए तैयार ही नही था। अर्जुन के सदेह का कारण यह नही कि वह धर्म का पथ छोडकर अधर्म की ओर जाना चाहता था, वल्कि अवतक जिसे वह वर्म समझे था उससे और ऊँचे वर्म को पकडने का भाव उसके मन मे आ गया। गीता का पहला शब्द 'वर्मक्षेत्रे' इस दृष्टि से सहेतुक है। अर्जुन का सकट दो धर्मो के वीच में है, वर्म और अवर्म की टक्कर में नही। अधर्म के आग्रह को तो वह वहुत आसानी से छोड सकता था, किन्तु जिस नए उच्चतर वर्म का आकर्षण उसके मन मे भर गया, उस विचिकित्सा या सदेह को स्वय जीतने की उसमें शक्ति न थी। अर्जुन के इस भाव को मनोवैज्ञानिक शब्दो में 'परमकृपा' कहा गया है (कृपया परया विष्ट १।२७)[1]। अर्जुन के भीतर जो कृपा या अनुकम्पा का भाव भर गया था, वह उसी के सदृश था, जैसा वुद्ध, महावीर, भर्तृहरि आदि राजकुमारो के मन में ससार के प्रति उत्पन्न हुआ था। अर्जुन ने

---

१. आगे के सब सकेत गीता के अनुसार हैं, भीष्मपर्व के अनुसार नहीं।

स्पष्ट कहा कि युद्ध की अपेक्षा भिक्षा का जीवन उत्तम है (श्रेयो भोक्तु भैक्ष्य, २।५)। सच तो यह है कि अर्जुन ने युद्ध न करने के पक्ष मे जो युक्तियाँ दी, वे अत्यन्त प्रबल है। उसने कहा, "हे कृष्ण, मुझे राज्य नही चाहिए, सुख नही चाहिए, भोग का जीवन नही चाहिए, युद्ध मे विजय नही चाहिए। यदि स्वजनो के वध से ये वस्तुएँ मिलनेवाली हो तो पृथ्वी क्या, त्रिलोकी का राज्य भी मुझे नही चाहिए। ये मुझे भले ही मारे, मै अपने इन स्वजनो को कदापि नही मारूँगा। यदि यह कहा जाय कि ये अधर्म का पक्ष लेकर आए है, तो मेरा यह कहना है कि सचमुच इन्होने हम भाइयो के साथ और द्रौपदी के साथ घोर आतताईपन के काम किए है, किन्तु यह जानते हुए भी मै इनका वध नही करूँगा ये अधे है। इन्हे अपना पाप दिखाई नही पडता। जिसके आँख है, वही सचाई को देखता है, अधे को सत्य नही दिखाई पडता। इनके पास हृदय की आँख नही है, अतएव ये दयनीय है, पर हमारे पास तो विवेक की आँख है। हम भले बुरे की पहचान क्यो न करे? जिसकी आँखो पर लोभ का पट्टा चढ जाता है, उसके अधे चित्त को सत्य नही सूझता, पर हम कुल के क्षय से होनेवाले इस बड़े पाप को कैसे न देखे? भारतीय सस्कृति मे कुल ही जीवन का मूलाधार है। व्यक्ति या जाति या राष्ट्र के धर्मो की रक्षा और परम्परा यहाँ कुलधर्म के रूप मे जीवित रही है। अर्जुन ने जिस सकट की आशका प्रकट की वह युद्ध के परिणाम से होनेवाला सच्चा सकट था। एक प्रकार से राष्ट्र का जो सदाचारमय महान् धर्म है वह कुलो की मर्यादा बिगडने से अस्त व्यस्त हो जाता है (उत्साद्यन्ते जातिधर्मा कुलधर्माश्च शाश्वता, १।४३)। अर्जुन ने सोचा—यह युद्ध महान् पाप है। मेरा हित इसी मे है कि मै युद्ध न करूँ, भले ही कौरव मुझे मार डाले। ऐसी विचारधारा मे उसने अपना धनुष-बाण डाल दिया। उसका चित्त इस नए वैराग्य धर्म से समूढ हो गया और उसके भीतर-बाहर शोक छा गया। उसने कृष्ण से कहा—मुझे अब नही जान पड़ता कि मेरा हित किसमे है? मेरा जो क्षात्र स्वभाव था वह जाता रहा। मै आपका शिष्य हूँ और नम्रता से आपकी शरण में आता हूँ। आप गुरु बनकर मुझे

कल्याण मार्ग का उपदेश दीजिए। यही गीता के पहले अध्याय का सार है जिसे अर्जुनविषादयोग कहते है।

गीता की पुष्पिका

यहाँ हम पाठको का ध्यान उस पुष्पिका की ओर दिलाना चाहते है जो गीता के प्रत्येक अध्याय के अत में पाई जाती है। वह इस प्रकार है—

ओम् तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोध्याय ॥१॥

इसमें अट्ठारह अध्यायो के नाम क्रम से बदल जाते है और शेष पुष्पिक वही रहती है। उसी की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। इस पुष्पिक का पहला अश ओम् तत्सत् है। यह सारी भारतीय सस्कृति का मूल सूत्र है। इसका सीधा सच्चा अर्थ है—ईश्वर अर्थात् ब्रह्म या भगवत्तत्त्व की ध्रुव सत्ता। इसीलिए गीता के न्यास में ऋषि, छद, देवता की व्याख्या करते हुए कहा है—'श्रीकृष्ण परमात्मा देवता। ओम् तत्सत् की ही व्याख्या यह है, अर्थात् इस महान् शास्त्र का देवता या चिन्मय तत्त्व परमात्मा या ईश्वर है, वही गीता का प्राण, श्वास-प्रश्वास या जीवन है। ईश्वर के लिए ही ओम्, तत् और सत् ये तीन शब्द प्रयुक्त हुए है। ईश्वर है, वह तत् या अव्यक्त है एव वह सत्य है, यही ईश्वर के विषय में भारतीय दर्शन की मान्यता है। यह सारा विश्व और जीवन भौतिक है। यदि ईश्वर मे श्रद्धा हो तभी विश्व और जीवन सार्थक है। और कोई सस्कृति चाहे जिस ढग से सोचती हो, भारतीय सस्कृति का मूलाधार सत् तत्त्व ही है। यह विश्व भूत भौतिक सत् रूप है। इसके भीतर देव की सत्ता अनुप्रविष्ट है जिसके कारण विश्व और जीवन स्थायी मूल्य प्राप्त करते है। गीता सत् तत्त्व का प्रतिपादक शास्त्र है। यदि विश्व को असत् कहें तो जीवन की कोई समस्या ही नही है। एक ओर ब्रह्म है पर उसके लिए न कोई समस्या पहले थी, न आज है, न होगी। दूसरी ओर जड जगत् है। उसकी भी कोई समस्या नहीं। मृत्यु के साथ सब समस्याएँ समाप्त हो जाती हैं। जितनी

समस्याएँ है वे अर्जुन रूपी नर के लिए है। ईश्वर और विश्व के बीच की और दोनो को जोडनेवाली कड़ी नर है। भारतीय दृष्टि से ये दो सूत्र स्मरण रखने योग्य है—

(१) ब्रह्म = ईश्वर = नारायण = कृष्ण = भगवान्

(२) जीव = मनुष्य = नर = अर्जुन = भगवान् का अश

जीव की समस्याएँ दो प्रकार की है—एक भगवान् के साथ, दूसरी विश्व के साथ। नर और नारायण या मनुष्य और भगवान् के बीच की समस्याओ के समाधान का उपाय ज्ञान है और मनुष्य और विश्व की जितनी समस्याएँ है उनके समाधान का साधन कर्म है। दोनो ही मनुष्य के लिए आवश्यक है और दोनो के समाधान से ही मनुष्य का मन शान्ति या समन्वय प्राप्त करता है। यहाँ हम प्राचीन भारतीय शब्दावली का प्रयोग कर रहे है क्योकि वह स्पष्ट और सुनिश्चित है और उसके पीछे एक महान् सस्कृति की अभिव्यजना शक्ति है। हम चाहें तो ईश्वर के स्थान पर सत्य, न्याय, विश्वधर्म, आदि नए शब्दो का भी प्रयोग कर सकते है किन्तु मूल बात मे कोई अन्तर नही पड़ता।

ब्रह्मविद्या और कर्मयोग का समन्वय

ज्ञान और कर्म इन दोनो के लिए ही गीता की पुष्पिका मे दो महत्त्वपूर्ण शब्द आए है—'ब्रह्मविद्याया योगशास्त्रे'। एक ओर ब्रह्मविद्या या अध्यात्म ज्ञान मानव के लिए अत्यत आवश्यक है, दूसरी ओर योगशास्त्र अर्थात् कर्मयोग भी उतना ही आवश्यक है। गीता ज्ञानरूपी समाधान की दृष्टि से ब्रह्मविद्या है, वही कर्मरूपी समाधान की दृष्टि से योगशास्त्र है। गीता मे योग की दो परिभाषाएँ है, एक ज्ञानयोग या बुद्धियोग है, दूसरा कर्मयोग या केवल 'योग' है। गीताकार ने दोनो की अलग-अलग परिभाषाएँ दी है। ज्ञानयोग को समत्वयोग कहा है (समत्व योग उच्यते, २,४८)। कर्म की दृष्टि से कर्मो मे कौशल या प्रवीण युक्ति को योग कहा है (योग कर्मसु कौशलम्, २,५०)। ये दोनो भले ही अलग जान पड़े पर गीता की दृष्टि मे दोनो का समन्वय ही जीवन की पूर्णता के लिए आवश्यक है।

उपनिषदो का सार गीता

इस प्रकार गीता के पुष्पिका-वाक्य के दो प्रधान अशो की सार्थकता पर हमने विचार किया। अब तीसरा अश 'श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु' यह वाक्य है। ऊपर कहा गया है कि गीता नर के लिए नारायण की वाणी है। यदि स्वय ईश्वर कुछ कहे या उपदेश करे, तो वह क्या भाषा होगी ? इसका उत्तर है कि वह गीत या कविता ही हो सकती है। ईश्वर की भाषा यह विश्व है जिसके द्वारा और जिसके रूप में जो कुछ उसके पास कहने के लिए था वह सब कुछ उसने कह दिया है। अत एव वेदो में विश्व को 'देव-काव्य' कहा है, जिसकी भाषा और जिसके अर्थ कभी पुराने नही पडते। कविता वह है जो वाह्य स्थूल वस्तु या शब्द के भीतर छिपे हुए अर्थ को प्रकट करती है। इसीलिए कवि को क्रान्तदर्शी कहते हैं। कवि अर्थ को देखता है। अर्थ ही ब्रह्म है, शब्द भौतिक विश्व है। शब्द अर्थ को प्रकट करनेवाला काव्य है। शब्द प्रकट है, अर्थ रहस्य है। इसीलिए अर्थ को 'उपनिषद्' कहा है। यह गीता स्थूल दृष्टि से शब्दो में निबद्ध गीत या कविता है किन्तु अर्थ की दृष्टि से यह महान् रहस्य या उपनिषद् है। जो गुह्य अर्थ है वही अध्यात्म है। वह एक अनबूझ पहेली है। इसलिए उसे सप्रश्न भी कहते हैं। यह रहस्य ही ब्रह्मविद्या है। भारतीय सस्कृति ने आरभ में ही इस ब्रह्मविद्या या रहस्य ज्ञान को जिस वाङ्मय द्वारा प्रकट किया उसी की सज्ञा वेद है। कालान्तर में वेद के ही ज्ञान को वेदारण्यक या उपनिषद् या वेदान्त भी कहने लगे। ये सब शब्द साहित्य मे प्रयुक्त हुए हैं। 'वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुष व्याप्य स्थित रोदसी' कालिदास के इस वाक्य में उपनिषदो की ही परम्परा को वेदान्त कहा है। ब्रह्मसूत्र तो साक्षात् उपनिषदो की अध्यात्म विद्या की ही व्याख्या करने के लिए है। इसी दृष्टिकोण से पुष्पिका में गीता के ज्ञान को उपनिषद् कहा गया है। जो उपनिषदो का अर्थ है वही गीता में है। उपनिषद् गौएँ है गीता उनका अमृत दूध है। जैसा हम आगे देखेंगे वेद और उपनिषदो की शब्दावली या भावो का हवाला

देते हुए गीताकार ने अपने विचार प्रकट किए है। क्षर, अक्षर, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ऊर्ध्व, अध, अश्वत्थ आदि ऐसे ही शब्द हैं। जो गीता को समझना चाहे उसे वेद विद्या तक पहुँचने के लिए अपने मन को तैयार रखना चाहिए। यदि यह ठीक है कि उपनिषदो की मलाई गीता मे आई है तो जिस दूध की वह मलाई है उससे परिचित होने के लिए भी हमारे मन मे उमग होनी चाहिए। गीता मे जितना स्थान कर्मशास्त्र को है उतना ही ब्रह्मविद्या को है। गीता के लिए ब्रह्म के बिना कर्म की कोई स्थिति नही। ब्रह्मशून्य लिये कर्म बधन या केवल श्रम है। इस प्रकार गीता की पुष्पिका उसे समझने के तीन स्पष्ट सूत्र हमें देती है। पहला यह कि विश्व और मनुष्य दोनो का मूल एक सत् तत्त्व है। दूसरा यह कि ज्ञान और कर्म दोनो ही गीता के विषय है और दोनो ही मनुष्य के लिए आवश्यक है। एव तीसरा यह कि गीता का यह उपदेश ईश्वरीय ज्ञान या दिव्य ज्ञान के अनत स्रोत वेदो और उपनिषदो का निचोड है। वेद और उपनिषद् भारतीय अध्यात्मविद्या, ब्रह्मविद्या या सृष्टिविद्या के स्रोत है। इस क्षेत्र में प्राचीन भारत के मनीपियो ने जो सशक्त और उदात्त चिंतन किया था उसका सार गीता है। किसी अन्य शास्त्र के खण्डन-मण्डन मे गीता को रुचि नही। उसका उद्देश्य भारतीय ज्ञान का मथा हुआ मक्खन प्रस्तुत करना है। गीता की शैली और भाव दोनो मधुर रस से ओत-प्रोत है, अत. वह मानव के हृदय की निकटतम भाषा है।

दूसरा अध्याय—सांख्ययोग

विषाद की चरम सीमा पर पहुँचे हुए अर्जुन के लिए ज्ञान और कर्म दोनो की ही शक्ति क्षीण हो चुकी थी। न वह इस योग्य रह गया था कि प्रवृत्ति मार्ग मे लग सके और न निवृत्ति मार्ग को ही दृढता से ग्रहण करने की उसमें पात्रता उत्पन्न हुई थी। किन्तु अर्जुन ने जो कहा उससे प्रकट होता है कि वह अपने लिए निवृत्ति का मार्ग चुनना श्रेयस्कर मान रहा था। उसके

तर्कों में सार नही था, क्योकि उनकी उसके जीवन के साथ असगति थी। अतएव सर्वप्रथम आवश्यक था कि उसके उन हेत्वाभासो का कुहासा या आवरण दूर किया जाय और निवृत्ति धर्म का जो सच्चा स्वरूप है उसकी व्याख्या की जाय। यही गीता के दूसरे अध्याय के विषय है।

सर्वप्रथम भगवान् ने प्रज्ञादर्शन के दृष्टिकोण से अर्जुन के विचारो की समीक्षा की। प्रज्ञादर्शन का आधार मनुष्य की बुद्धि या व्यवहार मे काम आनेवाली समझदारी है। चाहे जैसी परिस्थिति हो प्रज्ञा ही मनुष्य का सहारा है। हम पहले कह चुके है कि प्राचीन युग में प्रज्ञादर्शन नाम का एक विशेष दृष्टिकोण था जिसकी विस्तृत व्याख्या उद्योग पर्व के अतर्गत विदुर-नीति मे आ चुकी है। प्रज्ञा, पञ्ञा, पण्डा, ये तीनो बुद्धि के पर्याय है। प्रज्ञावादी को लोक में पण्डित भी कहते थे। कृष्ण प्रज्ञावादी थे और अर्जुन का भी दृष्टिकोण यही था। इस शास्त्र का दृष्टिकोण यह है कि जीवन मे मध्यमार्ग का आश्रय लिया जाय। इसके अनुसार अध्यात्म और जीवन ये दोनो विरोधी तत्त्व नही।

अध्यात्म और व्यवहार का मेल ही प्रज्ञा है

इनका समन्वय या मेल करना सभव है और वही इष्ट है। प्रज्ञा दर्शन के अनुसार सोचते हुए अर्जुन को ऐसा जान पडा कि युद्ध करने की अपेक्षा युद्ध न करना बढकर है। जिन्होने अबतक उसके अधिकारो का अपहरण किया था उन्हें मारने की अपेक्षा भीख माँगकर खाना श्रेयस्कर है। इस प्रकार की थोथी विचारधारा को कृष्ण ने 'प्रज्ञावाद' कहा है और उसकी हँसी उडाई है (२।११)। सर्व प्रथम प्रज्ञावादी को यह ज्ञात होना चाहिए कि मृत्यु और जन्म दोनो अटल हैं। जन्म से हर्ष और मृत्यु से शोक करना प्रज्ञादर्शन का अग नही (गतासू-नगतासूश्च नानुशोचन्ति पण्डिता २।११, पण्डिता=प्रज्ञावादिन)। प्रज्ञादर्शन की सबसे करारी टक्कर भाग्यवादी दर्शन से थी जिसे नियतिवाद या दैष्टिक (दिष्ट=भाग्य) मत भी कहते थे। वस्तुत जन्म और मृत्यु दोनो टाले नही जा सकते। वे समय से होकर ही रहते हैं। इस बात को

प्रज्ञावादी और नियतिवादी दोनो मानते थे, किन्तु दोनो के परिणाम भिन्न-भिन्न थे। नियतिवादी सोचता था कि जब भाग्य के विधान से सबको जीना और मरना है तो मनुष्य उसका हेतु क्यो बने ? वह अपने कर्म से इसमे निमित्त क्यो बने ? अत एव शान्ति से रहना अच्छा। युद्ध आदि के वखेडे मे पडना ठीक नही। इसी को वे निर्वेद या वैराग्य कहते थे। शान्तिपर्व १७१।२ के अनुसार नियतिवादी मत के पाँच सिद्धात थे—सर्वसाम्य (सवको समान समझना, अर्थात् कर्म से उन्नति और ह्रास के सिद्धात को न मानना), अनायास (हाथ-पैर हिलाकर श्रम न करना और अजगर की वृत्ति से जीवन विताना), सत्यवाक्य, निर्वेद (वैराग्य लेकर कर्म के प्रति उदासीन रहना), अविवित्सा (जीवन की उपलब्धियो से अलग रहना)। भाग्यवादी 'मा कर्म कार्षी.' 'मा कर्म कार्षी' रट कर शारीरिक और वौद्धिक दोनों प्रकार के कर्मों का निराकरण करते थे और कहते थे कि इस प्रकार की निष्कर्म वृत्ति से ही सच्ची शान्ति प्राप्त हो सकती है। प्रज्ञावाद का लक्ष्य भी 'नैष्कर्म्य' और शान्ति ही था किन्तु वे दूसरे तर्क और दृष्टिकोण को स्वीकार करते थे। जव व्यक्ति का जीना और मरना किसी ध्रुव नियम के अधीन है तो जो होकर रहेगा उसे टाला नही जा सकता अत एव जो जिसका कर्तव्य है उससे मुँह मोडना उचित नही। दूसरा तथ्य यह कि जन्म और मरण के अटल विधान मे उस प्रकार के शोक और मोह का कोई स्थान नही जैसा भीष्म-द्रोण आदि की कल्पना से अर्जुन के मन मे उत्पन्न हो गया था। ये ही युक्तियाँ कृष्ण ने सामने रक्खी। अर्जुन ने जिस ढग से सोचा था वह प्रज्ञादर्शन का आभास था, सत्य नही। भगवान् ने जीवन और मरण के सवध मे प्रज्ञादर्शन के वास्तविक दृष्टिकोण को और अधिक पल्लवित करते हुए कहा कि मै और तुम और ये सव योद्धा नित्य है अत एव सदा से है और सदा रहेगे। कभी ऐसा न था जव ये न रहे हो और कभी ऐसा नही होगा जव ये न रहे। इनकी जन्म, वृद्धि और ह्रास के नियम को इस प्रकार काल के अधीन समझो जैसे प्रत्येक के शरीर में कौमार्य, यौवन और जरा के वाद फिर नया शरीर आ जाता है (२।१२-१३)।

स्पष्ट है कि यह वाक्य आत्मा की नित्य सत्ता को मान कर कहा गया है जो प्रज्ञादर्शन का अग था। नियतिवादी दर्शन में आत्मा की सत्ता पर उतना वल न था जितना भूतो के व्यवहार पर। जो व्यक्ति भूतो को अधिक महत्त्व देता है वह सयोग-वियोग, सुख-दु ख इनसे विचलित होता है। अनात्मवादी वुद्ध ने भी इन तथ्यो पर अधिक ध्यान दिया था। किन्तु जो आत्मवादी नित्य आत्मा में विश्वास रखते है उनके अनुसार सुख दो प्रकार का है—एक अमृत सुख और दूसरा मात्रा सुख। विषयो से सवधित पाँच तन्मात्राओ के फेर में पडकर जो सुख-दु ख होते हैं वे मात्रा सुख है, अनित्य है, आने और जानेवाले है। उन्हें सहना ही होगा। जो इनसे ऊपर उठता जाता है वही धीर है। दु ख और सुख को एक समान मान कर जो आत्मा के अमृत सुख का उपभोग करता है वही धीर या प्रज्ञाशाली है (सम दु ख सुख धीर सोऽमृतत्वाय कल्पते, २।१५)। यहाँ यह स्पष्ट है कि आत्मा का सुख अमृत सुख और इन्द्रियो का सुख मात्रा सुख है। पहला नित्य, दूसरा क्षणिक है।

आत्मवाद और देहवाद

जव भगवान् ने अमृत सुख की ओर ध्यान दिलाया और इन्द्रिय सुख की अपेक्षा उसे श्रेयस्कर कहा तो उसी प्रसग में यह भी आवश्यक हुआ कि आत्मा का निराकरण करके भौतिक देह को प्रधान माननेवाले दृष्टिकोण का भी खण्डन किया जाय। यहाँ प्रकट रूप से वे खण्डन की भापा का प्रयोग नही करते, किन्तु नित्य आत्मा की सत्ता और स्वरूप के विपय में जिस रोचनात्मक शैली का उन्होने प्रयोग किया है वह अत्यत आकर्षक है। वेद से लेकर उपनिपदो तक जो अध्यात्म विद्या की अप्रतिहत मान्यता थी अर्थात् ब्रह्म तत्त्व या सत् तत्त्व या आत्म तत्त्व में ध्रुव विश्वास, वही सार रूप में गीता के इन श्लोको में (२।१६–३०) आ गया है। यहाँ उन प्राचीन तत्त्वदर्शियो का स्पष्ट उल्लेख आया है जो सदसद् वाद की युक्तियो से ब्रह्म की सत्ता के विपय में विचार करते थे। नासदीय सूक्त के सदसद् वाद दर्शन मे उन्ही की विचारधारा पाई जाती है। और भी ब्राह्मण तथा उपनिपदो में अनेक

स्थानो पर इस प्रकार के दार्शनिक चिंतन का उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार दो तत्त्व है। एक ब्रह्म जिसे 'आभु' (ऋग्वेद १०।१२९।३) कहते थे—आ समन्तात् भवतीति आभु, अर्थात् जो सर्वत परिपूर्ण, देश और काल मे सर्वत्र व्यापनशील है वह सत्तत्त्व आभु हैं। इसकी अपेक्षा विश्व 'अभ्व' कहा जाता है—भूत्वा न भवतीति अभ्वम्, अर्थात् जो है ऐसा जान पडे किन्तु फिर कुछ नही रहता। इसे ही वैदिक भाषा मे 'तुच्छ्य' भी कहा गया है। तुच्छ्य या क्षुद्र ने उस विराट् ब्रह्म की सत्ता को ढक रक्खा है (तुच्छ्येन आभु अपिहितम्, ऋग्वेद)। यही नित्य ब्रह्म और क्षणिक विश्व का सवध है। गीता ने जिन सत् और असत् दो शब्दो का प्रयोग किया है उनका सकेत ऊपर कहे हुए ब्रह्म और जगत् के स्वरूप की ओर ही है। आभु कभी अभ्व नही हो सकता और अभ्व कभी आभु नही बन सकता। दोनो के स्वरूप और स्वभाव सर्वथा विभिन्न है। तत्त्वदर्शी ऐसा निश्चित जान चुके है—(नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत । उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि, २।१६)। उस नित्य सत् तत्त्व को ही अविनाशी और अव्यय भी कहते है। वैदिक दर्शन के अनुसार तीन प्रकार के पुरुप कहे गए है। एक अव्यय, दूसरा अक्षर, तीसरा क्षर। अव्यय को ही अज भी कहते है। अक्षर और क्षर की व्याख्या स्वय गीता मे आगे कही गई है (१५।१६)। अज या अव्यय के लिए गीता मे पुरुषोत्तम और परमात्मा शब्द भी प्रयुक्त हुए है (१५।१७-१८)। अध्यात्म भाषा की समृद्धि इन नामो मे प्रकट हुई है। जो अज है वह नित्य है, शाश्वत है, पुराण हे, अविनाशी है, अप्रमेय है। इस प्रकार की परिभापाएँ गीता मे और उपनिषदो मे समान रूप से मिलती है। इसे शरीर मे रहने के कारण नित्य शरीरी (२।१८) या देही (२।३०) भी कहा गया है। जिसका तात्पर्य आत्मा से है। विराट् पुरुष का शरीर यह विश्व है और व्यष्टि आत्मा का शरीर यह पच भौतिक देह है। ब्रह्म के और आत्मा के शरीर की यह कल्पना विशुद्ध वैदिक है। वेदो में ब्रह्म की एक सज्ञा पुरुप है, जैसा पुरुषसूक्त मे प्रसिद्ध है। उसकी व्युत्पत्ति करते हुए ब्राह्मण ग्रथो में लिखा

है कि वह ब्रह्म विश्व रूपी पुर में निवास करने के कारण 'पुरिशय' कहलाता है और इस गुण के कारण उसे परोक्ष शैली या साकेतिक भाषा में पुरुष कहते हैं (प्राण एष स पुरि शेते त पुरि शेत इति पुरिशय सन्त प्राण पुरुष इत्याचक्षते, गोपथ ब्रा० पूर्वभाग १।३९)। शरीर शब्द 'शॄ विशरणे' धातु से बनता है, अर्थात् यह शरीर पचभूतो का समुदाय है जो कुछ समय के लिए है, पर वे बिखर जाते हैं। इन पचभूतो की विधृति अर्थात् इन्हें एकत्र धारण करनेवाला जो तत्त्व है वही प्राण है, वही देही, शरीरी और आत्मा है।

वैदिक दर्शन के इस मूल तत्त्व को गीताकार ने बहुत ही उदात्त और स्पष्ट शब्दो में कहा है—'यह विश्व (इद सर्वम्) जिससे प्रकट हुआ है वह अविनाशी है, उस अव्यय का विनाश कभी सभव नही। देह का अत होता है, किन्तु उसमें निवास करने वाले आत्मा का नही। आत्मा न कभी जन्म लेता है, न मरता है क्योकि वह अजन्मा, नित्य और शाश्वत है। यह आत्म तत्त्व काल-परिच्छिन्न नही, सनातन है, यह स्थाणु और अचल है अर्थात् देश और काल के वशीभूत नही होता। इसकी सत्ता सर्वत्र है। यह अव्यक्त है। इसके कारण से व्यक्त भौतिक देह का अनुभव होता है। देह विकारी है, यह स्वय विकार-रहित हैं। वैदिक दर्शन के इस प्राचीन और सर्वसम्मत सिद्धात को अर्जुन के सामने रखकर कृष्ण ने उसकी युक्तियो का उत्तर दिया—'यदि आत्मा की नित्यता को तुम मानते हो तो हे अर्जुन! यह स्पष्ट है कि न कोई किसी को मारता है न कोई मरता है। शस्त्र जिसको काटते है वह देह है, आत्मा पर आग, पानी और हवा का असर नही होता। यह जो भौतिक देहो का बनना-बिगडना तुम देखते हो, यह तो ऐसा ही है जैसे पुराना वस्त्र छोडकर नया पहन लेना (२।१९-२३)। इस वैदिक मत के अतिरिक्त और भी कई मत अस्तित्व में आ चुके थे जैसे भूतवाद और स्वभाववाद। ये जन्म और मृत्यु को तो मानते थे किन्तु नित्य आत्मा को नही। यहाँ गीताकार ने उनके मत का उल्लेख करते हुए भी अपनी ही युक्ति का समर्थन किया है—'यदि तुम इसे नित्य (बार-बार) जन्म लेने और मरने वाला मानो तो भी शोक करने का कारण नही (२।२६)। यह

क्षणिकवादी दृष्टिकोण था जो जन्म एव मृत्यु आदि सासारिक घटनाओ को स्वभाव से प्रवर्तित मानता था, ब्रह्म आदि कारणो की प्रेरणा से नही।

आत्मा के विषय मे प्राचीन मतवाद

भगवान् कृष्ण प्रज्ञावादी दर्शन के अनुयायी थे। ऊपर उन्होने स्वभाववादी दार्शनिको की उक्तियो का खण्डन किया है। इन्ही से मिलता-जुलता दर्शन यदृच्छावाद था। उसके अनुयायी मानते थे कि विश्व का न कोई रचनेवाला है, न इसका कोई आदि है, न अन्त है, अर्थात् यह जन्म और मृत्यु के किसी नियम से नियन्त्रित नही है। यह तो अपने आप हो पडा है, न इसके आदि का ठिकाना है, न अन्त का। जो बीच मे देख रहे हो वही सब कुछ है। इस मत के उत्तर मे कृष्ण का कहना है कि यदि इस मत को मान लिया जाय तो भी शोक करना ठीक नही। आत्मवादी लोग इसी युक्ति का अपने पक्ष मे भी उपयोग करते थे। उनका कहना था कि आत्मा पहले भी अव्यक्त या अमूर्त था, और बाद मे भी वह इसी स्थिति को प्राप्त हो जायगा। केवल बीच मे ही शरीर के सयोग से वह मूर्त रूप मे दिखाई पड़ता है। तो फिर ऐसी स्थिति मे रोने धोने से क्या लाभ (२।२८)। वस्तुत आत्मा के सच्चे स्वरूप के विषय मे उस युग के तत्ववादियो के विभिन्न मतो का एक गडबडझाला-सा ही दीखता है। उसी का सकेत २।२९ श्लोक में है—कोई तो इस आत्मा के दर्शन को बडा अचरज मानते हैं, कोई दूसरे इसे बड़े अचरज भरे शब्दो मे इसका वर्णन करते है, और कोई जब इसे सुनते है तो बहुत अचरज में भर जाते है कि क्या ऐसा होना भी सभव है, अर्थात् सुननेवालो को आत्मा के उन गुणो मे विश्वास नही होता। वे नही मानते कि कोई ऐसी वस्तु भी सभव है जो आग, पानी और हवा से कटपिट न सके। इस आश्चर्य भरी शैली में आत्मा की चर्चा करनेवालो मे ऐसा कोई नही है जो इसे ठीक तरह जानता हो। यहाँ स्वभाववाद, नियतिवाद, भूतवाद आदि दर्शनो की आत्मा-सबधी मान्यता पर गीताकार ने उपहासात्मक शैली मे दृढ प्रहार किया है। इसके अनन्तर पुन वैदिक अध्यात्म-

वादी दृष्टि से कहा है कि शरीर में आया हुवा यह आत्मा (देही) नित्य है, कभी मर नही सकता। इसलिए कोई भी प्राणी शोक के योग्य नही है (२।३०)। उन पुराने दर्शनो मे एक मत या दिट्ठि कुल या जाति पर आश्रित थी। उसे योनिवाद कहते थे। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में उसका उल्लेख आया है—'काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि पुरुष इति चिन्त्यम्' (१।२)। शान्ति पर्व के मोक्ष धर्म पर्व में (अ० १७ पूना सस्करण) योनिवाद दर्शन के मतो का विस्तृत वर्णन है। ये लोग मानते थे कि मनुष्य के कर्म या जीवन का निर्णायक न भाग्य है, न पुरुषार्थ, वल्कि जिस कुल, जाति या योनि में उसका जन्म हुवा है वही सब कुछ है। योनि से ही स्वधर्म या कर्तव्य का निर्णय हो जाता है। शृगाल को क्या करना है और मनुष्य को क्या करना है, यह तो उनकी योनि से ही निश्चित हो गया। उसे न भाग्य वदल सकता है, न कर्म। इस मत के मानने वाले विशेषत कुलीन व्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य राजा आदि थे। इनका कहना था कि अपने अपने चोले मे सव सुखी रहते है, कोई इसे छोडना नही चाहता। उसी से अधिकारो का निर्णय होता है। इस दृष्टि से कृष्ण ने कहा—अर्जुन? तुम क्षत्रिय की योनि में जन्मे हो इसी से तुम्हारे स्वधर्म का निर्णय हो गया। उस धर्म का पालन करो, उससे घवडाओ मत। क्षत्रिय को धर्मप्राप्त युद्ध से वढकर और क्या चाहिए (२।३१) ? यदृच्छा या भाग्य से तुम्हारे लिए स्वर्ग का द्वार खुल गया है, ऐसा युद्ध तो किसी भाग्यशाली क्षत्रिय को ही मिलता है (२।३२)। कही इस धर्मयुद्ध के अवसर से चूक गये तो स्ववर्म भी जायगा और पाप भी लगेगा। जन्म जन्म के लिए लोग तुम्हें धिक्कारेंगे। युद्ध मे मृत्यु से भागोगे तो निन्दारूपी मृत्यु तुम्हें न छोडेगी। जो आवरू वाला है उसके लिए निन्दा मृत्यु से भी भारी है। महायोद्धा तो यही समझेगे कि तुम भगोडे हो। अवतक जो तुम्हे मानते रहे वे ही हँसेंगे। तुम्हारे वैरी तुम्हारे लिए क्या-क्या कुवाच्य न कहेगे ? वे कहेंगे—'अरे वह यही अर्जुन है जो वृहन्नला वना था। यह युद्ध क्या जाने ? इससे वढ़कर तुम्हे दु ख क्या होगा ? तुम्हारे जैसे शूर क्षत्रिय दो ही वात मानते हैं, मर

गए तो स्वर्ग का राज्य भोगेंगे और जीत गए तो पृथ्वी का। इसलिए उठो और लड़ने के लिए कमर कसो (२।३३-३७)।

इनके वाद कृष्ण ने अगले श्लोक मे नियतिवादियो के पाँच सिद्धान्तो मे से समता सिद्धान्त का उपयोग करते हुये युद्ध के पक्ष मे एक युक्ति दी—सुख-दुःख, हानि लाभ, जीत-हार इनको एकसा समझकर युद्ध करो। ऊपर के दृष्टिकोणो को यहाँ साख्यो की वुद्धि या दृष्टि कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि ये सव दृष्टियाँ प्रकृतिवादी दार्शनिको की थी। पहले पुरुषवाद या आत्मवाद की दृष्टि से विचार किया, फिर केवल शरीर की दृष्टि से। अव इन दोनो के समन्वय की दृष्टि से विचार करते है। वही कर्म योग की दृष्टि है। कर्मयोगी ससार के कर्म और आत्मा के धर्म दोनो को साथ लेकर चलता है। उसके लिए ज्ञान और व्यवहार मे विरोध नही होता। वह आत्मा के ज्ञान को प्रत्यक्ष व्यवहार में उँडेलकर जीवन के भीतरी और वाहरी दोनो रूपो को प्रकाश से भर देता है। कर्मयोग की वडाई यह है कि इस मार्ग में कर्म के पूरा हो जाने या अधूरा रह जाने का झझट नही है। जितना कर लिया जाय वह अपने मे पूर्ण है, क्योकि कर्मयोगी की दृष्टि कर्म पर रहती है, कर्म फल पर नही। अत एव कर्मयोग मे सदा ईश्वर की सत्ता के वल का अनुभव होता है, अभाव विघ्न और निराशा का अनुभव नही होता। कर्मयोगी के सामने केवल एक दृष्टि रहती है, वह सुनिश्चित कर्म की है। जो कर्म फल को देखते है, उनकी वुद्धियाँ वँट जाती है।

मीमासको का कर्मवाद

यहाँ गीताकार ने उन कामनाओ का वर्णन किया है जिनके कारण लोगो मे भाँति-भाँति के कर्म फलो के लिए कर्म करने की इच्छा होती है। यह दृष्टिकोण विशेषत उस युग के यज्ञवादी मीमासको का था। पुत्रकाम्या इष्टि से सन्तान होगी, मित्रविन्दा इष्टि से मित्र सुख मिलेगा, कारीरी इष्टि से अच्छी वृष्टि होगी। इस प्रकार के छोटे-वडे सैकडो यज्ञ और उनके उतने ही फलो के भुलावे का एक जाल ही लोक मे फैल गया था। वडे यज्ञो की कौन कहे छुटभइये देवताओ की पूजा की भी भरमार

हो गई थी। इसे ही यहाँ वेदवाद अर्थात् यज्ञवाद की फूली हुई वाणी कहा है। भोग और ऐश्वर्य, धन और पद यही इस दृष्टि के पल्ले रह गया था। स्वर्ग और नरक के वहुत से पचडे उठ खडे हुए थे। ऐसा कहनेवाले मानने लगे थे कि इस थोथे कर्म काण्ड के सिवा और कुछ है ही नही (नान्य दस्तीतिवादिन २।४२)। जहाँ इस तरह का मत चल जाय वहाँ मन की शान्ति और एकाग्रता नही हो सकती। कृष्ण का कटाक्ष इस तरह कर्म काण्ड से भरे हुए (क्रिया विशेप वहुल) वेदवाद पर है।

वेद का ब्रह्मवाद

वस्तुत वेद का सिद्धान्त तो ब्रह्मवाद है। 'ब्रह्म तद्वनम् ब्रह्म उ वृक्ष आस यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षु ॥ ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्' इत्यादि अनेक स्थानो में प्रतिपादित महान् ब्रह्म सिद्धान्त ही वेदो का मूल अभिप्राय था। उसकी तो यहाँ भरपूर प्रशसा ही की गई है। ब्रह्म-विज्ञानी व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है कि उसके चारो ओर ब्रह्मानन्द का समुद्र उमड रहा है। जव इस प्रकार का विज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है तव मनुष्य को स्थूल शव्दो मे रुचि नही रहती, उसका मन अनत अर्थ के साथ जुड जाता है। अर्थ अमृत है, शव्द मर्त्य है। इसलिए ब्रह्म विज्ञान प्राप्त कर लेने पर मन शव्दो की सीमा से वहुत ऊपर उठ जाता है। जिस समय चारों ओर से जल की वहिया आयी हो उस समय कुवे के सीमित जल की आवश्यकता नही रहती। ऐसी ही स्थिति उपनिपदो और वेदो में प्रतिपादित परम पुरुष के साक्षात्कार के समय हो जाती है। यही गीताकार का आशय है। सव वेदो से जानने योग्य जो ब्रह्म तत्व है वह प्रकृति से पृथक् अध्यात्म पुरुष है। सत्त्व रज तम इन तीन गुणो तक प्रकृति की सीमा है और इन्ही गुणो तक वैदिक कर्म-काण्ड का फल है। ब्रह्म-विज्ञान या अध्यात्म ज्ञान उससे ऊपर है। इसकी प्रशसा तो गीता में अनेक प्रकार से की गई है। वस्तुत गीता को ब्रह्मविद्या कहा गया है और तत्त्वत वेदविद्या ब्रह्मविद्या ही है। यज्ञीय कर्मकाण्ड तक जो वेदो को इतिश्री कहते है वे वेदार्थ को नही जानते। उपनिषदो में वेदों का यही अर्थ साक्षात् भरा हुआ है। उपनिषद् रूपी गायो का अमृतरूपी

दूध ही गीता का ज्ञान है। केवल ज्ञान अमृत है और केवल कर्म पानी है। पानी और अमृत के मिलने से दूध वनता है। वही मानव का पोषक आहार वन सकता है। ज्ञान और कर्म दोनो का समन्वय ही गीता का कर्मयोग है। जव भगवान् उस कर्मयोग की व्याख्या का आरभ करने लगे तो यह आवश्यक हुआ कि कर्मकाण्ड की उलझनो से भरे हुए कर्मवाद का खण्डन किया जाय और कर्म के विषय में प्रज्ञावादी मानव की जो स्वच्छ दृष्टि होनी चाहिए उसकी व्याख्या की जाय। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि, जिजीविषेच्छत समा' इस मन्त्र का यह उद्देश्य नही कि कर्मकाण्ड की जटिलता मे पडे हुए जीवन के सौ वर्ष विताओ, वल्कि इसका आशय यह था कि आत्मा के दिव्य गुणो की और शरीर के गुणो की जितनी सभावनाएँ है उन्हे कर्मो के द्वारा प्राप्त करते हुए दीर्घ आयुष्य का भोग करे।

कर्मयोग शास्त्र

इसके अनन्तर भगवान् उस कर्मयोग शास्त्र की व्याख्या करने लगते है जिसे प्रज्ञावादी दार्शनिको ने वेद और जीवन दोनो के तत्वो का निचोड लेकर सर्वथा नई दृष्टि से प्रतिपादित किया था।

कर्मयोग शास्त्र का निचोड गीता के एक श्लोक मे आ गया है—(कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्माते सगोऽस्त्वकर्मणि २।४७)। कर्म पर ही तुम्हारा अधिकार है कर्मफल पर नही। अत एव तुम कर्म के हेतु वन सकते हो, कर्मफल के हेतु नही वन सकते। तुम्हारी शक्ति की सीमा जिस कर्म तक है उसे कभी छोड कर बैठ रहने का भाव मन मे मत लावो। ऐसा करने से कर्म और कर्मफल दोनो तुम्हारे हाथ से निकल जायेगे।

कृष्ण के ये वाक्य कर्मयोग-शास्त्र के मूल सूत्र है। इन्ही की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। और कितनी ही अन्य युक्तियो से इसी तत्व का समर्थन किया गया है। कर्मयोग का मार्ग शरीर यन्त्र से केवल वाहरी कर्म करना नही है। सच्चे कर्मयोग के लिए मन और वुद्धि का सस्कार आवश्यक है। इसके लिए कृष्ण ने योग की दो परिभाषाए वताई—"समत्व योग उच्यते" (२।४८) "योग कर्मसु-कौशलम्" (२।५०)। सच

कहा जाय तो कर्म की अपेक्षा बुद्धि का सुधार अधिक महत्त्वपूर्ण है। कर्म में तो सभी लिपटे हुए हैं, किन्तु कर्मयोगवाली बुद्धि के प्राप्त करने से ही कर्म का बधन नही लगता। सिद्धि और असिद्धि, दोनो में एक समान रहने की जो मानसिक साधना है उसी का नाम समत्वयोग है। यह बुद्धियोग या अनासक्तियोग बहुत ऊँची स्थिति है। इसकी तुलना मे केवल कर्म बहुत नीचे की वस्तु है। अनासक्त भाव से जो कर्म करना सीख लेता है वह इस पचडे मे नही पडता कि क्या करें, क्या न करे। उसके लिए तो प्राप्त कर्तव्य को अच्छी तरह करना यही कर्मयोग का स्वरूप है। बुद्धि में समत्व भाव और कर्म करने की कुशल युक्ति ये दोनों कर्मयोग शास्त्र की दो आँखें है। जो चतुर हैं वे कर्मफल से अपना मन हटाये रहते हैं। और इसी कारण कर्म करते हुवे भी कर्मों मे लिप्त न होकर मोक्ष के अधिकारी बनते है। ज्ञात होता है कि उस युग के शास्त्रो में साख्यो के ज्ञानमार्ग का और कर्म-सन्यास का एव मीमासको तथा इतर शास्त्रो के कर्ममार्ग का बहुत ऊहा-पोह किया गया था। उसे यहाँ मोह का दलदल कहा है। उन श्रुतियो के दोहरे तर्कों से यह निर्णय करना कठिन था कि कौन-सा मार्ग ठीक है। कृष्ण के ही वाक्यो से ऐसा जान पडता है कि साख्य के निवृत्तिमार्ग की शान्त और समत्व स्थिति और कर्मवादियो के पुरुषार्थ इन दोनो को लेकर वे एक नया सिद्धान्त सिखाना चाहते हैं।

बुद्धियोग और कर्मयोग का मेल

अर्जुन को यह सन्देह हुआ कि बुद्धियोग और कर्मयोग इन दोनो का मेल कैसे सभव है। जो समत्व भाव में मन को डालेगा वह कर्म कैसे कर सकता है? यही उसका अगला प्रश्न है—समाधि या मन की एकाग्रता का जो अनुसरण करता है, जो सिद्धि-असिद्धि में समत्व रखता है, ऐसे स्थितप्रज्ञ व्यक्ति की कर्म क्षेत्र मे उतरने पर क्या दशा होगी। उसके सभाषण और रहन-सहन की कैसे पहचान की जायगी (२।५४)?

इस प्रश्न के उत्तर मे कृष्ण ने स्थिर बुद्धि की व्याख्या प्राय निवृत्ति-मार्गी साख्यवादियो के शब्दो मे ही की है। जो नैतिक और विराग साधना

उस मार्ग मे आवश्यक है। उससे कम मन की समाधि और सस्कार से कर्मयोगी का काम नही चल सकता। उसे भी दु ख और सुख के प्रभाव से अपने मन को बचाना होगा। उसे भी राग द्वेष, भय और क्रोध छोडना होगा। उसे भी शुभ और अशुभ दोनो के आ जाने पर मन को एकसा रखना होगा। जैसे ज्ञानी विषयो से इन्द्रियो को सिकोडकर अपने वश मे रखता है, ऐसा ही कर्मयोगियो के लिए भी आवश्यक है। यदि मनुष्य हठात् उपवास आदि करे तो कुछ समय के लिए विषय छूट सकते है, पर मन से विषयो की लालसा तभी जायगी जब अन्त करण मे आत्मा का प्रकाश भर जाय।

अभिध्या का सिद्धान्त

ज्ञात होता है कि प्रज्ञावादी दर्शन में साख्य के समत्व योग का तो सर्वाश मे ग्रहण किया ही गया था, उसके साथ कर्मयोगियो ने इन्द्रिय और विषयो को वश मे रखने के सिद्धान्त की भी अपने ढग से व्याख्या की, अर्थात् विपयो का युक्त आहार विहार से भोग बुरा नही, वह तो आवश्यक है, किन्तु विपयो का ध्यान या मन से उनकी लालसा करते रहना बुरा है। विषयो मे डूबा हुवा वैसा मन इन्द्रियो को भी मर्यादा से बाहर खीच ले जाता है, जैसे हवा का झोका डोगी को पानी मे डुबो देता है। 'सनत्सुजातीय पर्व' म इसे अभिध्या का सिद्धान्त कहा गया है।

"ध्यायतो विपयान्पुस सङ्गस्तेपूपजायते" आदि श्लोको मे उसी का वर्णन है। विपयो के रस पूर्वक ध्यान से उनमे आसक्ति हो जाती है। उससे मोह या विवेक की हानि होती है। उससे अपने स्वरूप और अपने कर्तव्य दोनो का ध्यान नही रह जाता। यही स्मृति का लोप है। उससे सब प्रकार की उच्च आध्यात्मिक बुद्धि अन्धकार मे ढक जाती है और उसीसे व्यक्ति सर्वनाश की दशा मे पहुँच जाता है। इस कठोर स्थिति से बचने का एक ही उपाय है कि इन्द्रियो को आत्मा के वश मे रखकर विपयो का सेवन किया जाय।

कृष्ण के मत मे विपयो को छोड़ना इष्ट नही। उनके राग से ऊपर उठ जाना बुद्धि के प्रसाद का कारण है। 'आत्मवश्यता' यही कर्मयोगियो

का सूत्र था। सुख और शान्ति सभी दर्शनवाले चाहते हैं किन्तु इन्द्रिय और विषय इनके पारस्परिक संबंध को मर्यादित किये बिना न शान्ति मिल सकती है न सुख। अतएव जो भी दर्शन पहले हुए हो या आगे होनेवाले हो उन सबका एक ही सार समझ में आता है, अर्थात् विषयो के साथ इन्द्रिय सयम की स्थिति। स्थिर प्रज्ञा की कसौटी इन्द्रियों को वश में रखना ही है। यह परिभाषा सब देश और सब काल मे मानवमात्र के लिए सत्य है। इन्द्रियसयम को मानवीय प्रज्ञा का घनीभूत सूत्र ही कहना चाहिए।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वश ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ (२।६८)

प्रज्ञा का अर्थ

साख्य दर्शन में बुद्धि शब्द पारिभाषिक अर्थ मे प्रचलित था। उसी के पर्याय प्रज्ञा शब्द का प्रज्ञा-दर्शन मे नवीन व्यापक अर्थ मान्य हुआ। बुद्धि शब्द को भी अर्थो का नया चोला पहनाया गया। विदुरनीति की व्याख्या में कहा जा चुका है कि जीवन के प्रति सतुलित समझदारी का दृष्टिकोण ही प्रज्ञा है। विदुर प्रज्ञावादी थे। कृष्ण प्रज्ञावादी दर्शन के महान् उपदेष्टा है। उनका सारा जीवन ही प्रज्ञावादी आचार का उदाहरण है। गीता उस दृष्टिकोण का महान् शास्त्र है। प्रज्ञा को ही पाली मे पञ्ञाया और देश्य प्राकृत मे 'पण्णा' या पण्डा कहते थे। प्रज्ञावादी को ही लोक मे पण्डित यह नया शब्द चल गया। महाभारत के प्रज्ञावादी विदुर को जातको में विदुर पण्डित कहा गया है। प्रतिष्ठितप्रज्ञ, स्थिरबुद्धि, स्थितधी, स्थित-प्रज्ञ ये सब शब्द एक ही अर्थ की ओर सकेत करते हैं। गीताकार ने इन सब पर अपनी स्वीकृति की छाप लगाते हुए इन्हे वैदिक ब्रह्मभाव या ब्राह्मी स्थिति के साथ जोड दिया है। वसिष्ठ आदि ऋषि और मनु आदि राजर्षियो की परम्परा के साथ गीताकार ने प्रज्ञावादी कर्मयोग की परपरा को जोडते हुए विलक्षण समन्वय को प्रदर्शित किया है।

प्राचीन वैदिक युग में एक दर्शन अहोरात्रवाद था जिसमे ज्योति और तम या दिन और रात के प्रतीक से सृष्टि की व्याख्या की जाती थी।

इसे ही कालवाद भी कहते थे। उसी शब्दावली का आश्रय लेते हुए यहाँ सयमी और असंयमी की व्याख्या की गई है। इसके अनुसार अध्यात्म तत्त्व दिन है और भौतिक जगत् के विषय-भोग रात्रि है। प्राय. प्राणी अपने स्वभाव के अनुसार अध्यात्म जगत् मे सोते रहते है, वह उनकी रात है, पर सयमी वहाँ जागता है। विषयो के जगत् में असयमी बडे चौकस रहते है। संयमी उसकी उपेक्षा करता है। निर्मम, निरहकार आदि चित्त-वृत्तियों को अपनाकर इन्द्रियसयम के द्वारा जिस बुद्धियोग या प्रज्ञा को ज्ञानवादी प्राप्त करते है, वही कर्मयोग का भी लक्ष्य है। ब्राह्मी स्थिति या ब्रह्म-निर्वाण की प्राप्ति मे दोनो एकमत है। इसके लिए एक दृष्टि इस अध्याय मे रक्खी गई है। अब उसकी अधिक व्याख्या तीसरे अध्याय मे आती है।

हम देख चुके हैं कि दूसरे अध्याय में जिसका नाम ही साख्य-योग है गीताकार ने साख्य मार्ग के बुद्धियोग की अनेक युक्तियो को खुले जी से अपनाया है, किन्तु कर्मों को छोड देने मे उन्हें अभिरुचि नही है, वरन् उनका जो निजी दृष्टिकोण था जिसे हमने लगभग उन्ही के शब्दो मे प्रज्ञादर्शन कहा है, उसके साथ या उसके घाट पर साख्य के बुद्धि योग की उक्तियो के दोषो का ऐसी बारीकी से मेल कराया गया है कि श्रोता का मन आश्वस्त हो जाता है। जीवन मे मन या बुद्धि की तैयारी के लिये जो साख्यवादी कहते है वही माँग तो प्रज्ञावाद की भी है। इतनी बात भूमिका के रूप में स्पष्ट कर लेने के बाद अब अगले अध्याय मे गीताकार को खुलकर वताना चाहिए था कि कर्मयोग का अपना स्वरूप क्या है। वस्तुत. तीसरे अध्याय का यही विषय है, और इसी के अनुसार उसका नाम है 'कर्मयोग अध्याय'।

तीसरा अध्याय कर्मयोग

अर्जुन का खरा प्रश्न

इस अध्याय के पहले दो श्लोक बहुत चुभते हुए है, उनमें अर्जुन ने आलोचक के रूप में पहली ही वार कृष्ण से खरी-खरी बात की है—

अगर बुद्धि का मार्ग वढकर है तो स्पष्ट कहिए मै उसे ही स्वीकार करूँ। फिर क्यो मुझे घोर कर्म के पचडे में डालते है ? आप की बात में कुछ ऐसा आधा तीतर आधा बटेर है कि मेरी साफ समझ में नही आता कि आप का अभिप्राय क्या है। जो निश्चित एक मत हो वही वताइए (३।१।२)। अर्जुन जानता था कि कृष्ण प्रज्ञावादी है, और प्रज्ञावाद को कर्मवाद मान्य था। फिर कृष्ण ने साख्य के बुद्धियोग इतना भारी लडा प्रज्ञा दर्शन के सिर पर क्यो रख दिया इससे अर्जुन का क्षोभ स्वाभाविक था। दूसरी ओर कृष्ण का पैंतरा भी निपुणता से भरा हुआ है। पहले अध्याय में अर्जुन का मन विषाद की जिस अवस्था में पहुँच गया था वही तो कर्म छोड देनेवाले साख्य-मार्गियो की दृष्टि थी। एक प्रकार से अर्जुन पूरी तरह अनजान में ही उसी मार्ग का पक्का शिष्य बन गया था। पर ऊपर से उसने कृष्ण से यह भी कहा कि मै आपका शिष्य हूं, मुझे उपदेश दीजिए। अतएव चतुर गुरु के रूप में कृष्ण ने वारीक मनोविज्ञान से काम लिया। उन्होने वे सव बातें कह डाली जो अर्जुन के मन में पहले से भर गई थी, अर्थात् बुद्धियोगवालो की सारी युक्तियो को गिना डाला और उनके जीवनदर्शन का पूरा चित्र ऐसे रोचनात्मक ढग से खीचा कि स्वय अर्जुन को भी पूछना पडा कि 'क्या सचमुच आप का भी यही अभिप्राय है।' लोकभाषा में कह सकते हैं कि कृष्ण ने उसका तो काम चलाया पर माल अपना ही वेचा। अर्थात् साख्ययोग की बात करते हुए प्रज्ञादर्शन के रूप में कर्मयोग की भूमिका खडी कर दी।

साख्य और योग की दो निष्ठाए

जव अर्जुन ने अपने प्रश्नो से कृष्ण को गाढे में उतार दिया तो यह अनिवार्य हो गया कि स्पष्ट बात कही जाय। फिर भी उन्होने सच्ची भागवती दृष्टि से साख्य का निराकरण नही किया, और कहा मैंने ही तो पुराने समय से लोक में दो निष्ठा चलाई है। साख्यो का बुद्धियोग और कर्मयोगियो का कर्मयोग दोनो का उपदेष्टा मैं ही हूँ। प्राचीन धार्मिक

मान्यता के अनुसार साख्य के आचार्य कपिल और कर्मयोग के आचार्य हिरण्यगर्भ दोनो ही भगवान् के अवतार हैं। जहाँ से ज्ञान की धारा वही है वही तो कर्म के धारा का भी स्रोत है। निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनो का ही मूल वेद है। ऐसा मनु ने भी कहा है। अवश्य ही देवमार्ग और यतिमार्ग दोनो का उल्लेख ऋगवेद मे है। वहाँ कहा है—"मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हित' (ऋग् वेद, १०।१३६।४)। देवमाता अदिति के सात पुत्र सात आदित्य देवता हैं और सात ही वातरशना मुनि हैं। दोनो में सख्य है किन्तु देवता मुनिवृत्ति स्वीकार न करके मुनियो को ही सौकृत्य अर्थात् प्राणात्मक कर्म या प्रवृत्ति के लिए सखा बनाते हैं। यही वैदिक कर्मयोग की दृष्टि थी। जिसके लिए भगवान् ने आगे कहा है कि इस अव्यय योग को मैंने 'विवस्वान्' से कहा था, और विवस्वान् ने उसे मनु को सिखाया। मनु से यह परपरा राजर्षियो को मिली। इस प्रकार भगवान् का यह कहना सत्य है कि ब्रह्मवादी ज्ञानमार्ग और कर्मवाद दोनो की धारा एक ही मूल से निकलकर लोक मे फैली। इसी बात को महाभारत ने यो कहा है कि ब्रह्मा ने सृष्टि की इच्छा से सनकादि सात मुनियो को वनाया, पर वे निवृत्तिमार्गी हो गए। फिर उन्होने दूसरे सात ऋषि बनाए। जिनसे प्रजाओ का कर्म चला। यही बात पुराणो ने कुछ दूसरे ढग से कही है, अर्थात् दक्ष प्रजापति ने पाचजनी नामक अपनी स्त्री में सहस्र पुत्र उत्पन्न किये। पर वे नारद के उपदेश से दिशाओ मे चले गये, लौटे नही। तब वीरणी नामक स्त्री से उन्होने साठ कन्याये उत्पन्न की जिनसे मैथुनी सृष्टि हुई और प्रवृत्ति मार्ग का क्रम चला।

निवृत्ति और प्रवृत्ति का मूल एक होते हुए भी वैदिक दृष्टिकोण प्रवृत्ति-मूलक ही रहा। निवृत्ति से श्रमणमार्ग विकसित होता गया और प्रवृत्ति से यज्ञ मार्ग। कृष्ण ने यज्ञमार्ग की त्रुटियो की भी कडी आलोचना की। भोग, ऐश्वर्य, स्वर्ग आदि अनेक कामनाओ के प्रलोभन से होनेवाला कर्म-काण्ड सचमुच वेद के तत्त्वज्ञान का अपलाप था। उसके स्थान पर गीता मे दो वातें हैं, एक तो यज्ञ की बहुत ही व्यापक और उदार नई व्याख्या और दूसरे

कर्म शब्द की नई व्याख्या। जब यजुर्वेद के पहले मन्त्र के अनुसार यज्ञ ही श्रेष्ठकर कर्म माना जाता था तो उस यज्ञ में पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सभी उत्तम कर्म सम्मिलित थे। कालान्तर में यज्ञ का यह प्रतीकात्मक आधार धुँधला पड गया। उसी की पुन प्रतिष्ठा गीता में जिस नये ढग से की गई है, वही गीताशास्त्र की अपूर्वता है। समस्त जीवन ही कर्ममय है और फल-त्याग की बुद्धि ही कर्म का यज्ञात्मक रूप है। यही गीता के अमृत दूध का मथा हुआ मक्खन है। इस श्रेष्ठ ज्ञान की स्थापना के लिए भगवान् ने जिन युक्तियो का आश्रय लिया वे तीसरे अध्याय में क्रमश आई हैं।

कर्म के पक्ष मे युक्तिया

पहली बात तो यह है कि जो कर्म न करने की बात कहे उससे पूछना चाहिए कि क्या कर्म से मुंह मोड कर पल भरके लिए भी कोई तुम जीवित रह सकते हो। इसका उत्तर एकदम स्पष्ट और सुनिश्चित है (नहि कश्चि-त्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ३।५)। कर्म छोड बैठने से ही कोई निष्कर्म नही बन जाता और सन्यास ले लेने से ही सिद्धि मिल जाती हो ऐसा भी हम नही देखते। दूसरे हरेक से बलपूर्वक कर्म करानेवाला तो प्रकृति का पहिया है। वह तीन गुणो की शक्ति से घूम रहा है। ऐसा कोई नही जो जन्म लेकर उस पहिए पर न चढा हो। यदि कोई यह समझता है कि मैंने उस पहिए को जीत लिया तो वह ढोगी है। यह क्या बात हुई कि ऊपर से तो कर्मेन्द्रियो पर कनटोप चढा दिया, पर मन से विषयो को टटोलते रहे। इसके लिए स्वय अपनी जाँच करने से सचाई खुल जाती है। भला मानुष वह है जो और चाहे कुछ करे या न करे पाखड न करे, जो जैसा है वह अपने को वैसा ही प्रकट करे। मिथ्याचार जीवन का घोर शत्रु है। उससे मनुष्य का सारा व्यक्तित्व थुवा बन जाता है। समस्या इन्द्रियो की बाहरी रोकथाम की नही, समस्या तो मन के सुधार की है। इन्द्रियो को मन से रोको और चाहे जितना कर्म करते रहो, तभी सच्चा असक्त बना जा सकेगा यही कर्म-योग की विशेषता है।

गीताकार की कर्म के पक्ष मे तीसरी युक्ति नितान्त भौतिक और स्थूल है—"शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मण" (३।८)। प्रतिदिन का रहन-सहन और जीविका भी कर्म के बिना नही चल सकती। इससे अधिक दृढ उक्ति कर्म के पक्ष मे आज भी देना सभव नही है। या तो मनुष्य स्वय कर्म करे, या दूसरे के पसीने की कमाई से जीवित रहे। इन दोनो मार्गों मे कोई समझौता है ही नही।

जब कर्म के बिना कोई साँस भी नही ले सकता तो दसो दिशाओ में चलने के लिए केवल कर्म का ही मार्ग रह जाता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ऐसे कर्म मे तो लोग रात दिन लगे है। फिर नई बात आप क्या चाहते है? इसके उत्तर में कहा गया है कि केवल कर्म करना पर्याप्त नही, यद्यपि कुछ न करने से उतना भी अच्छा है, पर सच्चा कर्म वह है जो यज्ञ की भावना से किया जाय। उसके अनुसार सारा जीवन ही यज्ञ बन जाता है। यज्ञ वह है जिसमें कुछ त्याग किया जाय, कर्मरूपी यज्ञ में कर्म के फल का त्याग ही उसे पूर्ण करता है। कर्म को छोड बैठने से तो उस यज्ञ का स्वरूप ही बिगड जाता है। यज्ञार्थ कर्म कहे या निष्काम कर्म, एक ही बात है। कर्मफल के त्याग से ही कर्म का यज्ञीय रूप बनता है, फिर ऐसा भी नही कहा गया कि जब कर्म का फल मिलने लगेगा तो उसे न लेने का ही आग्रह बना रहेगा। सच तो यह है कि फल की आसक्ति का त्याग ही इस सारी युक्ति का सार है। अतएव उत्तम कर्म वह होगा जिसमे फल की सिद्धि और असिद्धि का प्रश्न समभाव मे रक्खा जाय। और दूसरी ओर कर्म करने का जितना कौशल है, उसकी पूरी चतुरता से काम किया जाय। यह भारी बात है और इसका अर्थ यह है कि मनुष्य मे मन प्राण, और शरीर की जितनी शक्ति है उसकी भरपूर मात्रा कर्म मे उँडेल देनी चाहिए। इस युक्ति से बढकर कर्म की और युक्ति समझ मे नही आती। यही कर्मयोग शास्त्र की भित्ति है। यज्ञार्थ कर्म करो या मुक्तसग होकर कर्म करो, यही इसका सार है।

यज्ञ और गीता में उसका नया उच्च अर्थ

यज्ञ कोई साधारण वस्तु नही। वह तो प्रजाओं के जीवन मे पिरोया हुआ सूत्र है। क्या कोई यज्ञ से भाग सकता है? विश्वनिर्माता ने यज्ञ ही प्रजाओं को बनाया है, अतएव प्रत्येक जीवन यज्ञ का ही रूप है। प्रजापति ने स्वय अपनी आहुति डाली तो यह विश्वरूपी सर्वहुत यज्ञ चला और चल रहा है। मनुष्य भी जिस काम में अपनी सर्वाहुति नही देता वह काम यज्ञ का रूप नही ग्रहण कर पाता। यज्ञ की यह विराट व्याख्या ठेठ वैदिक थी। वहाँ सैकडो प्रकार से विश्व की रचना को जिसमें मानव का जन्म भी शामिल है यज्ञ कहा गया है। वह विश्वकर्मा प्रजापति समस्त भुवनो की आहुति इस यज्ञ मे डाल रहा है और इसके ऋषि होता और पिता के रूप में इसे अपना आशीर्वाद दे रहा है। वह इससे अपने लिये कुछ नही चाहता केवल यज्ञ की पूर्ति चाहता है। कर्मयोग शास्त्र की ऐसी उदात्त व्याख्या गीता से पूर्व किसी अन्य शास्त्र में देखने-सुनने मे नही आती। वेदो में इस विश्व यज्ञ को प्रजापति का 'कामप्र' यज्ञ कहा गया है। अर्थात् जो ईश्वर की इच्छा है वही इस विश्वयज्ञ मे मिली हुई है। दोनो एक दूसरे से अलग नही हैं। यज्ञ से अतिरिक्त और किसी वस्तु के लिए और किसी फल के लिए इच्छा व्याप्त नही होती। यज्ञ स्वय अपने में पूर्ण है। ऐसे ही यज्ञात्मक कर्म भी। 'एप व अस्तु इष्टकामधुक्' इन शब्दो का सकेत भी इसी ओर है। विश्व की शक्तियो के साथ जिन्हें देव कहा गया है अपने आप को जोडना यज्ञ की व्याख्या वेद और गीता दोनो को मान्य है। यज्ञ तो जीवन की चक्रात्मक प्रवृत्ति है। इसके द्वारा व्यष्टि और समष्टि दोनो का समन्वय किया जाता है। जो व्यक्ति केवल अपने लिए खाता-कमाता है उसे स्पष्ट शब्दो में चोर कहा गया है, क्योकि उस मनुष्य का जीवन यज्ञात्मक नही है। समाज और विश्व के एक अग के रूप में जीवित रहना यज्ञ है।

प्रश्न यह है कि कर्मयोग शास्त्र की मीमासा की भूमिका के रूप में भगवान् ने यज्ञ की यह नई व्याख्या क्यो आवश्यक समझी। इसका उत्तर

यह है उस युग मे यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म माना जाता था। कर्म और यज्ञ दोनो एक दूसरे के पर्याय हो गये थे "यज्ञ कर्मसमुद्भव." (३।१४) यह परिभापा गीता ने स्वय दी है। कर्मयोग का सच्चा अर्थ वताने के लिए यह आवश्यक था कि स्वर्गादि की अनेक कामनाओ से यज्ञ करने के पक्षपाती एवं कर्मफल को ही सव कुछ माननेवाले दृष्टिकोण से लोगो को मुक्त किया जाय। इसे ही पहले कुछ उपहासात्मक शव्दो में वेदवाद कहा जा चुका है। कृष्ण ने यज्ञ की जो नई व्याख्या यहाँ दी है, उससे तो समस्त जीवन ही प्रजापति के यज्ञ से उत्पन्न हुआ है। हम सब उस यज्ञ के अग है। जैसे कर्म आवश्यक है वैसे यज्ञ भी। आगे और भी स्पष्ट शव्दो मे कहेगे कि व्रह्मा के विश्वरूपी विराट मुख मे अनेक प्रकार के यज्ञ भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे भरे हुए हैं। उनमे भी द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ज्ञान यज्ञ से तात्पर्य पोथीपत्रा वाँच लेना नही, किन्तु उस समत्ववुद्धि की उपलव्धि है जो सच्चे कर्मयोग की आत्मा है। इसके अनन्तर वाह्य कर्मप्रवृत्ति और आत्मज्ञान विपयक प्रवृत्ति का समन्वय वताते हुए कहा गया है कि यदि आत्मा के लक्ष्य से जीवन मे प्रवृत्त हुआ जाय तभी कर्म और अकर्म दोनो मे समत्व-वुद्धि की प्राप्ति सभव है। मुक्तसग होकर किया हुआ कर्म कर्म न करने के ही तुल्य होता है। कर्म फलो की लालसा का परित्याग करने के लिए आत्मतृप्त होना आवश्यक है। एक प्रकार से आत्माराम और आत्मतृप्ति वाली युक्ति का स्वारस्य कर्मयोग के समर्थन मे ही है।

आत्मज्ञान और कर्म दोनो की साधना

आत्मा और कर्म दोनो को कैसे साधा जाय, इसका दृप्टान्त राजपि-जनक के जीवन से दिया गया है जो शरीर के सव व्यवहारो को साधते हुए भी पूर्ण वैराग्य मे मन को लीन रखते थे। ज्ञान और कर्म के मेल से जनक का जीवन वना था। व्राह्मण तो व्रह्मज्ञानी प्रसिद्ध ही थे किन्तु क्षत्रियो ने भी व्राह्मणो की परपरा को जिस प्रकार पूरी तरह आत्मसात् करके विकसित और लोकोपयोगी वनाया वह जनक आदि राजपियो के जीवन से प्रकट होता है। मनु, इक्ष्वाकु अम्वरीप, रघु, राम आदि चक्रवर्ती कर्मयोग के आदर्श

थे। उनके उदात्त चरित्र दृष्टान्त रूप से लोक में फैले हुये थे। इसी कोटि में उपनिषदो के अश्वपति कैकेय और प्रवहण जैवलि भी आते है। ब्रह्म-ज्ञानी याज्ञवल्क्य के मित्र और शिष्य विदेह जनक का चरित्र भी जैसा उप-निषदों में है कर्मयोग के उक्त आदेश की ओर ही सकेत करता है। मिथिला राजधानी जल जाय तो भी मैं अपनी हानि नही समझता, अथवा मेरा दाहिना अग जल जाय तो बाये अग मे व्यथा नही होती, इस प्रकार की दृढ चित्तवृत्ति ही बुद्धियोग है जिसे गीता में समत्वयोग कहा गया है। अतएव न केवल ज्ञान और कर्म के उत्तम आदर्शों की प्राप्ति के लिए कर्म आवश्यक है किन्तु लोकसगह की दृष्टि से भी कर्म ही एकमात्र मार्ग है। "लोक सग्रहमेवापि सपश्यन् कर्तुमर्हसि" (३।२०)। लोक की यह रीति है कि महाजन या वडे आदमी जैसा करते हे छोटे भी उसी मार्ग पर चलते हैं। इस दृष्टान्त को भगवान् स्वय अपने ही ऊपर डालकर बात को और ऊँचे धरातल पर उठा ले जाते हैं—हे अर्जुन, मैं ईश्वर हूँ, मुझे कुछ करना या पाना शेप नही है, फिर भी मैंने कर्म का मार्ग अपनाया है जिससे लोक की रीति न विगडने पावे (३।२२, २३, २४, ३।२५)। मूर्ख और पण्डित दोनो को ही कर्म करना है। एक कर्मफल के फासे में वंधा रहता है, दूसरा उससे मुक्त रहता है। जीवन की इस युक्ति को जब चाहे देखा जा सकता है। चतुर व्यक्ति को इतना और चाहिए कि जो कर्म में आसक्त भी है उन सामान्य व्यक्तियो को ज्ञान की ऊँची बाते बघारकर दुविधा में न डालें।

कर्मों में असगभाव की प्राप्ति के लिए अहकार का हटना आवश्यक है। यह तभी होगा जब मनुष्य यह समझे कि कर्ता मैं नही हूँ। सब कर्म प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले सत्त्व, रज, तम नामक तीन गुणो के फल हैं। प्रकृति अर्थात् जगत का यही स्वभाव है। मनुष्य योग दे तो भी जगत चलेगा, और योग न दे तो भी वह रुकेगा नही। ऐसा समझ लिया जाय तो अपने आप को कर्ता मानने का भ्रम हट जायगा। कर्म योग की इस आस्था को भगवान् ने अपना मत कहा है, अर्थात् यही वह कर्मयोग है जो गीता का

प्रतिपाद्य है। जो इस पर चलते हैं वे बुद्धिमान् व्यक्ति पूरा अध्यात्म फल पाते हैं। जो कर्म से भागते हैं उनसे भी गुणो का चाबुक कर्म करा ही लेगा। पर जीवन का जो उच्च निर्मल पक्ष है उससे वे वचित रह जायँगे। सब प्राणी स्वभाव के अनुसार वर्तते है, बल प्रयोग से कुछ लाभ नही "प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रह किं करिष्यति" (३।३३)। अध्यात्म, मनोविज्ञान और व्यवहार इन तीनो का यही सारभूत सूत्र है। इस मार्ग के दो नियम है, एक तो स्वभाव से ही इन्द्रियो की प्रवृत्ति विषयो की ओर है यह जानकर उन्हे ढीला नही छोड देना है बल्कि धीरे-धीरे उन्हे सयम के मार्ग पर लाना है। दूसरी बात लोक-सग्रह वाले के लिए कर्म और भी आवश्यक है, अर्थात् अपने स्वभाववश जिसको जो कर्म प्राप्त हुआ है वही उसका स्वधर्म है। उसी का पालन आवश्यक है। चलने के मार्ग अनेक हो सकते हैं पर चलना किसी एक से ही पडेगा। जो जिस पर चल रहा है वही उसका मार्ग है। एक को बुरा दूसरे को अच्छा समझ कर जो मार्ग बदलता रहता है वह गन्तव्य स्थान की ओर प्रगति नही कर सकता। जिसे कर्म करना है उसे अपने कर्म के प्रति ऐसी दृढ आस्था और पूज्य बुद्धि अपनानी होगी—श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मोभयावह (३।३५)।

कर्मो के दो भेद पाप और पुण्य

यहाँ जब अच्छे बुरे स्वभाव या कर्म का प्रश्न आया तो अर्जुन को सदेह हुआ कि कर्मो में पाप और पुण्य का कारण क्या है? कौन ऐसी शक्ति है जो मनुष्य को भलाई से बुराई की ओर खीच ले जाती है। इस प्रश्न का एकदम सीधा और स्पष्ट उत्तर कृष्ण ने दिया—हर एक के स्वभाव मे जो रजोगुण का अश है वह काम या क्रोध के रूप मे उभर आता है और पाप की ओर ले जाता है। यह शत्रु साथ लगा हुआ है। यह एक आग है जो सदा धधकती रहती है। दूसरे के कहने से इसका बोध उतना नही होता जितना स्वय सोचने से। ज्ञानी के ज्ञान को भी काम और क्रोध का धुआँ ढक लेता है। बुद्धिवादी साख्य और कर्मवादी योगी दोनों के लिए इस

शत्रु का भय एक जैसा है। दोनो के लिए मुख्य समस्या कर्म छोडने या न छोडने की नही है, किन्तु काम और क्रोध को जीतकर वश में करने की है। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच विषय, पाँच भूत, मन और वुद्धि इतना काम और क्रोध का क्षेत्र है। सर्वत्र इसकी शुद्धि का उपाय करना चाहिये। अतएव गीताकार की दृष्टि में इन्द्रिय-सयम उच्च जीवन की सीढी का पहला डडा है। उस पर पैर रक्खे विना कोई ऊपर नही चढ सकता।

इसी प्रसग मे शरीर के विभिन्न कोषो के तारतम्य की ओर ध्यान दिलाया गया है। कठोपनिपद् में भी यह प्रसग आता है। यदि हम वास्तविक दृष्टि से देखे तो सवसे स्थूल पाँचभूतो का वना हुआ शरीर है, उसे भूतात्मा कहते हैं। उसके ऊपर ज्ञान और कर्म की इन्द्रियाँ हैं। उसे प्राणात्मा कहते है। इन्द्रियो का नियामक मन है। यह इन्द्रियानुगामी मन प्रज्ञानात्मा कहा जाता है। यही मन जव आत्मकेन्द्रानुगामी और विषयो से विशुद्ध होता है तो उसे वुद्धि या विज्ञानात्मा कहते है। उससे भी ऊपर पुरुष या हृद्देश में रहनेवाला आत्मा है। वह सवके ऊपर है। सव उसके अनुशासन मे रहते हैं। आत्मा की ही प्रेरणा या शक्ति से सर्वप्रथम अपने को वश मे करना चाहिए। वैसा कर लेने पर वुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और विषय सव मे सयम का भाव व्याप्त हो जाता है (३।४२-४३)।

चौथा अध्याय—ज्ञान—कर्म सन्यास

कर्म योग की पुरानी परम्परा

तीसरे अध्याय में जिस कर्मयोग शास्त्र की नई व्याख्या अर्जुन को वताई गई है उसे ही चौथे अध्याय में मानवीय सृष्टि के आरभ से चली आती हुई कहा गया है। विवस्वान् सूर्य की सज्ञा है। सूर्य को ब्राह्मण ग्रन्थो में त्रयी विद्या कहा है। त्रयी का तात्पर्य त्रिकभाव से है। उसी का एक रूप ज्ञान कर्म और भक्ति है। सूर्य में ये तीनो हैं। सूर्य विश्व का नियामक है। उसी की परम्परा विवस्वान् के पुत्र मनु को प्राप्त होती है और मनु से वह समस्त मानवो में आई है। प्रत्येक राष्ट्र का अधिपति राजा

जो मानवो को धर्म-पथ मे चलाता है वह मनु प्रजापति के अश से निर्मित होता है। इस प्रकार ज्ञान और कर्म की परम्परा का अध्यातम सूत्र सर्वत्र व्याप्त है। इस परम्परा का मूल स्रोत स्वय ईश्वर है। इस पर अर्जुन को जो शका हुई वह आजकल की ऐतिहासिक शका है। उसने पूछा—'हे कृष्ण ! आपका जन्म पीछे हुआ, विवस्वान् आपसे वहुत पहले हुए, फिर यह कैसे सभव है कि आपने विवस्वान् को योग सिखाया। वस्तुत इन प्रश्नो मे कोई सार नही है। कृष्ण ने जो उत्तर दिया, वह मानव की सत्ता को देशकाल के चौखटे से ऊपर मानकर चलता है—मेरा जो दिव्य ईश्वरीय रूप है वह तो सदा से है। उसी भाव से मैं सवका उपदेष्टा हूँ। ईश्वर के अवतार और मानव के जन्म अनगिनत है। मानव को इतिहास द्वारा इन सवका ज्ञान नही हो पाता। अतएव इस प्रकार के अध्यातम विचार मे ज्ञान की नित्यता मुख्य है, भौतिक शरीर का आगे-पीछे जन्म लेना महत्व नही रखता। प्रत्येक मानव जिसके हृदय मे ज्ञान और कर्म का यह दिव्य भाव उत्पन्न होता है वह ईश्वर भक्त और देव सरीखा होता है।

ईश्वर का अवतार

ईश्वर अजन्मा और अव्यय है। वह प्रकृति का अधिष्ठाता या स्वामी है और स्वय अपनी माया से अनेक योनियो मे जन्म लेता है। यही चैतन्य तत्व का भौतिक धरातल पर आविर्भाव है। आत्मा का शरीर मे आना इससे वढकर और कोई रहस्य ससार मे नही है। इसके चाहे जितने कारण कहे सुने जायँ सव अपर्याप्त रहते है। सवके अत मे ईश्वर की इच्छा माया क्रीडा या लीला ही एकमात्र कारण वचता है जो तर्क से अतीत है। शरीर मे आत्मा का आना यही जन्म है। किन्तु जव किसी शरीर मे ईश्वर की विशेष शक्ति प्रकट होती है, भारतीय परिभाषा मे उसे ईश्वर की विभूति कहते है। इस प्रकार की कुछ विभूतियाँ नवे अध्याय मे हैं और उनकी विशेष गणना दसवे अध्याय मे की गई है। यह विभूतियोग भागवतो को वहुत प्रिय था। अनेक प्रकार से गिनती करने के वाद भी सर्वोपरि सिद्धान्त यही

है कि जहाँ विशेष शक्ति, सौन्दर्य या ज्ञान का आविर्भाव हो वह सव ही भगवान् के तेज से उत्पन्न हुआ माना जायगा, अर्थात् वह ईश्वर का अवतार ही है। इस प्रकार के अवतारो की सख्या नही, "सभवामि युगे युगे" यही ठीक है। पर इन सवका उद्देश्य समान होता है, अर्थात् अधर्म का नाश और धर्म की रक्षा, अथवा दुष्टो का विनाश और साधुओ का उपकार। धर्म की प्रतिष्ठा के विना समाज का घूमता हुआ चक्र सकुशल नही रह सकता। इसलिए दैवी शक्ति, आसुरी शक्ति के पराभव के लिए प्रकट होती रहती है। भारतीय दृष्टिकोण मानवीय और अतिमानवीय दोनो इतिहासो की इसी दृष्टि से व्याख्या करता है। भगवान् का अवतार भागवत धर्म की भित्ति है। उसी का गीताकार ने अत्यन्त हृदयग्राही शव्दो में वर्णन किया है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम्" ।। ४।७
परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे" ।। ४।८

चौथे अध्याय का नाम ज्ञान-कर्म सन्यास योग है। इसका मुख्य तत्त्व उस प्रकार के आदर्श व्यक्ति की व्याख्या करना है जिसमें ज्ञान का अभ्युदय हो और जो अनासक्तिमय कर्मयोग के मार्ग का भी अनुयायी हो। गीता के कुछ हस्तलेखो में इस अध्याय को ब्रह्म यज्ञ या ब्रह्मार्पण योग भी कहा है अथवा कही-कही विवस्वान् ज्ञान योग भी नाम आया है। इन सवका लक्ष्य ज्ञान और कर्म के समन्वय मे है, अर्थात् कर्म योग से कर्मफल का त्याग करने वाला और ज्ञान योग से ज्ञानी की वुद्धि का आश्रय लेने वाला, ऐसा व्यक्ति ही लोकोद्धार मे समर्थ होता है।

पाँचवाँ अध्याय—कर्म—सन्यास योग

पाँचवें अध्याय का नाम कर्म—सन्यास योग है। इसमें अर्जुन ने सीधा प्रश्न किया है कि ज्ञान और कर्म में कौन-सा मार्ग ठीक है। कृष्ण का उत्तर भी इतना ही निश्चित और स्पष्ट है—कर्मों का सन्यास और कर्म

योग दोनो हितकर है और ससार के बन्धन से मुक्त कराने वाले है, किन्तु कर्म सन्यास से कर्म योग अधिक श्रेष्ठ है। साख्य और योग दोनो निष्ठाएँ पुरानी हैं, प्राचीन काल से चली आई हैं, इन्हे अलग मानकर झगडा करना मूर्खता है। पहले इन्हे एक समान आदर की दृष्टि से देखते थे। यदि एक मार्ग पर भी ठीक प्रकार से चला जाय तो वही फल मिलता है जो दूसरे का है। मृत्यु के वाद साख्य मार्गी जो ऊँचा स्थान प्राप्त करते है वही कर्म योगियो को मिलता है। इसलिए इन दोनो को समान समझने वाली दृष्टि समीचीन है।

गीता का यह मत इतना प्रवल और समर्थ है कि किसी के लिए सन्देह का स्थान नही। फिर भी आश्चर्य है कि ज्ञान और कर्म का विवाद आस्त्र जीवियो मे चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है।

कर्मयोगी का लक्षण

इस समन्वय के मूल मे कृष्ण ने कितने ही कारण भी वताये है। जो कर्मयोगी सयमी नही है, वह सन्यासी के समान ही योग से युक्त होकर व्रह्म की प्राप्ति कर सकता है। योग-युक्त की पहचान यह है कि उसका मन शुद्ध होता है, वह इन्द्रियो को अपने वस मे रखता है और उसका अन्त करण सयम मे स्थिर रहता है। वह सव प्राणियो को अपने ही समान देखता है। कर्म के प्रति उसकी भावना निर्भीक रहती है। वह जैसे कुछ करता हुआ भी अपने को कुछ करने वाला नही मानता। दूसरी वात यह है कि जितने इन्द्रिय-व्यापार है वे कर्मयोगी के लिए विल्कुल स्वाभाविक वन जाते है। इन्द्रियाँ आवश्यकता के अनुसार अपने-अपने विपयो मे जाती है पर कर्मयोगी का मन विपयो मे आसक्त नही होता। आत्म-शुद्धि की यह युक्ति जो प्राप्त कर लेता है वही योगी है, योगी को ही कर्म-शान्ति मिलती है। फल के पीछे जाने वाले को नही। सत्य वात यह हे कि यहाँ ईश्वर ने किसी को न कर्त्ता वनाया है और न कर्मो का विधान किया है और न कर्म के फल मे रुचि का ही उपदेश दिया है। ये तीनो वाते मनुष्य के लिए स्वभाव से ही हो रही है, अतएव इसी भावना से उन्हे होने देना चाहिए।

कर्मयोगी के लिए भी ज्ञान की महिमा है। ज्ञान का अर्थ है मनस्शक्ति का अधिकतम विकास। जब मन में सच्चा ज्ञान उत्पन्न होता है तो जैसे इन्द्रियो के मार्ग में उज्ज्वल प्रकाश भर जाता है। ज्ञान की स्थिति में मनुष्य के मन में सबके प्रति और प्रत्येक स्थिति में समता और सन्तुलन की शक्ति प्राप्त होती है। उसकी स्थिर बुद्धि में न हर्ष होता है, न विषाद। वह अक्षय सुख या उच्च आनन्द के स्रोत जुड जाता है। बाहरी भोगो में उसे सुख नही मिलता। वह यह जान लेता है कि जितने विषय हैं वे सब दु ख के देने वाले है। काम और क्रोध मनुष्य के लिए सबसे अधिक दुखदायी है। अतएव सच्चे ज्ञान की कसौटी यही है कि मनुष्य इसी शरीर के रहते काम और क्रोध को पूरी तरह अपने वस में कर ले। जो इस प्रकार अन्तर की ज्योति से और अन्त करण के सुख से युक्त हो जाता है वह कर्मयोगी ब्रह्म-तुल्य बन जाता है और जो ब्रह्म का सुख है वह उसे प्राप्त होता है। जिन ऋषियो ने अपने पाप या मैल को क्षीण कर दिया उन्होने अवश्य ही इस प्रकार का ब्रह्म-सुख पाया था। काम और क्रोध से नितान्त रहित हो जाने पर ही इस प्रकार के अमृत-आनन्द का अनुभव किया जा सकता है। उस समय यह प्रतीति होती है मानो ब्रह्म का आनन्द अपने चारो ओर भरा हुआ है।

इस प्रकार की आनन्दमयी स्थिति प्राप्त करने के लिए कुछ लोग प्राणायाम और योग को भी साधन मानते थे। भगवान् ने उसका भी समर्थन किया है (५।२७), किन्तु मुख्य बात इन्द्रिय, मन, बुद्धि का सयम एव काम एव क्रोध से मुक्त होना ही है।

छठा अध्याय—ध्यानयोग

छठे अध्याय की सज्ञा ध्यान योग, अध्यात्मयोग, आत्मसयम योग, सन्यास योग आदि हस्तलिखित प्रतियो मे पाई जाती है। इसमें मन को एकाग्र करने के लिए ध्यान, धारणा एव योग-साधन का उल्लेख किया गया है। मन को एकाग्र करके पवित्र स्थान मे सुकुमार आसन पर बैठ कर मेरुदण्ड ग्रीवा और मस्तक को सीध में रखते हुए नासाग्र दृष्टि से जो योग-साधन

करता है उसे शान्ति और सिद्धि मिलती है। इस प्रकार का क्रियात्मक योग जो आसन, प्राणायाम, धारणा और ध्यान की युक्ति को स्वीकार करके किया जाता है वह अवश्य ही फलदायी है। भारतवर्ष में यह सनातनी योग विद्या पूर्व काल से चली आयी है और गीता मे इसे पूरी तरह स्वीकृत किया गया है। वस्तुतः साख्य-मार्ग से ज्ञान साधन करने वाले अथवा कर्म-क्षेत्र मे रहकर कर्म करने वाले दोनो प्रकार के व्यक्तियो के लिए योग की आवश्यकता है, क्योकि इससे उत्तम प्रकार के स्वास्थ्य और मनोबल दोनो की प्राप्ति होती है।

योग की बुद्धिगम्य परिभाषा

कृष्ण ने योग की परिभापा प्रज्ञा दर्शन के आधार पर इस प्रकार की—योग न कोई चमत्कार है और न शरीर को त्रास या पीडा पहुँचाना ही योग है। जो बहुत खाता है वह योगी नही। जो बिल्कुल नही खाता वह भी योगी नही। जो बहुत सोता है वह भी योगी नही। जो जागता ही रहता है वह भी योगी नही। तव प्रश्न है कि योगी कौन है? इसका उत्तर है कि जो अपने आहार और विहार में सन्तुलित है,जो अपनी कर्म-चेष्टाओ मे अति नही करता, जो सोने और जागने मे नियम का पालन करता है उसी का योग साधन ठीक है (६।१६, १७)। योग सावना मे मुख्य बात चित्त का नियमन है। जैसे वायुविहीन स्थान मे रखा हुआ दीपक एकटक हो जाता है वैसे ही योगी का चित्त विपयो की वायु से विचलित नही होता। चित्त का निरोव यही योग की सेवा का फल है। उस स्थिति मे व्यक्ति को न वियोग का दु ख होता है न सयोग का सुख। सवका सार यह है कि योगी बनने के लिए मन को वश में करना आवश्यक है।

इस पर अर्जुन को शका हुई कि कर्म-क्षेत्र मे रहते हुए मन को किस प्रकार शान्त वनाया जा सकता है। उसने स्पष्ट युक्ति से यही प्रश्न किया—आपका वताया हुआ योग सफल नही हो सकता क्योकि चचल मन कभी स्थिर नही होता। यह इन्द्रियो को मथ डालता है। मन का रोकना ऐसा है जैसे हवा को वाँधना।

इस पर कृष्ण ने अर्जुन का खण्डन नही किया। उन्होने यही कहा कि तुम ठीक कहते हो। नि सन्देह मन वहुत चचल है और वश मे नहीं आता। फिर भी उसे वश में लाने के लिए दो मार्ग हैं, एक अभ्यास और दूसरा वैराग्य। यदि इन दो उपायो से मन को वश में नही लाया जाय तो योग कभी नही मिल सकता, पर इन उपायो से अवश्य ही मन को वश में किया जा सकता है।

योग से चूक का डर

भगवान् का इतना निश्चित उत्तर पाकर भी अर्जुन को एक नया सशय उत्पन्न हो गया—यदि योग के लिए प्रयत्न किया जाय और वह सफल न हुआ तो क्या स्थिति होगी ? कही ऐसा तो नही कि ससार का सुख भी छूटे और ब्रह्म का सुख भी न मिले। यह वही वात है जिसे लोक में कहा जाता है कि दुबिधा मे दोनो गये माया मिली न राम।

इस प्रकार के सशयवाद का समाधान कृष्ण के पास क्या हो सकता था ? उन्होने अपनी सकल्पशक्ति को प्रकट करते हुए यही कहा—हे अर्जुन, जो कल्याण का मार्ग है उस पर चलकर मनुष्य की दुर्गति नही होती। इस मार्ग में जो जितना प्राप्त कर ले उतना ही उसके लिए अच्छा है। जो इस अध्यात्म पथ को स्वीकार करता है पर एक जन्म में उसे पूरा नही कर पाता वह फिर अगले जन्म में ऐसी परिस्थितियो के बीच जन्म लेता है कि जहाँ उसे कल्याण मार्ग को पूरा करने की अनुकूलता और सहायता मिलती है। हो सकता है कि वह योगियो के कुल मे ही जन्म ले ले, यद्यपि ऐसा सयोग दुर्लभ ही है। किन्तु यह निश्चित है कि पूर्व जन्म की उपार्जित वुद्धि और सस्कार उसे अगले जन्म मे प्राप्त होते हैं। उसका वह पहला सस्कार उसे फिर कल्याण-साधन की ओर खीच ले जाता है। हे अर्जुन, चाहे जितना पढो-लिखो उसकी तुलना में सच्चे योग-मार्ग की थोडी-सी जिज्ञासा भी अधिक मूल्यवान है। इस प्रकार अनेक जन्मो में चित्त के मल का शोधन करते हुए, इन्द्रियो को वश में करते हुए, कल्याण-पथ पर

साधनापूर्वक चलते हुए मनुष्य अन्त मे सिद्धि प्राप्त करता ही है। तप, ज्ञान और कर्म इन सबकी तुलना में योग सर्वोत्तम है। इसलिए योगी बनना उचित है और उसके साथ ईश्वर की श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक है।

सातवाँ अध्याय—ज्ञान-विज्ञान योग

सातवें अध्याय की सज्ञा ज्ञान-विज्ञान योग है। एक से नाना भाव की प्राप्ति विज्ञान है। अनेक से एक की ओर जाना ज्ञान कहलाता है। ये दो प्रकार की दृष्टियाँ हैं। विज्ञान-दृष्टि रचना की प्रक्रिया है, इसे सचर भी कहा जाता है। ज्ञान-दृष्टि से प्रलय या मूल स्रोत की ओर लक्ष्य होता है और नानात्व मे व्याप्त एकता का अनुभव किया जाता है। इसे प्रतिसचर भी कहते हैं। विज्ञान की दृष्टि अत्यन्त प्राचीन और वैदिक दृष्टि है। एक मूल स्रोत से यह विविध सृष्टि किस प्रकार उत्पन्न हुई इसकी गहरी छान-बीन प्राचीन भारतीय दर्शन और धर्म-ग्रन्थो मे पायी जाती है।

परा और अपरा प्रकृति का भेद और स्वरूप

कृष्ण ने विज्ञान की सृष्टि-प्रक्रिया को बहुत ही थोडे शब्दो मे किन्तु सुनिश्चित, स्पष्ट रीति से समझाया है। इस सारे विश्व में तीन प्रकार की रचना है —

(१) अपरा प्रकृति
(२) परा प्रकृति
(३) ईश्वर

इनमे जो अपरा प्रकृति है वह भौतिक एव जड है। उसके ऊपर परा प्रकृति की सज्ञा जीव है जो चेतन है, किन्तु उसे अपरा प्रकृति रूप शरीर का आश्रय लेना पडता है। अतएव जीव को शरीरी कहा जाता है। इन दोनो से ऊपर ईश्वर तत्त्व है। वस्तुत ईश्वर का ही अश जीव है, जो अपरा प्रकृति या भूतो के धरातल पर (अवतरित) होता है।

प्रश्न यह है कि परा और अपरा प्रकृति का स्वरूप क्या है? इसे गीता के ये दो श्लोक स्पष्ट रीति से बताते हैं—

> भूमिरापोऽनलो वायु: खं मनो बुद्धिरेव च ।
> अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
>
> अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
> जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

यह विषय अन्यत्र पुराणों में भी बहुत बार आया है, उसे इस प्रकार समझा जा सकता है। यदि हम विश्व की विवेचना करें तो सबसे पहले स्थूल पंचभूत दिखाई पड़ते हैं जिन्हें पंच तत्त्व भी कहा जाता है। इन पंच तत्त्वों से सूक्ष्म मन है। उससे सूक्ष्म अहंकार है। कहीं, कहीं अहंकार और मन को एक ही तत्त्व के दो रूप मानते हैं। अहंकार से सूक्ष्म बुद्धि है। बुद्धि को महत्तत्त्व भी कहा जाता है। महत्तत्त्व से सूक्ष्म स्वयं प्रकृति है जिसे अव्यक्त या प्रधान भी कहते हैं। प्रकृति स्वयं जब अव्यक्त अवस्था में रहती है तब उनके तीन गुण साम्य अवस्था में रहते हैं। जब सत्त्व और तम इन दोनों में रजोगुण लीन रहता है और अपना विशेष प्रभाव प्रकट नहीं करता तो वह गुणों की साम्य अवस्था कहलाती है। तब प्रकृति अव्यक्त दशा में रहती है। किन्तु जब रजोगुण या गति तत्त्व प्रबल हो उठता है तब प्रकृति में महत्तत्त्व अहंकार और पंचभूतों का क्रमशः विकास हो जाता है। प्रकृति की इस व्यक्त दशा को 'ख्याति' भी कहा जाता है क्योंकि इसमें समस्त रचना प्रकट भाव में आ जाती है।

महत्तत्त्व और अहंकार का भेद भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये। समष्टि को महत्तत्त्व कहते हैं और व्यष्टि को मन या अहंकार कहा जाता है। अंग्रेजी शब्दों में महत्तत्त्व या समष्टि को युनिवर्सल और अहं या व्यष्टि को इन्डिविजुअल कह सकते हैं। समष्टि-भाव से जब शक्ति किसी बिन्दु पर अभिव्यक्त होती है उसे ही मन या अहंकार कहते हैं। वही केन्द्र में आई हुई चेतना जीव कहलाती है।

सृष्टि-रचना के लिए यही प्रकृति पहले एक पुतला तैयार करती है। उसमे पाँच भूत, मन और अहकार एव बुद्धि ये आठ तत्त्व पृथक्-पृथक् रहते हैं किन्तु यह प्रकृति तत्त्व अचेतन और जड है, इनको एक मे मिलाने वाला चेतन तत्त्व जीव है जो जड की अपेक्षा निश्चय ही ऊँची सत्ता रखता है। इसलिये केवल जड प्रकृति को अपरा और उसके ऊपर प्रतिष्ठित चेतनात्मक जीव को परा कहा गया है। अपरा प्रकृति और परा प्रकृति के दो नाम और भी हैं। अपरा या भौतिक प्रकृति को क्षर और परा प्रकृति को अक्षर कहा जाता है। भूतो की सज्ञा क्षर और कूटस्थ जीव की सज्ञा अक्षर है जैसा कि गीता मे आगे चलकर कहा है —

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।

(गीता १५।१६)

जव तत्त्वो का विचार प्रकृति की ओर से किया जाता है तब अपरा और परा इन सज्ञाओ का व्यवहार करते हैं। जव पुरुष की ओर से तत्त्वो का विचार किया जाता है तो परा प्रकृति को अक्षर पुरुष और अपरा प्रकृति को क्षर पुरुष कहा जाता है। इन दोनो पुरुषो से ऊपर और इनका नियामक अव्यय पुरुष है। उसे गीता मे पुरुषोत्तम कहा है। उसे ही अज भी कहते है। जीव की समस्या यही है कि वह प्रकृति के प्रलोभनो से ऊपर उठकर अव्यय पुरुप या पुरुषोत्तम ईश्वर का अनुभव करे। प्रकृति की सज्ञा और व्यवस्था को पहचानना इसका नाम विज्ञान है। और प्रकृति से ऊपर उठकर ईश्वर को पहचानना यही ज्ञान की दृष्टि है। इस अध्याय के आरम्भ मे भगवान् ने अर्जुन से यही कहा कि मै तुम्हे विज्ञान की दृष्टि और ज्ञान की दृष्टि दोनो बताता हूँ क्योकि दोनो को जान लेने पर ही व्यक्ति की जानकारी

ज्ञान और विज्ञान

परिपूर्ण वनती है। ज्ञान और विज्ञान दोनो को मिलाकर जो नई बुद्धि उत्पन्न होती है उसे ही कृत्स्न ज्ञान कहा जाता है। कोई मनुष्य केवल

विज्ञान में रुचि रखते है और यथासम्भव सूक्ष्म रीति से प्रकृति की रचना पर विचार करते है। कोई ऐसे होते हैं जो प्रकृति की उपेक्षा करते हैं और केवल चैतन्य तत्त्व ईश्वर में ही रुचि लेते हैं। पहले प्रकार के व्यक्तियो को कर्म मार्गी और दूसरे प्रकार के व्यक्तियो को ज्ञान मार्गी कहा जाता है। किन्तु अपने आप में ये दोनो ही अधूरे हैं। इन्हें पूरा बनाने के लिए दोनो के गुणो को मिलाना आवश्यक है। गीता के उपदेश का यही मर्म है। ऊपर जिसे अपरा प्रकृति कहा है वह एक पुतला है, जिसे शरीर कहा जाता है। इस शरीर मे जो पच भूत हैं वे अपनी शक्ति से पचीकरण-प्रक्रिया के द्वारा रूप, रस, गन्ध, शव्द, स्पर्श इन पाँच तन्मात्राओ को और इनको अनुभव करने के लिए पाँच ज्ञानेन्द्रियो और पाँच कर्मेन्द्रियो को विकसित कर लेते है। इन बीसो के विना शरीर का पूरा विकास नही होता। दसो इन्द्रियो के ऊपर जो शक्ति उन्हें नियमित या अनुशासित करती है वही मन है। उसे इन्द्रियानुगामी मन भी कहा जाता है। किसी भी इन्द्रिय का सम्बन्ध मन से टूट जाय तो वह इन्द्रिय अपना काम नही कर सकती। उसी मन का और ऊँचा रूप अह या व्यष्टि की चेतना है, जो एक-एक शरीर में प्रकट हो रही है। जितने शरीर है उतने ही अह हैं। प्रत्येक अह भी पृथक्-पृथक् जीव या शरीरी है। उसे ही शरीर की गति या चैतन्य-शक्ति के रूप में हम दूसरो में देखते और अपने में अनुभव करते हैं। अब एक उस प्रकार की समष्टि की कल्पना करनी पडती है जो इन पृथक्-पृथक् व्यष्टियो या जीव रूप चैतन्य-केन्द्रो का स्रोत है, उसे ही महत्तत्त्व कहते है। इस शव्द का अर्थ स्वय प्रकट है जो महत् है वही समष्टि है।

महान् या समष्टि को वैदिक भाषा में महिमा, परमेष्ठि या विराज् भी कहा जाता है। जव विराज् या महत्तत्त्व के भीतर परम पुरुष ईश्वर का सृष्टि-सकल्प प्रकट होता है तो उसी सकल्प को काम या मन कहते हैं और वह अनेक व्यक्तिगत केन्द्रो के रूप में प्रादुर्भूत होता है। एक-एक ब्रह्माण्ड या जगत् उसी का एक-एक केन्द्र है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति या प्राणी भी उसी महत् तत्त्व का व्यष्टि भाव में आया हुआ रूप है।

ईश्वर-तत्त्व की व्याख्या

सक्षेप मे अपरा और परा प्रकृति का उपदेश करके कृष्ण ईश्वर तत्त्व की व्याख्या करने लगते है। यहाँ जैसा अन्यत्र भी है उन्होने अपने आपको और ईश्वर को अज्ञेय माना है और इसीलिए कहा है कि मै अनेक रूपो मे सर्वत्र व्याप्त हूँ और यह सारा विश्व मुझमे ऐसा पिरोया हुआ है जैसे बहुत से मन के एक धागे मे पिरोये रहते है। मुझसे परे और कुछ नही है। मै ही ससार की उत्पत्ति और प्रलय का स्थान हूँ। पृथ्वी की गन्ध और अग्नि का तेज मै ही हूँ। सब भूतो और प्राणियो का सनातन बीज मै हूँ। जीवन या प्राण या जीवरूपी चेतना मै हूँ। जड प्रकृति मे जो सत्त्व, रज, तम नामक तीन गुण है, वे सब मेरे ही कारण है। वे मुझसे उत्पन्न होते है, मै उनसे नही। इन तीन गुणो से मिलकर बनी हुई जो प्रकृति है वह मेरी दिव्य माया है, उससे पार पाना कठिन है। पर यदि कोई इसके पार हो जाय तो वह मेरे निकट पहुँच जाता है। प्रकृति के भेदो से ऊपर उठकर उनमें व्याप्त उसमे ईश्वर तत्त्व को जानना यही तो ज्ञान है। सब कुछ ईश्वर का ही रूप है ऐसा मानने वाला ज्ञानी महात्मा दुर्लभ है।

यहाँ लोग भेद-दृष्टि स्वीकार करके अनेक देवताओ को पूजने लगते है (७।२०)। वह भी ठीक है क्योकि मैं नही चाहता कि उस प्रकार की भेदमयी श्रद्धा को विचलित करूँ। पर उस पूजा-श्रद्धा का फल सीमित है। वह कुछ काल के लिए ही मन को प्रभावित करता है। देवो को पूजने वाले उन-उन देवो को ही प्राप्त करते है, पर उनसे ऊपर उठकर जो ईश्वर की उपासना करता है, उसे ही ईश्वर का सच्चा ज्ञान मिलता है। मै तो अव्यय और अव्यक्त हूँ। मुझे अलग-अलग देवो के रूप मे प्रकट हुआ मानना ऊँची समझदारी नही। ईश्वर को जीवो के वर्तमान, भूत और भविष्य सब जन्मो का पता है। पर अनादि अनन्त ईश्वर को कौन जानता है?

जरा-मरण से छूटने के लिए ईश्वर को जानना ही एकमात्र साधन है। इसके लिए कई बातो को स्पष्ट अलग-अलग जानना चाहिए। वे छह बातें इस प्रकार है। ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, और अधियज्ञ।

आठवाँ अध्याय अक्षर ब्रह्मयोग अर्जुन के छह प्रश्न

आठवे अध्याय का नाम अक्षर ब्रह्म योग है। उसका आरम्भ इन्ही छह प्रश्नो की जिज्ञासा से होता है। जैसे ही भगवान् ने इन छहो का उल्लेख किया वैसे ही अर्जुन के मन में यह स्वाभाविक इच्छा हुई कि इन छह तत्त्वो का स्वरूप और भेद जाना जाय।

ब्रह्म क्या ?

पहला प्रश्न ब्रह्म के विषय में है। उसका स्पष्ट उत्तर यही दिया गया है कि अक्षर ही परब्रह्म है। वेदो में और उपनिषदो में अक्षर तत्त्व का बहुधा उल्लेख आता है। गीता में भी कहा है कि सच्ची वेदविद्या अक्षर के ज्ञान की ही विद्या है (यमक्षर वेदविदो वदन्ति, ८।११)।

सनातन चैतन्य तत्त्व की सज्ञा ही अक्षर है। वह परब्रह्म ईश्वर का ही स्वरूप है। उसी महान् सूर्य की एक-एक किरण एक-एक जीव है। सम्पूर्ण ब्रह्म की ज्योति का प्रतीक सूर्य है (ब्रह्म सूर्य सम योति यजु० वेद २३।४८)।

ब्रह्म ज्ञान के अतिरिक्त वेदो का और कोई लक्ष्य नही है। ब्रह्म-विद्या ही वेद-विद्या है। यदि विस्तार में जायँ तो ब्रह्मसम्बन्धी विद्या का कोई अन्त नही है, वह सहस्रधा कहलाती है। उसके वर्णन के लिए अनगिनत शब्द चाहिए। किन्तु एक युक्ति ऐसी है कि केवल एक अक्षर से ही ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है। वह अक्षर ओकार है (ओ इत्येकाक्षर ब्रह्म, ८।१३)। इस एक सक्षिप्त पद को जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है। फिर कुछ जानना शेप नही रहता। यह कहने सुनने की बात नही, अनुभव में लाने की विद्या है।

अध्यात्म क्या ?

अर्जुन का दूसरा प्रश्न अध्यात्म के विषय में है। अध्यात्म की चर्चा बहुत बार आती है। पर वह अध्यात्म क्या है ? इसका उत्तर है कि स्वभाव ही अध्यात्म है (स्वभावोध्यात्ममुच्यते, ८।३)।

इसका तात्पर्य यह है कि जो अपना भाव अर्थात् प्रत्येक जीव की एक-एक शरीर मे पृथक्-पृथक् सत्ता है वही अध्यात्म है। समस्त सृष्टिगत भावो की व्याख्या जब मनुष्य-शरीर के द्वारा की जाती है तो उसे ही अध्यात्म व्याख्या कहते है। शरीर मे आया हुआ प्राण ही अध्यात्म का मुख्य लक्ष्य और आधार है। कह सकते है कि अधिभूत अधिदैव आदि सबमे अध्यात्म सबसे महत्वपूर्ण है, क्योकि अपना अस्तित्व न रहने से फिर मानव मे कुछ शेष नही रहता। इसलिए मनुष्य को उचित है कि चारो ओर अपना ध्यान ले जाते हुए अध्यात्म की उपेक्षा न करे।

कर्म क्या ?

अर्जुन का तीसरा प्रश्न कर्म के सम्बन्ध में है कि कर्म क्या है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पच भूतो को और बुद्धि चित्त एव अहकार के भावों को अस्तित्व मे लाने वाली जो प्रक्रिया है वही कर्म है। कर्म की सज्ञा चेष्टा है। स्वय अव्यक्त प्रकृति के अभ्यन्तर मे इस प्रकार की चेष्टा का जो आविर्भाव होता है उसी से कर्म का निर्माण होता है यह कर्म समष्टि के धरातल पर और व्यष्टि के धरातल पर दो रूपो मे देखा जाता है। दोनो का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है।

अधिभूत क्या ?

अर्जुन का चौथा प्रश्न अधिभूत के सम्बन्ध मे है। इसका उत्तर सरल और स्पष्ट है कि पच्च भूतो का जो सगठन है वही अधिभूत है। और उसे क्षर भी कहते हैं, क्योकि उसका सस्थान और सगठन नश्वर है। भूतो का स्वभाव है कि वे कारण पा कर मिल जाते है और कारणवश ही कुपित होकर अलग हो जाते है। प्राणियो के शरीर मे भूतो के सगठन और विघटन की यह क्रिया बराबर देखी जाती है। जीवन और मृत्यु इसी के वशवर्ती है। भूतो की सघटना के नियम से कितना सुन्दर बाल-शरीर प्राप्त होता है। किन्तु शनै-शनै उसकी सम्भावनाये क्षीण हो जाती है और अन्त मे पाँचो भूत चेतना से विमुक्त हो जाते है।

अधिदैवत क्या ?

अर्जुन का पाँचवाँ प्रश्न अधिदैवत के विषय में है। अधिदैव और अधिदैवत एक ही शब्द के दो रूप हैं। समष्टिगत ब्रह्माण्ड में और पार्थिव जगत् में भी ईश्वर की जो दिव्य शक्तियाँ है उन्हें ही अधिदैवत कहते हैं। उन्ही से इन्द्रियो का और मन का विकास होता है। वस्तुत प्राणात्मक शक्ति को ही दैव कहते है। जहाँ प्राण है वहाँ देवो का निवास निश्चित है। इस शरीर में जब तक प्राण की सत्ता है तब तक इसे देवतत्त्व कहा जाता है। एक प्रकार से पच भूत तो शरीर के साथ अन्त तक रहते ही है, केवल दैवी शक्ति और प्राण ही विमुक्त हो जाता है। वस्तुत वेदो की समस्त विद्या एक मात्र देवविद्या ही है। इन देवो के अनेक नाम और रूप है, किन्तु मूल तत्त्व एक ही है जिससे एको देव कहा गया है। उस एक देव को ही वैदिक परिभाषा में अग्नि कहते हैं। अग्नि सर्वा देवता, यह ऐतरेय ब्राह्मण का वचन है, अर्थात् जितने देव है वे सब अग्नि के ही रूप है। यह अग्नि तत्त्व प्राण की ही सज्ञा है। ब्राह्मण ग्रन्थो में बहुत प्रकार से इसकी व्याख्या की गई है, जो अग्नि है वह प्राण ही है। इस प्रकार प्राण और अधिदैव ये परस्पर पर्यायवाची है और इनकी सत्ता जैसे ब्रह्माण्ड में है वैसे ही पिण्ड देह में है।

अधियज्ञ क्या ?

अर्जुन का छठाँ प्रश्न अधियज्ञ के विषय में है। यज्ञ दो है। इस विराट् सृष्टि में प्रजापति का महायज्ञ है, अथवा यो कहा जाय कि सारी सृष्टि ही यज्ञ रूप है। उसी विराट् यज्ञ के अनुसार मनुष्य-शरीर की रचना हुई है, जिसमें समस्त देवता और पच महाभूत अपने-अपने प्रतिनिधियो के रूप में विद्यमान है। इस शरीर में जो प्राण या चेतना है उसका अत्यन्त रहस्यमय और गूढ कार्य हो रहा है। जिसे शरीर कहते है वह प्राण और भूत दोनो के मिलने से बनता है। इसी का नाम अधियज्ञ है।

इन छ प्रश्नो के रूप मे प्राचीन वैदिक सकेतो की सुन्दर और स्पष्ट व्याख्या एक जगह पाई जाती है।

ओंकार रूप अक्षर ब्रह्म

इसी प्रसग में अक्षर ब्रह्म का जो पहले प्रश्न का विषय है, कुछ विस्तार से विवेचन किया गया है। यहाँ यह स्मरणीय है कि अक्षर के दो अर्थ हैं। एक तो वह परब्रह्म का वाचक है और दूसरे वाणी के द्वारा जिन शब्दो का उच्चारण होता है, उनके न्यूनतम पद को भी अक्षर कहते हैं। शब्दमयी वाणी अक्षरो का समुदाय है। वह वाणी ही वाक् है। वह वाक् परब्रह्म के रूप मे या शब्द-ब्रह्म के रूप मे सहस्राक्षरा अर्थात् अनन्त अक्षरो वाली है। वहाँ किसी शब्दात्मक अक्षर का उच्चारण नही होता अतएव वह अमृत वाक् कही जाती है। वह वाक् का स्थित्यात्मक रूप है, वही एकपदी या अपदी वाक् है। उस एक पदी वाक् का प्रतीक ओंकार माना गया है, जैसा यहाँ कहा है—

ओमित्येकाक्षर परब्रह्म (८।१३)

अक्षर विद्या की दृष्टि से ओंकार और अक्षर यह दोनो पर्याय माने गए हैं। जैसे ब्रह्म गुणातीत या निर्गुण और त्रिगुणात्मक भी है वैसे ही ओंकार की स्थिति है। उसे सम्मिलित रूप मे अर्धमात्रात्मक कहा जाता है, और दूसरी ओर उसी मे अ-उ-म् ये तीन मात्राये भी मानी जाती हैं। उसका त्रिगुणात्मक रूप ही त्रिमात्रात्मक विषय है।

ग्यारहवें श्लोक मे ओंकार को ब्रह्म का सक्षिप्त पद (सग्रह पद) कहा गया है। कठोपनिषद् मे भी यह सिद्धान्त पाया जाता है। प्रश्न हो सकता है कि इसका रहस्य क्या है? इसका उत्तर इस प्रकार है—यह ससार पाँच तत्त्वो से बना है, उनमे आकाश सबसे सूक्ष्म है। ओंकार या अक्षर उसी आकाश के द्वारा वायु के आघात से उत्पन्न किया जाता है। उसकी वास्तविक भौतिक सत्ता उस कम्पन, स्पदन या तरगो के रूप मे है जो शब्द से उत्पन्न होती हैं। यह ध्वनि नितान्त भौतिक तत्त्व है। अतएव पच भूतो

से वना हुआ जितना भी जगत् है उसका एक सूक्ष्म नमूना ओंकार की ध्वनि को मान लिया गया है। यही ओंकार प्रत्येक व्यक्ति के कण्ठ से जब निकलता है तो उसका कम्पनात्मक स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है। जैसे प्रत्येक शरीर में रक्त, मास, मज्जा, अस्थि, मेदा और मल-मूत्र के उच्चारा अलग-अलग है, जिनकी परीक्षा से शरीर के आरोग्य और निर्दोष या सदोष स्वभाव का परिचय प्राप्त हो जाता है, वैसे ही कण्ठ से उच्चरित वाणी के द्वारा मनुष्य के शरीर की प्रकृति का ठीक परिचय प्राप्त हो सकता है। इसी रूप में प्रत्येक मनुष्य के कण्ठ से उच्चरित ओंकार वह संक्षिप्त पद है जो उसकी पांचभौतिक देह, पंचप्राण और पंचकोषों का सूक्ष्म और स्थूल परिचय देता है, जैसे शरीर की रचना में जागरण, स्वप्न, सुषुप्ति नामक तीन अवस्थाएँ है वैसे ही ओंकार में तीन मात्राएँ हैं। अ मात्रा जाग्रत, उ मात्रा स्वप्न और म् मात्रा सुषुप्ति की परिचायक है। इन तीनों के अनन्तर एक मात्रा-विहीन या अमात्र अवस्था है। उसे तुरीयावस्था कहते हैं। इस प्रकार यदि ब्रह्मा की सारी सृष्टि का और मनुष्य के शरीर का न्यूनतम नमूना लेना हो तो वह ओंकार के रूप में लिया जा सकता है।

अक्षर और क्षर, अव्यक्त और व्यक्त, अमात्र और त्रिमात्र, इन दो कोटियों की ओर ध्यान देते हुए, गीताकार ने इनके सम्बन्ध में विश्व के दो विभागों की ओर आकृष्ट किया है। यह द्वन्द्वरूप भाव ब्रह्मा का विधान है। इसके बिना संसार की रचना और प्रवृत्ति संभव नहीं। इसलिए इन्हें जगत् की शाश्वती गति कहा है। इनमें एक सफेद और दूसरी काली गति है। ये ही ऋग्वेद के शुक्ल रजस् और कृष्ण रजस् का ठीक उल्टा है। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण, ये शुक्ल-गति के प्रतीक है। भूमि, रात्रि, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायन, और चन्द्रमा, ये प्रकृति की काली गति या कृष्ण रजस् को प्रकट कर रहे है। दिन श्वेत और रात्रि अंधेरी क्यों है ? उत्तरायण और दक्षिणायन में किस प्रकार का भेद है ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न विश्व-रचना के सम्बन्ध में तुरन्त पूछे जा सकते हैं और उनका यथार्थ उत्तर ठीक यही है। संसार का मूल कारण जो गति तत्त्व है उसी के दो भेद हैं। यह

चक्रवत् गति है। वह जब एक ओर ऊँचे चढती है और दूसरी ओर नीचे उतरती है, तभी पहिया घूम सकता है। कालही ससारको घुमाने वाला चक्र या पहिया है। उसी के दो अर्द्ध भाग अहोरात्र, दर्श-पौर्णमास, शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष, उत्तरायण और दक्षिणायन आदि रूपो मे हमारे सामने घूमते रहते है। इन्ही दो गतियो की व्याख्या प्राचीन काल मे अहोरात्र वाद कहलाती थी, उसी की ओर सकेत करते हुए आठवाँ अध्याय समाप्त होता है।

नवा अध्याय--राजविद्या

गीता के नवे अध्याय का नाम राज-विद्या राजगुह्य योग है। इसमे बताया है कि किस प्रकार ज्ञान और कर्म का सन्तुलन ही जीवनधारा है। भारतके धर्म तत्त्व और दर्शन का मुख्य लक्ष्य यही है इसकी परम्परा वेद से लेकर कालान्तर मे भीचली आई है। यह सब विद्याओ में श्रेष्ठ होने के कारण राज विद्या कही गई है। इसे ही सब अध्यात्म तत्त्वो में या उपनिषदो के ज्ञान मे सर्वोपरि होने के कारण राजगुह्य भी कहा गया। यह एक ऐसा योग है जिसमे ज्ञान और विज्ञान अर्थात् व्यावहारिक लोक-जीवन और अध्यात्म-मार्ग दोनो का समन्वय होता है। यह धर्म-मार्ग अत्यन्त पवित्र कहा गया है, क्योकि इसमे आत्मा का प्रकाश भौतिक प्रकृति के क्षेत्र मे भर जाता है और उसकी मलीनता को हटाकर उसमे पवित्रता भर देता है। इस मार्ग की सबसे बडी विशेषता यह है कि यह कहने-सुनने की बात नही है। इसे तो जीवन मे प्रत्यक्ष उतारा जाता है। जब तक यह ज्ञान जीवन मे खरा न उतरे तब तक इसका कुछ मूल्य और लाभ नही है। इसके लिए गीताकार का प्रत्यक्षावगम शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण है (९।२)। भारतीय विचारको ने ज्ञान के दो भेद किये थे--एक शब्दब्रह्म अर्थात् शब्दो के रूप मे शास्त्रो का महान्‌भण्डार; वह भी एक निधि है पर वह अपने मे अपर्याप्त है। जब शास्त्र जीवन मे आने लगता है तो उसे योग कहते है। अतएव आचार्यो ने स्पष्ट लिखा कि शास्त्रीय शब्दज्ञान मे जो ब्रह्मा की भाँति ही पण्डित हो जाय तो भी उसका पद नीचा है और

योग के मार्ग में चलने का जिसने आरम्भ ही किया हो तो वह पहले की अपेक्षा ऊँचा पद रखता है (जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते (६।४४)। जीवन में जो ज्ञान को उधार बाँटता है उसके पल्ले कुछ नही पडता। पर जो सीखे हुए ज्ञान को नगद कर लेता है, अर्थात् अनुभव में ले आता है वही उस ज्ञान का सच्चा धनी है। चाहे और सब शास्त्र कहने-सुनने के लिए ही हो पर अध्यात्मज्ञान तो अवश्य ही जीवन के अनुभव में लाने योग्य है। भगवान् ने तो और भी आगे बढकर यह आश्वासन-परक वाक्य कहा है कि सच्चे मन से यदि मनुष्य प्रयत्न करे तो इस मार्ग का आचरण सरल और सुखदायी है (सुसुख कर्तुम् ९।२)। फिर धर्म युक्त होने के कारण यह ऐसी उपलब्धि है जो अव्यय है, अर्थात् छीजती नही। जो जितना प्राप्त कर ले उतना ही श्रेयस्कर है। मनुष्य को इस विश्वास के साथ इस मार्ग पर आगे बढना चाहिए। जो इस प्रकार की श्रद्धा से चलते है वे इस धर्म को प्राप्त कर लेते हैं (९।३)।

भगवान् का दिव्य स्वभाव

इसके अनन्तर भगवान् के उस स्वरूप और शक्ति की ओर ध्यान दिलाया गया है जिसके द्वारा वे सब में है और सबसे ऊपर भी है,अर्थात् आसक्ति और अनासक्ति एव कर्म और ज्ञान के सम्मिलन का उदाहरण स्वय ईश्वर की सत्ता है। उसे ऐश्वर योग कहा गया है (९।५)। इसे देखने के लिए कही दूर जाने की आवश्यकता नही। वह सब भूतो में है, जैसे आकाश और वायु सर्वत्र है। मै सब में रहते हुए भी सबसे उदासीन हूँ। कोई कर्म मुझे नही बाँधता। मेरी दैवी प्रकृति या ऐसे दिव्य स्वभाव को महान् या विकसित आत्मा वाले व्यक्ति पहचान लेते है और मेरे भक्त बन जाते है। मेरी सत्ता को पहचानने का एक दूसरा भी प्रकार है, उस दृष्टिकोण से एक ईश्वर को सब में विद्यमान देखा जाता है। उसका नाम ज्ञान योग है। मै यज्ञ हूँ, मै समिधा हूँ, मै सोम हूँ, मै औषधि हूँ, मै मत्र हूँ, मै ही दु ख हूँ, और मै ही

अग्नि और आहुति हूँ। इस ससार का पितामह, पिता-माता, धाता, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, सुहृद् मैं ही हूँ। ऋक्-यजु, साम और पवित्र ओकार, सब ईश्वर के रूप हैं। सत् और असत्, अमृत और मृत सभी ईश्वर की सृष्टि है और वह स्वय सबमें है। यह दृष्टि जिनको मिल जाती है वे अनन्यभाव से ईश्वर का चिन्तन करते है। ईश्वर के लिए न कोई प्रिय है न कोई अप्रिय, वह सर्व भूतो मे समान रूप से है। अतएव यदि कोई पापाचारी व्यक्ति भी अपने मन को पाप से मोड़ लेता है तो वह साधु बन जाता है। फिर उसे भी जीवन मे शान्ति और सद्गति प्राप्त होती है।

दसवाँ अध्याय—विभूतियोग

लोक-देवता

ईश्वर चर्चा के प्रसग मे एक प्रश्न यह उठ खडा हुआ कि जो लोग भगवान् को छोड कर दूसरे देवताओ की पूजा करते है उनकी क्या गति होगी? लोक में बहुत से देवता है और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उनके पूजने वाले भी अनेक हैं। प्रत्येक मनुष्य के भीतर जो उसके मन की रुचि है वह भी भगवान् के सकल्प का रूप है और उसके लिए विष्णुधर्मोत्तर पुराण के लेखक ने 'रोचेश' इस नये शब्द का व्यवहार किया है। जिसकी जिस देवता मे रुचि होती है अथवा जीवन की जिस किसी कार्य मे प्रवृत्ति होती है वही उसका 'रोचेश' है। विष्णुधर्मोत्तर अध्याय २२१ में इस प्रकार के लगभग १२५ देवताओ की सूची दी गई है। गीताकार के सामने भी यहाँ इस तरह का प्रश्न उठ खडा हुआ कि लोक-देवता कौन-कौन से है? यह सामग्री कुछ अध्यातम दृष्टि से महत्त्व की नही, किन्तु लोक-वार्त्ता शास्त्र के लिए महत्त्व की है।

पहले तो गीताकार ने भगवान् के मुख से एक सामान्य नियम कहलाया है—

> यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रता.।
> भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ (९।२५)

व्रत का अर्थ

इस श्लोक का 'व्रत' शब्द पारिभाषिक है और उसका अर्थ किसी देवता विशेष की भक्ति और पूजा से है। यहाँ यजन का भी वही विशेष अर्थ है, अर्थात् लोक में चालू रीति से देवताओ की पूजा करना।

व्रत शब्द के इस विशेष अर्थ के लिए सुत्तनिपात की निद्देस नामक टीका देखनी चाहिए। उसमें भिन्न-भिन्न देवताओ के व्रत या भक्ति द्वारा आत्म-शुद्धि बताने वाले २२ सम्प्रदायो का उल्लेख है। उनमें से प्रत्येक को व्रतिक कहा गया है। जैसे हस्तिक व्रतिक, अश्व व्रतिक, गो व्रतिक, कुक्कुर व्रतिक, काक व्रतिक, वासुदेव व्रतिक, बलदेव व्रतिक, पूर्णभद्र व्रतिक, मणिभद्र व्रतिक, अग्नि व्रतिक, नाग व्रतिक सुपर्ण व्रतिक, यज्ञ व्रतिक, असुर व्रतिक, गन्धर्व व्रतिक, महाराज व्रतिक, चन्द्रमा व्रतिक, सूर्य व्रतिक, इन्द्र व्रतिक, ब्रह्मा व्रतिक, देव व्रतिक, दिशा व्रतिक। मिलिन्द पन्ह पृष्ठ १९१ पर इसी प्रकार के कुछ लोक देवताओ की सूची है, उसकी सिंहली टीका में उन देवताओ को मानने वालो को भत्तियो, अर्थात् भक्त कहा गया है। व्रतिक और भक्तिक एक दूसरे के पर्याय हैं।

मह नामक लोकोत्सव

इस प्रकार की पूजा-मान्यता को लोक मे मह कहा जाता था। 'नाया-धम्म कहा' नामक जैन ग्रन्थ में लिखा है कि राजगृह नगर मे बडे-बडे लोग निम्नलिखित मह या देव-यात्रा में इकट्ठे होते थे। जैसे इन्द्र मह, स्कन्द मह, रुद्र मह, शिव मह, वैश्रवण मह, नाग मह, यक्ष मह, भूत मह, नदी मह, तडाग मह, वृक्ष मह, चैत्य मह, पर्वत मह, उद्यान मह, गिरि यात्रा मह (नायाधम्म कहा १।२५)। इसी तरह की एक दूसरी सूची रायप सेणिय (राज प्रश्नीय) सूत्र मे भी पायी जाती है, जैसे इन्द्र मह, स्कन्द मह, रुद्र मह, मुकुन्द मह, शिव मह, वैश्रवण मह, नाग मह, यक्ष मह, भूत मह, स्तूप मह, चैत्य मह, वृक्ष मह, गिरि मह, दरी मह, अवट मह, नदी मह, सर मह, सागर मह (कण्डिका १४८)।

महाभारत मे भी इस तरह के मह नामक देव-उत्सवों का उल्लेख मिलता है, जैसे—गिरि मह, (महा १४, ५९, १३)। रैवतक मह (आदि पर्व २११।२), ब्रह्ममह। महाभारत आदिपर्व १५२।१७, मे इसे ही ब्रह्मा का समाज या विराट् ब्रह्म महोत्सव भी कहा गया है। इसी प्रकार काम मह, और धनुर् मह के नाम भी मिलते हैं। वाल्मीकि रामायण मे जिसे जनक का धनुष् यज्ञ कहा जाता है वह धनुर्मह का ही रूप था। इस सूची और सस्थाको ध्यान में रखकर यदि हम गीता के १० वे अध्याय मे बतायी हुई भगवान् की विभूतियो की सूची को देखे तो यह बात स्वय समझ मे आ जाती है कि गीताकार ने आधुनिक लोक-वार्त्ता या लोक का अध्ययन करने वाले पण्डितो की भाँति अपनी सामग्री का सकलन किया है। इस सूची को गीताकार ने विभूति का नाम दिया है और कुछ विस्तार से कहने की बात को भी स्वीकार किया है (विस्तरेण आत्मनो योग विभूर्ति च जनार्दन। भूय· कथय तृप्तिह श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् १०।१८)। गीता मे इन देवताओ के नाम इस प्रकार है —

लोक देवताओं की सूची

आदित्यो मे विष्णु, ज्योतियो मे सूर्य, मरुतो मे मरीचि, नक्षत्रो मे चन्द्रमा, वेदो मे सामवेद, देवताओ मे इन्द्र, इन्द्रियो मे मन, भूतो मे चैतन्य, रुद्रो मे शकर, यक्षो मे कुबेर, आठ वसुओ मे अग्नि, पर्वतो मे मेरु, पुरोहितो मे बृहस्पति, सेनापतियो मे स्कन्द, सरोवरो मे समुद्र, महर्षियो मे भृगु, शब्दो मे ओंकार, यज्ञो मे जपयज्ञ, स्थावरो मे हिमालय, पेडो मे पीपल, देवर्षियो मे नारद, गन्धर्वो मे चित्ररथ, सिद्धो मे कपिल, घोडो मे उच्चै श्रवस्, हाथियो मे ऐरावत, मनुष्यो मे राजा, गायो मे कामधेनु, प्रजनन की शक्तियो मे कामदेव, सर्पो मे वासुकि, नागो मे अनन्त, जलचरो मे वरुण, पितरो मे अर्यमा, बन्धन करने वालो मे यम, दैत्यो मे प्रह्लाद, सख्या करने वालो मे काल, पशुओं मे सिंह, पक्षियो मे गरुड, पवित्र करने वालो मे पवन, शस्त्रधारियों मे परशुराम, मछलियो

में मगरमच्छ, नदियो मे गगा, विद्याओ में अध्यात्म विद्या, अक्षरो में अकार, समासो मे द्वन्द्व, छन्दो मे गायत्री, सामगानो में बृहत् साम, महीनो में अगहन, ऋतुओ मे वसन्त, वृष्णियो मे वासुदेव, पाण्डवो में अर्जुन, मुनियो में व्यास, और कवियो मे उशना कवि—ये मेरे ही रूप हैं। मेरी विभूतियो का कोई अन्त नही। यह तो उस विस्तार का सक्षिप्त रूप मैंने तुम्हें बताया है।

इस प्रकार दसवें अध्याय मे अधिकाशत वे नाम जो पहले व्रत और महकी सूची में आये हैं सम्मिलित हैं। यहाँ अध्यात्म या धर्म की दृष्टि से भागवत आचार्यो का एक विशेष उद्देश्य स्पष्ट समझा जा सकता है, अर्थात् लोक-देवताओ की मान्यता को चोट पहुँचाये या उखाडे बिना वे उन सबका सम्बन्ध विष्णु भगवान् या नारायण के साथ या एक ही ब्रह्म अव्यय ईश्वर तत्त्व के साथ जोड देते है। यह बडी उपलब्धि थी। इस युक्ति का परिणाम कुछ समय बीतने पर यह हुआ कि विष्णु या नारायण की पूजा सबसे ऊपर उभर आयी और लोक के छुट भइये देवता या तो भुला दिये गये या पिछड गये। बहुतो के रूप तो इतने धुधले पड गये कि अब पहचाने भी नही जाते। जैसे स्कन्द की पूजा महाराष्ट्र में खडोबा के रूप मे बची है, उत्तर भारत में तो वह लुप्त ही हो गई। ऐसे ही कुबेर, वसु, पुण्यजन्म, आदि की पूजा का हाल है। इस प्रकार के लोक देवताओ में विश्वास गीता अथवा जैन और पालि-साहित्य से भी बहुत पहले से चला जाता था। अथर्व वेद के पापमोचन सूक्त में (११।६। १–२३) इस प्रकार के लगभग १०० देवताओ की सूची पाई जाती है। उसके ये नाम तो ऊपर की इन तीन सूचियो से मिलते हैं—इन्द्र, सूर्य, विष्णु, वरुण, गन्धर्व, चन्द्रमा, दिश, पशु-पक्षी, रुद्र, यक्ष, पर्वत, समुद्र, नदी, वैश्रवण, पितृ, यम, सप्तर्षि सर्प, सवत्सर, चतुर् महाराजिक, भूत, सर्वदेव आदि। इस प्रकार वैदिक युग से लेकर चली हुई यह देव-पूजा लोक की मान्यता में इतनी बस गयी थी कि वह जनता के मन से कभी पूरी तरह नही हटी। हमने अपने ग्रन्थ प्राचीन भारतीय लोक धर्म मे यह दिखाया है कि इनमे से अनेक देवता आज भी किसी न किसी रूप में सुरक्षित

रह गये है और उनकी पूजा-यात्राए भी प्रचलित है। पर भागवतो के उस समन्वयात्मक दृष्टि का जिसका गीता के १०वे अध्याय मे प्रतिपादन है। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू धर्म मे एक महान् ईश्वर की सर्वोपरि सत्ता के प्रति आस्था ऊपर उभर आई और अन्य सब देवी देवता उसी में विलीन हो गये या उन्होने अपने अनमेल अस्तित्व का उसी के हाथो समर्पण कर दिया।

ग्यारहवाँ अध्याय--विश्वरूपदर्शन

पुरुष और प्रकृति की अनेक सज्ञाएँ

गीता का विश्वरूप नामक ग्यारहवाँ अध्याय बहुत ही उदात्त एव प्रभावोत्पादक शैली में लिखा गया है। यो तो सस्कृत-साहित्य मे विश्व-रूप-दर्शन का वर्णन अनेक बार आया है, किन्तु जैसी ओजस्वी शैली गीता के इन ५५ श्लोको मे पाई जाती है वैसी अन्यत्र कही नही है। भगवान् के विराट् रूप की कल्पना का आरम्भ ऋग्वेद के पुरुप सूक्त से होता है। वहाँ कहा है कि विराट् पुरुप के मन से चन्द्रमा, नेत्रो से सूर्य, मुख से इन्द्र-अग्नि, प्राण से वायु, नाभि से अन्तरिक्ष, मस्तक से द्युलोक, पैरो से पृथ्वी, कानो से दिशाएँ और उसी प्रकार दूसरे अगो से भिन्न-भिन्न लोको का निर्माण हुआ (ऋग्वेद १०।९०।१३-१४)। विराट् का अर्थ है, महिमा या समष्टि-गत विश्वात्मक रूप। इसके मूल मे वैदिक सृष्टिविद्या की यह कल्पना है कि विश्व का निर्माण करने वाले प्रजापति के दो रूप है, एक अनिरुक्त, अपरि-मित, अमूर्त और अनन्त, दूसरा निरुक्त, परिमित, मूर्त और सान्त। पहला रूप अव्यक्त और दूसरा व्यक्त है। व्यक्त रूप मे प्रकृति या प्रधान की सत्ता है। और अव्यक्त रूप मे उससे ऊपर पुरुप की सत्ता है। पुरुप और प्रकृति के सम्मिलन से ही विश्व का निर्माण हुआ है।

इन्ही दो तत्त्वो की और भी कई सज्ञाएँ है, जैसे अनन्त पुरुप को सहस्र-शीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात् पुरुप भी कहा गया है, जब कि प्राकृत जगत् केवल दशागुल मात्र है। अव्यक्त, और व्यक्त का पारस्परिक सम्बन्ध

यह भी है कि पुरुष प्राकृत जगत् में व्याप्त रहकर भी उससे ऊपर है। दूसरे पुरुष अमृत और प्रकृति मर्त्य है। पुरुष को त्रिपात् और प्रकृति को उसकी उपेक्षा एकपात् कहा जाता है। पुरुष ऊर्ध्व और जगत् पुन पद या इह कहलाता है। उसे ही अव या अवर भी कहते है। पुरुष की सत्ता सबसे ऊपर होते हुए भी वह अपने ही भीतर से अपनी असामान्य शक्ति के द्वारा जिस विश्व को उत्पन्न करता है उसकी सज्ञा विराट् है। विश्व के निर्माण का और कोई हेतु नही, वैदिक शब्दो में वह पुरुष की माया या स्वधा शक्ति है। इसे ही पुराणो मे क्रीडा या लीला कहा गया है।

विश्व या विराट्

विश्व की ही सज्ञा विराट् है जिसे वेदो मे महिमा कहा है। 'एतावानस्य महिमा' अर्थात् इतना बडा जगत् जो स्थूल और सूक्ष्म रूपो मे जाना जाता है वह सब पुरुष या ब्रह्म की महिमा है। वह महिमा ही विराट् प्रकृति है।

उस अनन्त पुरुष को सकेत से तत् और 'इस विश्व को इद सर्वम्' कहा जाता है 'तत् त्वमसि' इस वाक्य मे तत् शब्द उसी परम पुरुष की ओर सकेत करता है। उस तत् सज्ञक ईश्वर तत्त्व से जिस महिमा या महत् या विश्व का जन्म होता है वही विराट् है—ततो विराडजायत। वैदिक सृष्टि विद्या के अनुसार तत् या ब्रह्म पुरुष सृष्टि का पिता है और महत् या विराट् उसकी माता है। इसी महत् ब्रह्म को गीता में योनि भी कहा है, अर्थात् यह विश्व को जन्म देने वाली माता है। इसमें स्वयभू पिता के रूप में गर्भाधान करता है, और उससे अनेक प्रकार की मूर्तियो या रूपो का जन्म होता है (मम योनिर्महद् ब्रह्म)।

संभव. सर्वभूताना ततो भवति भारत।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तय सभवन्ति या. ॥
तासा ब्रह्म महद्योनिरह बीजप्रद. पिता (१४-३-४)।

इस प्रकार ईश्वर अपने भीतर से जिस विराट् विश्व को जन्म देता है उसमें अपनी प्रचण्ड शक्ति की भरपूर मात्रा उडेल देता है। वस्तुत उसकी

जिन सीमित मात्राओ को लेकर पचीकरण प्रक्रिया चलती है उन्हे तन्मात्रा कहते हैं। रूप, रस, गध, स्पर्श, ये सव परम पुरुष ईश्वर की विश्व मे आई हुई पाच मात्राएँ हैं। इनसे ही जगत् के पच भूतो का निर्माण हुआ है। और इन्ही दसो को जानने और भोगने के लिए व्यक्ति के शरीर मे दस इन्द्रियो का विकास हो जाता है। इस प्रकार विश्व में और शरीर मे इन सभी तत्त्वो का एक शक्तिशाली गुट पैदा हुआ है और अपना काम कर रहा है। प्रत्येक प्राणी को भौतिक शक्ति का यह पुज प्राप्त हुआ है, पर उसकी मात्रा सीमित है। इसलिए उससे कोई आश्चर्यनही होता और निर्वाध गति से चलने वाले रथ की भाँति इन वीस तत्त्वो से वना हुआ यह शरीर-चक्र चला जाता है। सच तो यह है कि इन्ही वीसो के साथ मन वुद्धि और अहकार, इन तीन की शक्ति और जुडी रहती है। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी या तेईस तत्त्वो का शरीरधारी पुतला विश्व रचना का एक सौम्य अग वना हुआ है।

ईश्वर की प्रचड शक्ति

किन्तु इस सौम्य रचना के पीछे ईश्वर की एक ऐसी प्रचण्ड शक्ति छिपी हुई है जिसकी कल्पना से ही मनुष्य के होशहवास गुम हो जाते हैं। उसका कुछ रूप वायु के अवड-ववण्डरो मे, धरती को डावाडोल करने-वाले भूचालो में, आकाश को चीर डालने वाली विजली की कडक मे, चन्द्रमा और सूर्य को भी छिपा देने वाले खग्रासो मे, एव खगोल मण्डल के धूमकेतु और उल्का रूपी अनेक उत्पातो में दिखाई पडता है। कुशल है कि ये घटनाएँ क्षणिक ही होती हैं। पर्वतो को उडा देने वाला, समुद्र के जलो को मथ देने वाला, वृक्षो और नदियो को उलट देनेवाला प्रभजन वायु क्षण भर के लिए सामने आता है और फिर वही शान्त हो जाता है। भगवान् के इस सौम्य रूप की सज्ञा चतुर्भुजी रूप है। पर इनकी जो अनन्त शक्ति है उसे सहस्र-भुजी रूप कहा गया है।

मनुष्य की सीमित मात्राओ में वह शक्ति नही है कि विराट् रूप का दर्शन

कर सके। हमारे सीमित मस्तिष्क में विश्व का सम्पूर्ण ज्ञान आने लगे तो अवश्य ही मस्तिष्क का विस्फोटन हो जायगा। इसी का प्रतीक है 'हुम्फट्'। हमारे नेत्र केवल थोडी-सी किरणों से ज्योति ग्रहण कर पाते हैं। यदि सूर्य की सहस्र या अनन्त किरणें इन नेत्रों में आने लगे तो ये चर्म-चक्षु अपनी सत्ता ही खो बैठेंगे। ऐसे ही कानों को कुछ गिनी हुई ध्वनि-तरंगे ही सुनाई पडती है, विश्व के महानाद को ग्रहण करने के लिये मानव की सुनने की शक्ति अति तुच्छ है। इसी प्रकार हमारी भूख केवल पाव भर अन्न स्वीकार करती है, पर विश्व में तो अन्न के पहाड लगे हुए हैं। तात्पर्य यह कि मनुष्य का स्वरूप सब ओर से अत्यन्त सीमित है और यही उसकी जीवन सत्ता का हेतु है। किन्तु मानव का मन बडा भारी यक्ष है। जो सम्भव नहीं है यह उसके साथ भी छेड-छाड करना चाहता है। यही हालत अर्जुन की भी हुई।

जब कृष्ण ने बहुत तरह से अपनी विभूतियों का बखान किया तो अर्जुन के मन रूप यक्ष ने एक उत्कट-नाटक खेला। उसने कृष्ण से कहा कि आपने विस्तार से अपनी महत्ता का और प्राणियों के जन्म और विनाश का जो वर्णन किया यदि उसमे यथार्थता हो तो आपका वह ईश्वरी रूप मै देखना चाहता हूँ। यदि आप ठीक समझें और उसे दिखा सके और मैं उसे देख सकूँ तो हे योगेश्वर, मुझे उसे दिखाइए।

दिव्य दृष्टि क्या ?

अर्जुन का इतना कहना था कि कृष्ण ने ईश्वर के आश्चर्यों का भण्डार उसके सामने खोल दिया। पर इतना अवश्य कहा कि तुम्हारा यह सीमित चर्मचक्षु इस आश्चर्यमय रूप को देखने में समर्थ नही है। इसलिए मै तुम्हें दिव्य चक्षु देता हूँ। यह दिव्य चक्षु क्या है ? मनुष्य के भौतिक शरीर मे मन ही देवता है, जैसा ऋग्वेद मे कहा है—देव मन कुतो अधि प्रजातम् (१।१६४।१८)। इसलिए मन की जो शक्ति है वही यह दिव्य चक्षु है। भगवान् ने अर्जुन के मन को अपनी महती मन शक्ति से भीतर-बाहर से छा लिया।

विराट् रूप

तव अर्जुन के सामने वह ईश्वरी रूप प्रत्यक्ष आ गया जो सव आश्चर्यो का स्थान है, जो अनन्त है, जिसमें अनेक मुख और अनेक नेत्र है, जिसमें सव देवता और सवलोक है। उसकी चमक देखकर उसे ऐसा जान पडा मानो एक सूर्य तो क्या सहस्रो सूर्यों की भी प्रभा उसके सामने कुछ नही है। अग्नि और विजली के सामान्य तेज विचिलित हो गए। न उस रूप का आदि था न अन्त। चन्द्रमा और सूर्य तो उसके छोटे-से नेत्र थे। समस्त त्रिलोकी उस सूर्य को देख कर भय खाने लगी। उस मुख की कराल डाढो को देखकर अर्जुन के मुख से निकल पडा—"महाराज, मेरे लिये ससार घूम रहा है। मेरी स्थिति ठीक नही है। आप का ही यह अत्यत विराट् रूप है। ये कौरव और ये पाण्डव आपके मुख में चले जा रहे है। कुछ दाँतो के वीच मे छिपे हुए है और उनके मस्तक चूर-चूर हो गए हैं। हे देव, इस उग्र रूप मे आप कौन है ? मै यह जानना चाहता हूँ, क्योकि मुझे आपके इस स्वरूप का पहले पता नही था।"

भगवान् ने अर्जुन के इस प्रश्न का जो उत्तर दिया वह एक शाश्वत उत्तर है—"मै काल हूँ। लोको का क्षय करने वाला हूँ। लोको का सहार करने के लिये आज रणभूमि मे आया हूँ। युद्धभूमि मे इकट्ठा हुए इन राजाओ को मै पहले ही मार चुका हूँ। तुम केवल निमित्त वन जाओ।"

इस स्थिति मे अर्जुन को कँपकँपी आ गई। वह हाथ जोड़ कर वारवार प्रणाम करने लगा। डर से उसकी घिग्घी वँध गई। और तव उसने उस विराट् रूप की पुन स्तुति करते हुए अपनी धृष्टता के लिए वार-वार क्षमा माँगी—"हे देव, आपको मै ठीक प्रकार नही समझ सका। अत्यन्त निकट होने के कारण कभी प्रमाद से और कभी स्नेह से मैने आपको कृष्ण यादव या सखा कह कर पुकारा है। और, इससे भी अविक भोजन के समय, विहार के समय या सोते समय हँसी मे आपका अपमान भी किया है। उस सवके लिये आज क्षमा चाहता हूँ, क्योकि मैने कभी नही जाना था कि

आप का स्वरूप इतना अधिक प्रभावशाली है। पिता जैसे पुत्र को, मित्र जैसे मित्र को, प्रियतम जैसे अपने प्रिया को क्षमा करता है वैसे ही आप मुझे क्षमा कीजिए। मेरा मन घवरा गया है, अतएव आप फिर वही अपना चतुर्भुजी सौम्य रूप दिखाइए।"

इसके वाद भगवान् ने अर्जुन के व्याकुल मन को ठीक करने के लिए आश्वासन के कुछ शब्द कहे—"हे अर्जुन! मैंने तो अपनी प्रसन्नता से तुझे यह रूप दिखाया। इससे पहले और किमी ने मुझे इस तरह नही देखा था। चाहे जितना वेद पढो, यज्ञ करो, स्वाध्याय करो, दान दो और तप करो, उन सबसे मेरे इस विराट् रूप को देखना सम्भव नही। मेरे इस घोर रूप को देखकर तुम डरो या घवराओ मत। अच्छा, अव इस काण्ड को समाप्त समझो और फिर मेरा वही सौम्य रूप देखो।" इतना कहकर महात्मा कृष्ण फिर अपने उसी सौम्य रूप में आ गए और उन्होंने डरे हुए अर्जुन को ढाढस दिया। अर्जुन ने कहा—"आपका यह सौम्य मानुषी रूप देखकर मेरा चित्त पुन स्थिर हो गया है।" भगवान् ने अन्तिम रूप से अर्जुन को पुन समझाया—"हे अर्जुन! केवल असाधारण भक्ति से ही मेरे इस परम रूप का ज्ञान और दर्शन मिल सकता है। इसलिए मेरे भक्त वनो। मुझे ही परम देव समझो। मेरे लिये ही कर्म करो। और, सव प्राणियो में द्रोह का त्याग करो।"

वारहवा अध्याय—भक्तियोग

भक्ति-योग नामक वारहवें अध्याय में अर्जुन ने भक्तो के सम्वन्ध में प्रश्न किया कि सगुण भगवान् या ईश्वर की पूजा करने वाले और अव्यक्त अक्षर तत्त्व की पूजा करने वाले, इन दो प्रकार के भक्तो में कौन श्रेष्ठ है।

सगुण-निर्गुण पूजा

इस प्रश्न का उत्तर उतने ही निश्चित शब्दो मे दिया गया है, अर्थात् जो साक्षात् सगुण ईश्वर में मन लगाकर उसकी उपासना करते है और

जिनके मन में श्रद्धा है वे उत्तम है। अव्यक्त की उपासना या ध्यान सबके लिये सुलभ नही, वह कठिनाई से ही हो पाता है। और फिर, अव्यक्त और व्यक्त के पचडे मे पडना उचित नही। क्योकि निराकार की उपासना का फल भी वही है जो सगुण भगवान् की उपासना का है।

भक्ति का लक्षण

अब भक्ति का लक्षण बताते हुए कहा कि भक्त को चाहिए अपने सब कर्मों का अर्पण भगवान् को कर दे और भगवान् का ही ध्यान करे। मन, चित्त और बुद्धि इन तीनो को यदि ईश्वर मे ठहरा दिया जाय तो मनुष्य के लिए भगवान् ही उसका निवास-स्थान बन जाता है।

भक्ति-साधना के कई मार्ग

इसके वाद साधना की कई सीढियो का वर्णन किया गया है। उनमें पहली सीढी यह है कि यदि ईश्वर मे चित्त स्थिर न होता हो तो उसे स्थिर करने के लिए अभ्यास करना चाहिए। उससे ईश्वर की प्राप्ति सभव है। यदि कोई चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास भी न कर सके तो दूसरा उपाय यह है कि जो कुछ कर्म मनुष्य करे उसे ईश्वर पर छोड़ दे। ईश्वर को अपना कर्म सौप देने से सिद्धि की प्राप्ति सभव है।

यदि यह भी न वन पडे और ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा वनी ही रहे तो जो कुछ कर्म किए जाते है उनके फल का त्याग करना सीखना चाहिए। अभ्यास से उत्तम ईश्वर का मन मे ध्यान या प्रत्यक्ष दर्शन है। ज्ञान से वढकर भक्ति-पूर्वक ध्यान है, और ध्यान से कर्मफल का त्याग उच्च है। कर्म-फल के त्याग से शान्ति मिलती है।

यहाँ ऐसा विदित होता है कि ज्ञान, अभ्यास, ध्यान, और कर्म-फलत्याग ये चार उपाय है, जिनमे से अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार किसी का भी अवलम्बन लिया जा सकता है। गीता की जो समन्वयात्मक दृष्टि है उसके अनुसार एक मार्ग की निन्दा और दूसरे मार्ग की प्रशसा गीता को इष्ट नही।

भक्त के लक्षण

इसके अनन्तर भक्त के लक्षण बताए गए हैं। भगवान् का जो भक्त होता है, वही उन्हें प्रिय है। ऐसा व्यक्ति किसी प्राणी से वैर नही करता। वह सब के प्रति मैत्री की भावना रखता है। उसके मन में करुणा या दया की भावना रहती है। वह अपने या पराये के साथ ममता या द्वेष नही रखता। उसमें अहकार का भाव नही होता। दु ख और सुख में उसकी एक समान चित्त-वृत्ति रहती है। वह क्षमाशील रहता है। वह अपनी आत्मा को सयम में रखता है। उसका निश्चय दृढ होता है। वह अपने मन और बुद्धि को ईश्वर में अर्पित कर देता है। ऐसा व्यक्ति जहाँ भी हो वह समाज के लिए बडी निधि है। वह प्रकाश का केन्द्र होता है और अपने जीवन से दूसरो के कष्ट को दूर करता है। ऐसा ही विशिष्ट चरित्रवान् व्यक्ति ईश्वर को प्रिय है। वह लोक से भागता या घबराता नही। लोक-सघर्ष के बीच रह कर ही जीवन की सफलता ढूढता है। ऐसे व्यक्ति को पाकर लोक उसकी ओर खिंच आता है। जो हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग से रहित होता है वही ईश्वर को प्रिय है।

इसके अतिरिक्त और भी भक्त के लक्षण कहे गए हैं। जैसे वह किसी वस्तु को अपने लिए नही चाहता। वह मन, कर्म और व्यवहार से शुचि एव शुद्ध होता है। वह कर्म करने में चतुर होता है। वह उदासीन या निर्लेप होता है। उसे व्यथा नही होती। वह किसी भी प्रकार से लडाई-झगडे में नही पडता। हर्ष और द्वेष, शोक और इच्छा, शुभ और अशुभ इन बातो से वह ऊपर रहता है। शत्रु और मित्र, मान और अपमान, शीत और उष्ण, सुख और दु ख इन द्वन्द्वो के बीच में वह एक समान रहता है। उसके लिए निन्दा और स्तुति एक जैसी हैं। वह प्राय मौन रहता है। उसे जो कुछ मिल जाता है उसी से सन्तुष्ट रहता है। वह अपने लिए बडा घर या महल नही बनाता। उसकी बुद्धि जिस काम को लेती है उसमें स्थिर रहती है।

इस प्रकार जो यहाँ भक्त के चालीस लक्षण बताए गए है वे सब वही है जो एक परिपूर्ण मानव के लिए आवश्यक है। मनुष्य की पूर्णता के लिए इनके अतिरिक्त फिर कुछ रह ही नही जाता। दूसरे अध्याय में स्थितधी पुरुष के जो लक्षण कहे है वे लगभग यही है। गुणो के आधान का यह एक नया सिद्धान्त भागवत आचार्योने बताया था। श्रीमद्भागवत के अनुसार स्वय विष्णु भगवान् गुणो के महापात्र है। गुणो को रखने के लिए उससे बडा बर्तन दूसरा नही है। भागवत ने भी चरित्र के उन्तालीस गुणो की एक सूची दी है जो इस प्रकार है—

सत्य, शौच, दया, शान्ति, त्याग, सन्तोष, आर्जव (स्वभाव की सिधाई), श्रम, दम, तप, साम्य, तितिक्षा, उपरति, श्रुति, ज्ञान, विरक्ति, ऐश्वर्य, शौर्य, तेज, बल, स्मृति, स्वातन्त्र्य, कौशल, शान्ति, धैर्य, मार्दव, प्रागल्भ्य, शील, प्रश्रय, सह, ओज, बल, भग, गाभीर्य, स्थैर्य, आस्तिकता, कीर्ति, मान, अहकार (भागवत १।१७।२६–२८)।

ये भगवान् के महागुण है। जो मनुष्य अपना महत्त्व चाहे उसे इन्हे धारण करना चाहिए। भगवान् विष्णु स्वय इन गुणो के पात्र है। इस प्रकार स्पष्ट बात यह है कि बिना गुणो को धारण किये हुए कोई भी धर्म का मार्ग पकड मे नही आता। गीता का यह दृष्टिकोण प्रज्ञा-दर्शन के अगरूप है।

तेरहवां अध्याय—क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार

तेरहवे अध्याय का नाम क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-योग है। इस अध्याय से गीता एक ऐसे क्षेत्र मे उतरती है जहाँ प्राचीन वैदिक परिभाषाओ की भरमार है। उदाहरण के लिये तेरहवे अध्याय मे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार है। चौदहवे मे तीन गुणो का विचार है। पन्द्रहवे मे क्षर और अक्षर और अव्यय इन तीन पुरुषो का विचार है। सोलहवे मे दैव और आसुरी इन दो प्रकार की सृष्टियो का विचार है। सत्रहवें मे तीन प्रकार की श्रद्धाओ की व्याख्या की गई है। अठारहवे अध्याय मे पुनः

कई विभिन्न परिभाषाओं पर ध्यान दिया गया है। अध्यात्म शास्त्र की दृष्टि से गीता के इन छः अध्यायों का पर्याप्त महत्त्व है। इनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि गीताकार के विचारों का मूल स्रोत सांख्य तत्त्व दर्शन और वेदों के साथ मिला हुआ था। ऐसा स्वाभाविक है कि क्योंकि गीता जैसा विशिष्ट शास्त्र स्वतन्त्रात्मिक चिन्तन का परिणाम नहीं। इसके पीछे भारतीय धर्म और दर्शन की लम्बी परम्परा थी। इसीलिए तो किसी विचारशील व्यक्ति ने गीता के दूध को उपनिषद् रूपी गायों से दुहा कहा है, जैसा हम पहले कह चुके हैं। उपनिषद् का अर्थ वेदों और ब्राह्मणों की अनन्त प्राचीन परम्परा से ही था।

तेरहवें अध्याय की नेपाल, काश्मीर और बंग देश की प्रतियों में प्रायः यह श्लोक अधिक मिलता है।

> प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च,
> एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव (बेल्वेल्कर, १३।२)।

दक्षिणात्य प्रतियों में यह श्लोक प्रायः नहीं है। कहीं कहीं यह बारहवें अध्याय के अन्त में मिलता है। शांकर भाष्य में भी यह नहीं है। किन्तु श्लोक के मिलने या न मिलने से कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि तेरहवें अध्याय का जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ सम्बन्धी विषय है वही इस श्लोक में दुहराया गया है। पुराणों की स्पष्ट परिभाषा के अनुसार क्षेत्रज्ञ संज्ञा पुरुष या परमेश्वर की है और क्षेत्र संज्ञा प्रकृति की है।

क्षेत्र—क्षेत्रज्ञ विचार की प्राचीनता

यह स्मरण रखना चाहिए कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ सम्बन्धी यह विचार कुछ नया न था। हमें ऋग्वेद में सर्वप्रथम इन शब्दों का परिचय मिलता है।

> अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः।
> एतद्वै भद्रमनुशासनस्योत स्रुतिं विन्दत्यञ्जसीनाम् ॥
> (ऋ० १०।३२।७)

यहा स्पष्ट कहा है कि जो क्षेत्र को नही जानता वह क्षेत्रविद् या क्षेत्रज्ञ से उसके विषय में प्रश्न करता है। क्षेत्रज्ञ उसे जो उपदेश देता है उसे प्राप्त करके वह प्रसन्न होता है। इस विपय के अनुशासन या उपदेश मे इतना कल्याण भरा हुआ है कि जिसे उपदेश दिया जाता है वह शीघ्र ही ठीक मार्ग प्राप्त कर लेता है। इस मन्त्र के क्षेत्रविद् और अक्षेत्रविद् शब्द अध्यात्मशास्त्र से ही सम्बन्ध रखते है। कालान्तर मे उसी विद्या की परम्परा चलती रही। ऋग्वेद ५।४०।५ मे भी अक्षेत्रविद् शब्द आया है और वहाँ क्षेत्र का ज्ञान न रखने वाले व्यक्ति को मुग्ध अर्थात् मूढ कहा गया है। इसी से निकला हुआ अक्षेत्रज्ञ शब्द पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे दिया है, जिससे भाववाचक शब्द अक्षेत्रज्ञ्य बनता था (अष्टाध्यायी, ६।३।३०)। ७।३।३० सूत्र मे क्षेत्रज्ञ शब्द का प्रयोग दिया है, 'जिससे उसका उलटा अक्षेत्रज्ञ शब्द बनता था और उसी का भाववाचक रूप अक्षैत्रज्ञ्य था।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार बहुत प्राचीन था इस बात को स्वयं गीताकार ने भी स्पष्ट रीति से कहा है। उन्होने स्वीकार किया है कि अनेक ऋषि वैदिक मन्त्रो मे इस प्रकार के विचार प्रकट करते रहे और उसके बाद ब्रह्म-सूत्र मे भी इसी तरह की क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विद्या का प्रतिपादन हुआ।

अतएव गीताकार का स्वाभाविक अभिप्राय यह है कि गीता मे भी यह विपय वही से लिया गया था।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ सम्बन्धी विद्या का बहुत विस्तार था और पुराणो मे बार-बार इसका उल्लेख किया गया है। उसका सक्षिप्त और सार-गर्भित परिचय गीता मे केवल एक श्लोक मे बता दिया है—

> महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
> इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः॥ (१३।५)

किन्तु इससे पहले कि हम गीता के इस श्लोक की व्याख्या करे यह आवश्यक है कि वेदान्त-शास्त्र के ब्रह्म-सूत्रो मे जिसका प्रमाण गीता ने दिया है, जो यह विपय है, उसका भी कुछ परिचय दे दे।

ब्रह्मसूत्रो मे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार

ब्रह्म-सूत्र के दूसरे अध्याय के तीसरे पाद के पहले तेरह सूत्रो में पाँच महाभूतो पर विचार किया गया है, कि किस प्रकार सूक्ष्म से स्थल रूप मे उनका विकास होता है। चौदहवे सूत्र मे प्रलय या प्रतिसचर काल में जिस प्रकार वे स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढते हुए एक दूसरे मे लीन होते जाते हैं उसका सकेत किया गया है। उसे वे विपर्यय कहा है। फिर पन्द्रहवें सूत्र मे विज्ञान अथवा बुद्धि और मन इन दोनो की उत्पत्ति का उल्लेख है। फिर सोलहवें सूत्र के अन्तिम तिरपनवें सूत्र तक जीव और ईश्वर तत्त्व का विचार है। इस प्रकार ब्रह्म-सूत्रो के इस पाद में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विषय प्रतिपादित हुआ है। इस पर वाद के दार्शनिको ने तर्क और वितर्क के द्वारा विस्तृत उहापोह किया है जो अनुसधान का पृथक् विषय है।

गीता मे क्षेत्र का विचार

अब गीता के क्षेत्र-स्वरूप पर विचार करना चाहिए। गीताकार नें ऊपर लिखे पाँचवें श्लोक में जिस तरह तत्त्वो का परिगणन किया है वह इतना सरल और स्पष्ट है कि उसे देखकर आश्चर्यमय आनन्द होता है। गीताकार ने जो तत्त्व गिनाए है वे साख्य शास्त्र के तेईस तत्त्व हैं—

महाभूतान्यहकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचरा. ॥
इच्छा द्वेष. सुखं दु ख सघातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥

(१३।५-६)

क्षेत्र के इस स्वरूप को बहुत स्पष्टता से एक बार समझ लेना चाहिए, क्योकि यह भारतीय दर्शन का निचोड है और वेद, वेदान्त, साख्य, एव अनेक पुराणो में इसे वार-वार दुहराया गया है। और, कई बार तो नई-नई सज्ञाओ का भी प्रयोग हुआ है। गीता में इसे ही अपरा प्रकृति भी कहा है। यह क्षेत्र प्रकृति की सज्ञा है। इससे जो ऊपर क्षेत्रज्ञ है वह

पुरुप है। पुराणो मे क्षेत्र को अण्ड-सृष्टि कहा है और उस अण्ड को वार-म्वार प्राकृत अण्ड कहा है। इस प्राकृत अण्ड के मूलभूत सात आवरण है, जैसे महत् '२ अहकार, और ३-७ पाँच तन्मात्राए।

इन सातो से २३ तत्वो का विकास इस प्रकार हो जाता है--

१. महत् (जिसे वुद्धि भी कहते है)।

२ मन (स्थिर विज्ञान की सज्ञा वुद्धि और चचल विज्ञान की सज्ञा मन है)।

३ अहकार

४–८ पाँच तन्मात्राएँ (शव्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध)।

९–१३ पाँच कर्मेन्द्रियाँ

१४–१८ पाँचज्ञा नेन्द्रियाँ

१९–२३ ' पाँच महाभूत

इन तेइस तत्त्वो के समूह को त्रयोविंशक कहा जाता है। इन्ही म अव्यक्त (जिसे प्रवान या प्रकृति) जोड देने से तत्त्वो का चतुर्विंशक गण वन जाता है। यही गीता के श्लोक मे तत्त्वों की गिनती है। इन २३ जड तत्त्वो के मिलने से जो पुतला वनता है वही अपरा प्रकृति है। अपने आप मे यह जड, चेतना शून्य और चेष्टाहीन है। जव पुरुप से इसका सयोग होता है, तव इसमे चेप्टा या प्राण का प्रवेश हो जाता है। उसी की सज्ञा जीव है और उसे ही दार्शनिक भापा में परा प्रकृति कहते है। वह ईश्वरका अश माना जाता है। जीव को लक्ष्य मे रखकर यहाँ कुछ गुण कहे गये है, जैसे इच्छा-द्वेप, सुख-दु ख, सघात-वृत्ति और चेतना। ये सव जीव के लक्षण है। सघात का एक अर्थ मृत्यु ही है, जो जीव के शरीर मे प्रवेश करने और निकल जाने से ही सभव होती है। धृति जीव का स्वाभाविक गुण है, क्योकि वही भूतो को धारण करने वाला है और स्वय पचभूतो के समुदाय रूपी शरीर या कूट पर स्थित रहता है। अक्षर, प्राण या जीव ही भूतो की सच्ची विभूति है, उसी के वल से पचभूत इकट्ठे वने रहते है। जीव के हटते ही भूत विखर जाते है। उस जीव का स्वरूप चेतना है, जैसा देवी-माहात्म्य मे कहा "

या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते (देवीमाहात्म्य, ५।१३)।
यह चेतना विष्णु की माया या शक्ति कही गयी है। दूसरे शब्दो में यही पुरुष तत्त्व का चिदश या प्राणाश है। इसे ही हिरण्यगर्भ, हस, ब्रह्मा, सवित् आदि कितने ही नामो से भारतीय धर्म में कहा गया है।

इस प्रकार अपरा प्रकृति अर्थात् भौतिक शरीर और उसमें रहने वाला जीव इन दोनो की सम्मिलित सज्ञा क्षेत्र है। यह स्मरणीय है कि इसी क्षेत्र में पच भूतो के अलावा मन और बुद्धि का भी निवास है। किन्तु वे दोनो भी जड और प्राकृत हैं। उनके अतिरिक्त चैतन्य तत्त्व जीव है, यदि जीव न हो तो बुद्धि और मन का सूक्ष्म व्यापार नही चल सकता।

गीताकार ने पाँचवें श्लोक में अव्यक्त को भी एक तत्त्व माना है और उनको क्षेत्र की परिभाषा में गिना है। वस्तुत प्रधान या प्रकृति की सज्ञा ही अव्यक्त है। सात आवरणो के रूप में विकसित होने से पहले प्रकृति की जो अमूर्त्त अवस्था है, उस के लिए ही अव्यक्त शब्द है। उसे कभी कभी अलग तत्त्व ही मान लेते हैं और तव मन को अलग न गिन कर अव्यक्त, वुद्धि, अहकार के साथ महाभूतादि २० तत्त्वो को जोड कर तेईस तत्त्व माने जाते हैं। उनके लिए पुराणो में त्रयोविंशक सज्ञा का प्रयोग पाया जाता है। इसी के साथ २४वाँ जीव मिलकर चतुर्विंशक तत्त्व हो जाते हैं। उसी में पचीसवाँ ईश्वर भी मिला दिया जाय तो उनकी सख्या पचविंशक हो जाती है। इस प्रकार तत्त्वो की गिनती के आधार पर साख्य शास्त्र मे कई सज्ञाएँ पाई जाती है। ये नाम पुराणो में आये हे और विषय को स्पष्ट करने के लिये छोटे-छोटे शीर्षको का काम देते हैं। कहा भी है—साख्य सख्यात्मकत्वात्, अर्थात् जिस शास्त्र में तत्वो का विश्लेषण करके उनकी गिनती कर ली गई हो उसका नाम साख्य शास्त्र है।

प्रकृति के सात अवयव और तीन गुण

ऊपर कहा जा चुका है कि वुद्धि, अहकार और पच तन्मात्राओ का सप्तक प्राकृत है, अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न होता है। किन्तु प्रकृति को तो

तीन गुणो वाली माना गया है। प्रश्न होता है कि उन तीन गुणो के साथ इन सात तत्वो का क्या सम्बन्ध है? इसका उत्तर नितान्त स्पष्ट रीति से पुराणो में दिया है, वह इस प्रकार है—बुद्धि का सम्बन्ध सत्व गुण से है, अहकार का रजोगुण से और पचतन्मात्राओ या पचमहाभूतो या तमोगुण से। इन्ही के लिये पुराणो में तीन शब्द और आये है—वैकारिक, तैजस और तामस। यहाँ वैकारिक का अभिप्राय है बुद्धि या मन, तैजस का अभिप्राय है प्राण, और तामस का अभिप्राय है पच महाभूत। इसी को तालिका रूप मे यो कह सकते हैं।

१ सत्त्व गुण—वैकारिक—बुद्धि या मन

२. रजो गुण—तैजस—प्राण—अहकार

३ तमो गुण—तामस—पचमहाभूत या जिन्हे विशेष भी कहते है।

बुद्धि का नाम महत् है। चैतन्य पुरुष के भीतर सृष्टि की कामना का उदय, यही बुद्धि तत्त्व या महत् तत्त्व है। प्रजापति की बुद्धि मे समस्त सृष्टि का अन्तर्भाव है। बुद्धि के जन्म के साथ ही सृष्टि का जन्म हो जाता है। यह सतोमयी स्थिति है। इसे व्यक्त या प्रकट रूप मे लाने के लिए चेष्टा, क्रिया या रजोगुण की आवश्यकता है। रजोगुण के व्यापार या क्रिया के साथ ही पचभूत या तामसी सृष्टि बनने लगती है। इसे तामसी इसलिए कहते है क्योकि इसमें चेतना को ढक लेने या आवरण कर लेने का गुण है।

अब प्रश्न यह है कि एक ओर प्रकृति का आवरण या तमोगुण है और दूसरी ओर जीव का रजोगुण है। इन दोनो मे जन्म भर रस्साकशी हुआ करती है। जीव प्रकृति का अधिकार चाहता है और प्रकृति जीव को अपनी मुट्ठी मे रखना चाहती है। इसी कशमकश के कारण इच्छा, द्वेष, सुख, दु ख इन भावो का जीव को अनुभव करना पड़ता है। उसकी विलक्षण स्थिति होती है। प्रकृति के भोग या पच विषय जब जीव को नही मिलते तो दु ख जान पड़ता है, और जब मिल जाते है तो पहले सुख पर पीछे दु ख होता है। क्षणिक वुद्धि से जीव उन्हे पाकर सुख मानता है। यह सुख दो प्रकार का

है, एक बाहरी और दूसरा भीतरी । बाहरी सुख तो विषय के स्पर्श से इन्द्रियो को मिलता है, क्योकि हरएक विषय को भोग करने वाली एक-एक इन्द्रिय प्रकृति की रचना से इस शरीर में विद्यमान है । दूसरा भीतरी सुख अन्त करण को प्राप्त होता है । करण का अर्थ है इद्रिय और अन्त-करण का अर्थ है भीतर की इन्द्रिय । वस्तुत यह अन्त करण मन ही है । उसे ही भोगो का सुख मिलता है । इन्द्रियो के भोग तो थोडी ही देर के बाद चले जाते है, किन्तु मन में अपना सस्कार छोड जाते हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहकार ये चारो मन के ही भेद हैं। और इन्हे अहकार चतुष्टय भी कहा जाता है ।

ज्ञान और अज्ञान का विवेचन

इस प्रकार क्षेत्र अर्थात् शरीर और जीव इन दोनो का पारस्परिक द्वन्द्व जब सामने आया तब गीताकार के लिए यह बताना आवश्यक हुआ कि ऐसी कौन सी चित्त-वृत्ति या रहन-सहन है जिसके द्वारा इन्द्रियो के विषय जीव के ऊपर अपना अधिकार न जमाने पावें । इसी दैवी शक्ति से परिपूर्ण या उत्तम विचारो से भरी हुई रहन-सहन को गीताकार ने पाँच श्लोको मे (१३।७–११) बताया है ।

उनका कहना है कि ये सद्‌गुण ज्ञान का रूप है और इसके विपरीत जो जीवन है वह अज्ञान है ।

ज्ञान की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

१. मान या अहकार का न होना, २ दम्भ या पाखण्ड का न होना ३ अहिंसा, ४ शान्ति या क्षमा, ५ आर्जव या हृदय का सीधापन या कुटिलता का अभाव, ६ आचार्य या गुरुजनो के प्रति उपासना या आदर का भाव, ७ शौच, ८ पवित्रता, ९ स्थिरता या दृढता, १० इन्द्रियो के विषयो मे वैराग्य, ११. अनहकार अर्थात् अपने बडप्पन का मद न होना, १२ जन्म, मृत्यु, बुढापा, भोग और दु ख इनमे जो दोष हैं उनको भली प्रकार समझना, १३ अनासक्ति, १४ पुत्र, स्त्री, घर आदि में बहुत ममता

का न होना, अर्थात् इन सवके साथ रहना किन्तु उनमे लिपटना नही, १५. इष्ट और अनिष्ट चाहे जैसी घटना घटित हो उसमे अपने चित्त को सम भाव मे रखना, १६ ईश्वर की अनन्य भक्ति, १७ एकान्त स्थान मे रहना, भीड-भडक्के से अपने को अलग रखना, १६ आत्म-सम्वन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिये सदा प्रयत्न करना, २० तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए रुचि रखना। इन इक्कीस प्रकार के आचार या वृत्तियो को ज्ञान कहते है। यह सख्या केवल सकेत मात्र है। इसमे और भी अपनी बुद्धि के अनुसार मनुष्य घटा-वढा सकता है, क्योकि ज्ञान तो एक विशेष प्रकार के रहन-सहन का नाम है। वह जव मनुष्य मे आने लगती है, तो बहुत से सद्गुण अपने भीतर उत्पन्न हो जाते है। इसका फल यह होता है कि प्रकृति के विषयो का मनुष्य के मन पर जो धावा है, वह कमजोर पड़ जाता है। और विषयो के प्रति इन्द्रियोका जो खिचाव है, वह भी वैराग्य से हट जाता है। सच पूछा जाय तो सारे दर्शन का निचोड 'इन्द्रियसयम' ही है।

क्षेत्रज्ञ पुरुष

इस प्रकार क्षेत्र या प्रकृति के विपय मे प्रकृति से ऊपर उठने के लिए आवश्यक गुणो का वर्णन करके गीताकार ने क्षेत्रज्ञ पुरुप के विषय का संक्षेप में वर्णन किया है कि वह पुरुप ही वस्तुत ज्ञेय-तत्त्व या जानने योग्य है। प्रकृति को जानने का फल मृत्यु ही है, किन्तु पुरुप को जानने का फल अमृत है। उस तत्त्व को अनादि परब्रह्म कहते है। वह सत् और असत् इन परस्पर विरुद्ध कोटियो से ऊपर है। उसे चाहे निर्गुण कहे या गुणो का भोक्ता, वह असत् भी है और सवके भीतर भी है। उसमे सव इन्द्रियो के गुण है और किसी भी इन्द्रिय का गुण नही है। वह भूतो के भीतर और वाहर व्याप्त है, वह चर और अचर दोनो है, वह दूर भी है और निकट भी है, वह इतना सूक्ष्म है कि जाना नही जा सकता। वह प्राणरूप है। अतएव उसके सिर, मुह, आँखें, हाथ, और कान, पैर सर्वत्र है, क्योकि वह भौतिक देह से परिच्छिन्न नही है, वह सव भूतो में एक अविभक्त तत्त्व है और

भूतो के रूप मे अलग-अलग बँटा हुआ है। वह सबको ग्रसनेवाला और सबके ऊपर रहनेवाला तत्त्व है। ज्योतियो की ज्योति और अन्धकार से ऊपर तत्त्व वही है, ज्ञान और ज्ञेय उसी को कहना चाहिये और वही सबके हृदय या भीतरी केन्द्र में स्थित है। इस प्रकार गीताकार ने क्षेत्र अर्थात् प्राकृत शरीर और क्षेत्रज्ञ या पुरुष इन दोनो का स्पष्ट वर्णन किया है।

गीताकार पुरुष और प्रकृति इन दोनो को अनादि तत्त्व मानते हैं। किंतु जितने त्रिगुणमय विकार है वे सब प्रकृति से उत्पन्न होते है। कर्ता, करण और कार्य यह विभाग भी प्रकृति के कारण ही होते हैं। किन्तु सुख और दु ख इनका भोग करने वाला पुरुष है, जो प्रकृति के धरातल पर उतरकर प्राकृत गुणो का भोग करता है और जिस-जिस गुण का आश्रय लेता है, उस उसके अनुसार अच्छी और बुरी चीजो का ज्ञान प्राप्त करता है। मनुष्य शरीर में रहनेवाला भी पुरुष परमात्मा है। वह महान् ईश्वर है, वही जीवरूप में भोक्ता है, वही ईश्वर रूप में साक्षी है और वही भरण करनेवाला प्राण एव अनुमति देनेवाला मनस् तत्त्व है। इस प्रकार पुरुष को और प्रकृति को अलग-अलग पहिचानना चाहिये।

विवेक का मार्ग

इस प्रकार का विवेक प्राप्त करने के कई उपाय हैं। कोई ध्यान योग के द्वारा परमात्मा का आत्मा में दर्शन करते है। कोई शान्ति के द्वारा और कोई कर्मयोग के द्वारा ईश्वर को जानना चाहते है, और कोई स्वय न जानते हुए दूसरो से उसका मर्म पानकर भक्ति के द्वारा ईश्वर की उपासना करते हैं। वे सब वेद के मार्ग का आश्रय लेने के कारण मृत्यु के पार हो जाते है। जितने प्राणी चर और अचर रूप मे यहाँ है, वे सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के सयोग से बने हुए है। ईश्वर उन सबमें है और चाहे वे नष्ट हो जायँ किन्तु ईश्वर का नाश नही होता। जिसकी ऐसी दृष्टि बन जाती है कि कर्म प्रकृति के सत्त्व, रज,तम इन तीनो गुणो के कारण होते हैं, वह आत्मा को अकर्त्ता जान लेता है। जब इस प्रकार भूतो के पृथक् भाव को और उनमें

व्याप्त ईश्वर को मनुष्य पहचान लेता है तब कर्म करते हुए भी कर्म मे लिप्त नही होता। इसका उदाहरण सूक्ष्म आकाश है, जो सब जगह होने पर भी किसी बन्धन मे नही है। ऐसे ही यह आत्मा है, जो सब शरीरो मे विद्यमान होने पर भी कही भी लिप्त नही होता। जैसे एक सूर्य समस्त लोको को प्रकाश देता है, वैसे एक ईश्वर सब शरीरो मे आत्मा रूप से प्रकाश भर रहा है।

चौदहवॉ अध्याय--तीन गुणो का विवेचन

चौदहवे अध्याय का नाम गुणत्रय विभाग योग है। तेरहवे अध्याय मे प्रकृति का परिचय देते हुए बार-बार उसके गुणो का उल्लेख दिया गया है। अतएव तीन गुणो का विवेचन करना आवश्यक था। इस सम्बन्ध मे एक मूल बात यह कही गई है कि ईश्वर सष्टि का पिता है और प्रकृति माता है। लौकिक जीवन की उपमा लेते हुए पिता को बीजप्रद अर्थात् गर्भाधान करनेवाला कहा गया है और प्रकृति वह योनि है जिसमे बीज आधान किया जाता है। वेदो में प्रकृति शब्द का प्रयोग नही मिलता किन्तु उसके लिए माता, महत् और योनि शब्द आते है। जो महत् है वही महिमा या प्रकृति है, उसे ही विराज् और योनि और माता भी कहते है। उसे ही यहॉ गीता मे महद् ब्रह्म कहा गया है। यह सुन्दर परिभाषा स्मरणीय है।

ईश्वर के सम्पर्क से जब प्रकृति गर्भित होती है, तो उसमे प्रसुप्त पडे हुए गुण क्षुब्ध हो जाते है। गुणो की साम्यावस्था मूल प्रकृति है। क्षोभ से जब गुणो मे वैषम्य होता है, तो उसे ही विकृति समझना चाहिये। ये गुण सत्त्व, तम और रज कहे जाते है। केवल सत्त्व से और केवल तम से सृष्टि नही होती। सत्त्व प्रकाश की संज्ञा है और तम अन्धकार की। ये दोनो गुण एक दूसरे से अलग रहकर सृष्टि नही कर सकते। पर जब वे आपस मे टकराते है तो प्रकाश मे अन्धकार और अन्धकार मे प्रकाश भर जाता है। दूर क्यों जायँ अपने सामने नित्य होनेवाले रात और दिन के नाटक मे प्रत्येक क्षण हमे प्रकाश और अन्धकार के इस पारस्परिक मिश्रण का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। दिन का कोई भी मुहूर्त ले उसमे कुछ न कुछ अंश अन्धेरे का रहता

ही है। ऐसे ही रात के हरेक क्षण में अन्धेरे में उजाला मिला हुआ है। वेद की भाषा में इन्ही को मित्र और वरुण कहते है। मित्र प्रकाश की सज्ञा है और वरुण अन्धकार की। मित्र और वरुण के तेज से ही सृष्टि होती है। वह तेज उर्वशी या विराट् प्रकृति में सक्रान्त होता है और उससे मैत्रावारुणि वसिष्ठ का जन्म कहा जाता है। यह वसिष्ठ जीवन का आरम्भ करने वाले मूल भूत प्राण की सज्ञा है। उस प्राण में मित्र और वरुण या प्राणापान दोनो मिले होते है। यहाँ की परिभाषा में कहना होगा कि उस मूल भूत प्राण मे सत्त्व और तम् दोनो मिलकर एक नये गुण को जन्म देते है। जिसका नाम रजोगुण है। रजोगुण का अर्थ है गति अर्थात् सत्त्व और रज की आपस में टक्कर या दूसरे के प्रति खिचाव इसके कारण दोनो में से एक भी चैनसे नही बैठता। दोनो मधु-कैटभ के रूप में आपस में टकराने लगते हैं, तभी सृष्टि सम्भव होती है।

जैसा गीताकार ने कहा है, कर्म की सज्ञा ही रजोगुण है (रज कर्मणि भारत । १४।९) इस कर्म का स्वरूप राग, या खिचाव है। जब तक एक बिन्दु का दूसरे बिन्दु के प्रति आकर्षण नही होता, तब तक रजोगुण रूपी कर्म की सम्भावना नही होती। सत्त्व गुण अपने आनन्द और प्रकाश में या ज्ञान में अलग रहे तो कोई कर्म सम्भव नही होगा। ऐसे ही तमोगुण अपने प्रमाद अन्धकार और मूर्च्छा मे अलग रहे तो भी कर्म की प्रेरणा नही होगी। किन्तु जब सत्त्व तम की ओर या तम सत्त्व की ओर हाथ बढाता है, तब उन दोनो में एक राग या आकर्षण उत्पन्न होता है। वही दोनो को मिलाने वाला रजोगुण है। उस राग का नाम तृष्णा है (रजो रागात्मक विद्धि तृष्णासगसमुद्भव, १४।७)। यह वस्तु मुझे प्राप्त हो जाय, मेरा केन्द्र दूसरे के साथ जुड जाय, इस प्रकार की भावना तृष्णा है। ससार के सभी छोटे-बडे प्राणी ऐसी भावना से प्रेरित होकर कर्म करते हैं।

तीन गुणो के लक्षण

इस प्रकार तीन गुणो की सरल और स्पष्ट परिभाषा गीता के इस प्रकरण में पाई जाती है। अब आगे और भी स्पष्टता के लिये इन तीनो

गुणो के लक्षणो का विवेचन किया गया है। जब सब इन्द्रियो मे प्रकाश भरा हुआ जान पडे और उनमे आत्म-सयम से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का अनुभव हो, तो समझना चाहिये कि सत्त्व गुण बढा हुआ है

जब मन मे लोभ उत्पन्न हो, काम की ओर प्रवृत्ति हो चित्त में शान्ति न हो और उथल पुथल हो, बाहर की वस्तुओ में स्पृहा या लगाव हो तो समझना चाहिये कि रजोगुण बढा हुआ है।

जब मन मे अन्धकार-सा छाया रहे, कुछ भी काम करने को मन न करे, आलस्य और मूर्च्छा जकडे रहे, तो समझना चाहिये कि तमोगुण बढा हुआ है।

मन की वृत्ति इन्ही तीन गुणो मे रहती है और प्रत्येक व्यक्ति का जन्म भर पीछा करती है। यदि कोई सत्त्व गुण को लिये हुए मृत्यु पाता है, तो दूसरे जन्म मे उसे वैसी ही अच्छी परिस्थितियाँ मिलती है अर्थात् वह निर्मल ज्ञान और अतिउत्तम भोगो को प्राप्त होता है। जो रजोगुण के भावो को लेकर शरीर छोडता है वह अगले जन्म मे भी कर्म के मार्ग मे पडता है। जो तमो गुण में डूबा हुआ शरीर छोड़ता है वह दूसरे जन्म मे भी मोहग्रस्त बना रहता है और उसे ऊँचे कर्म या ज्ञान की प्रेरणा नही होती।

जो उच्चकोटि का कर्म है, उसका फल सात्त्विक ज्ञान है। जो निम्न कोटि का तृष्णायुक्त रजोगुणी कर्म है, उसका फल दु ख है, मोह मे फँसे हुए तमो गुण का फल अज्ञान ही है। सत्त्व से ज्ञान, रजस् से लोभ और तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान होते है। सतोगुणी व्यक्ति ऊँचे उठते है, रजोगुणी बीच मे रहते है और तमोगुणी नीचे गिरते है।

ये तीनो गुण प्रकृति के है। इनको जो पहचान लेता है वह ईश्वर को उनसे अलग जानकर उसे प्राप्त कर लेता है। इन गुणो को जानकर ही यह सम्भव होता है कि व्यक्ति जन्म, बुढापा, मृत्यु से छूटकर अमृत सुख को पा ले। इस पर अर्जुन ने कामकाजी व्यक्ति का दृष्टिकोण अपनाते हुए बुद्धिमत्ता का प्रश्न किया कि यह कैसे पता चले कि कोई व्यक्ति इन तीनो गुणो के बन्धन से ऊपर उठ गया है।

गुणातीत व्यक्ति के लक्षण

कृष्ण ने भी इस प्रश्न का निखरा हुआ स्पष्ट उत्तर दिया—जो व्यक्ति प्रकाश या सतोगुण, कर्म मे प्रवृत्ति या रजो गुण, और मोह या तमोगुण के आने पर उनसे घबराता नही और उनके हट जाने पर दुखी नही होता, वह मानो इन गुणो से ऊपर उठा हुआ है। गुण जिसमें क्षोभ नही उत्पन्न करते, उनके उदय और नाश में जो एक समान रहता है, जो यह समझता है कि गुण अपना काम कर रहे है, मै उनका प्रभाव क्यो पडने दूं, वही सच्चा व्यक्ति है। इसलिए ऐसा व्यक्ति दुख और सुख को एक समान मानने लगता है। वह अपने अन्तरात्मा में स्थिर हो जाता है। उसके सामने मिट्टी का ढेला और सोने की डली बराबर है। वह प्यारे मित्र और शत्रु को एक सा मानता है। उसके लिये निन्दा और स्तुति बराबर है। ऐसे व्यक्ति को हम धीर कहते है। मान और अपमान में जो तुल्य रहता है, शत्रु और मित्र में जो अपना सन्तुलन नही छोडता और कर्म करने की जो भारी प्रवृत्ति है उससे बचा रहता है, ऐसे व्यक्ति को समझना चाहिये कि वह गुणातीत है। गुणो से मन हटा लेने का प्रभाव व्यक्ति के जीवन पर यह होता है कि वह अपने मनको ब्रह्मभाव में डाल देता है और अनन्य भक्ति से ईश्वर का चिन्तन करता है। फिर ऐसा क्या है जो उसे नही मिल जाता? भूतो का क्षर जगत् (ब्रह्मण प्रतिष्ठा), प्राण का अमृत जगत्, अव्यय पुरुष या मनस् तत्त्व का ससार, इन तीनो से ऊपर पारमेष्ठ्य लोक जहाँ समस्त धर्मों का अधिष्ठान है (शाश्वतस्य धर्मस्य), और उससे भी ऊपर जो नितान्त आनन्द का स्वयम्भू लोक है (सुखस्य एकान्तिकस्य), इन पाँचो को गुणातीत व्यक्ति अपने जीवन मे प्राप्त कर लेता है, अर्थात् इन पाँचो की समस्याओ का समाधान उसे प्राप्त हो जाता है। गीताकार ने यहाँ एक गूढ शैली को अपनाते हुए क्रमश भूतात्मा, प्राणात्मा, प्रज्ञानात्मा, महानात्मा (शाश्वत धर्म), अव्यक्तात्मा (एकान्तिक सुख) इन पाँच आत्माओ का वर्णन किया है। ये पाँचो प्राकृतिक है। इन पाँचो से ऊपर

पुरुष या ईश्वर है। इसीलिये भगवान् का कहना है कि मैं इन पाँचो की प्रतिष्ठा या आधारभूमि हूँ। इन मे भूतात्मा या प्राणात्मा का सम्बन्ध तमोगुण से है। बीच की प्रज्ञानात्मा का सम्बन्ध रजोगुण से है। प्रज्ञान या मन के दो भेद होते हैं। एक को प्रज्ञान और दूसरे को विज्ञान कहते हैं। प्रज्ञान मन नीचे की दो वृत्तियो के साथ मिला रहता है। वह इन्द्रियानुगामी होता है। किन्तु वही जब प्रकाश का अनुगामी बनता है तब उसे विज्ञान मन या विज्ञान बुद्धि कहते हैं। इससे ऊपर महान् आत्मा और अव्यक्त आत्मा सतोगुण से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार प्रकृति के तीन गुण ही प्रत्येक व्यक्ति मे इन पाँच आत्माओ के धरातल पर प्रकट होते हैं। ये सब प्रकृति के अश हैं। इन पाँचो से ऊपर ईश्वर, चैतन्य पुरुष या क्षेत्रज्ञ है। उसकी ओर मनुष्य का ध्यान तब जाता है, जब वह तीन गुणो के ब्रह्मजाल से अपने आपको ऊपर उठा लेता है।

पन्द्रहवाँ अध्याय–पुरुषोत्तमयोग

पन्द्रहवे अध्याय का नाम पुरुषोत्तम योग है। पुरुषोत्तम का तात्पर्य है, क्षर पुरुष एव अक्षर पुरुष से ऊपर ईश्वर पुरुष अर्थात् अव्यय पुरुष। वही तो गीता का लक्ष्य है। अतएव इस अध्याय में पहले ससार रूपी वृक्ष की व्याख्या की गई है। इस पाचभौतिक जगत् को क्षर पुरुष या क्षर ब्रह्म कहा गया है। इसका भोग करनेवाला जो जीव है वह अक्षर पुरुष है। क्षर और अक्षर दोनो से ऊपर अव्यय पुरुष या ईश्वर है, उसी की ओर ले जाना इस अध्याय का लक्ष्य है।

सबसे पहले ससार रूपी अश्वत्थ वृक्ष की व्याख्या की गई है। यही भाव कठ उपनिषद् मे भी आया है, उससे पूर्व स्वय ऋग्वेद मे ससार की कल्पना वृक्ष के रूप मे की गई है। यह वृक्ष ऐसा है कि जिसकी जड़े ऊपर हैं और शाखाएँ नीचे फैली हुई हैं। यहाँ ऊर्ध्व का सच्चा अर्थ ब्रह्म या चेतन पुरुष है और अध. का तात्पर्य प्राकृतिक जगत् है। इस ससार वृक्ष का मूल तो ब्रह्म में ही है। उसका विस्तार अव्यय प्रकृति के तीन गुणो के द्वारा

होता है। यह वृक्ष अव्यय कहा गया है। दार्शनिक कतरब्यौंत से इसका चाहे जो परिणाम निकाला जाय, किन्तु सच यह है कि जब इस विश्व-वृक्ष की जड ब्रह्म में है, तो जब तक वह जड हरी रहेगी तब तक इस पेड का तना भी हरा रहेगा। यही इसका अव्यय रूप है। कोई नही जानता कि कब इसका आरम्भ हुआ और कब अन्त होगा। महाकाल की लपेट में यह अनन्त ससार भी नित्य चला जाता है। जैसे पेड में पत्ते होते है, वैसे ही इस वडे ससार रूपी पीपल में जो छन्दो की गति या लय है, वही इसके पत्ते हैं। गति के कारण इसमें नये-नये पत्ते फूटते रहते है और लोको की सृष्टि होती रहती है। यहाँ यह भी कहा है कि जो इस विश्व रूपी अश्वत्थ की विद्या को समझता है, वही सच्चा वेदज्ञ है। सीधे अर्थो में वेदविद्या सृष्टिविद्या का ही दूसरा नाम है। सृष्टितत्त्व की व्याख्या ही वेदो को इष्ट है। विश्व रचना के मूल भूत नियम ही वेदो की प्रतीकात्मक भाषा में कहे गये हैं। इन्द्र और वृत्र किसी इतिहास विशेष के प्राणी नही। वे तो विश्व की प्राण-मयी और भूतमयी रचना के दृष्टान्त है। जैसा ऋग्वेद मे स्वय कहा है—

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्र ब्रुवाणो जनेषु ।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा विवित्से ॥
(ऋग्वेद १०।५४।२)

'हे इन्द्र, अपने शरीर को वढा कर वलो का बखान करते हुए, जो तुम इधर-उधर विचरते हो, वह तुम्हारे युद्धो का वर्णन माया है। तुम्हारा न कोई शत्रु आज है न पहले कभी हुआ।' इस प्रकार वेद के ऋषियो को यह स्पष्ट था कि इन्द्र और वृत्र के युद्धो का वर्णन और इसी प्रकार दूसरे देवो और असुरो का उल्लेख सृष्टि के मूल भूत नियमो का उपाख्यानो द्वारा विवेचन है। अतएव गीताकार का यह वचन यथार्थ है कि ससार रूपी अश्वत्थ वृक्ष का ज्ञान ही असली ज्ञान है (यस्त वेद स वेदवित्, १५।१)।

जहाँ पेड होता है, वहाँ उसकी डालियाँ और पल्लव फैलते ही हैं। इस ससार वृक्ष की शाखायें तीन गुणो के अनुसार ऊपर और नीचे की ओर

फैलती है, अर्थात् सतोगुण की शाखाये ऊपर और तमोगुण की नीचे की ओर प्रसार पाती है। ऊपर का अर्थ चैतन्य पुरुष और नीचे का अर्थ प्रकृति है। इन्द्रियो के विषय इन्ही शाखाओ मे फुटाव लेने वाले नये नये पल्लव हैं। जैसे पेड मे उसकी जटाये ऊँचे से नीचे की ओर आती है, ऐसे ही कर्म मनुष्य-लोक मे नीचे की ओर फैलकर व्यक्ति को बद्ध मूल कर देते है।

इस ससार वृक्ष का सच्चा रूप कोई नही जानता। इसका आदि और अन्त नही और कहाँ इसकी जड है, ज्ञात नही होता। किन्तु इसका मूल कही बहुत दृढ है। केवल एक ही उपाय से इस वृक्ष को काटा जा सकता है, और वह है असङ्ग और अनासक्ति का कुल्हाडा। मनुष्य अपने मन को ससार के विषयो के पल्लवो से खीच ले तो यह वृक्ष स्वय ही नास्ति हो जाता है। इसका उपाय है, उस आदिपुरुष परब्रह्म की शरण मे अपने आप को ले जाना जहाँ से जगत् की यह पुरानी प्रवृत्ति चली है और जहाँ पहुँचकर फिर लौटना नही होता। वह मोक्ष का स्थान ही परमपद है। उस अव्यय स्थान में वे ही पहुँच पाते है जो सुख दु ख आदि द्वन्द्वो से छूट गये है। उस ब्रह्म तत्त्व की ज्योति का क्या कहना है? उसके सामने सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि की ज्योति फीकी है। वस्तुत ऋग्वेद मे ब्रह्म तत्त्व की उपमा देने के लिये सूर्य की ज्योति का उदाहरण दिया गया है। किन्तु एक सूर्य क्या कोटि-कोटि सूर्य भी उसकी तुलना नही कर सकते। यह सूर्य तो प्रतीक मात्र है (ब्रह्म सूर्य सम ज्योति, यजुर्वेद २३।४८)।

जीव का स्वरूप

इसके अनन्तर भगवान् ने एक ऐसी बात कही है कि उसमे मनुष्य को सबसे अधिक रुचि हो सकती है, वह जीव का स्वरूप है। मनुष्य को चाहे ईश्वर मे विश्वास हो या न हो किन्तु स्वय अपनी सत्ता मे अविश्वास नही होता। गीताकार का कथन है कि पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन ये प्रकृति से उत्पन्न है। इन्हे ही शरीर कहते है (मन षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि १५।७)। किन्तु यह शरीर जड है। इस भारी पुतले को खड़ा रखनेवाला

जीव है जो ईश्वर का सनातन अश है। यह आस्था और यह विश्वास गीता की सवसे वडी देन है (ममैवाशो जीवलोके जीवभूत सनातन- १५।७)। 'ईश्वर अश जीव अविनाशी' यह एक छोटा-सा वाक्य अपने अन्तर में कितना महान् तत्त्व लिये हुए है, इसके मूल में कितना गहरा अनुभव है ? यह एक ऐसी सच्चाई है जिसका स्वय अनुभव करना पडता है। किन्तु इससे वढकर आशा और विश्वास का दूसरा सन्देश नही है। ईश्वर की शक्ति वार-वार जीव रूप में आती और जाती है, मानो वायु एक फूल से दूसरे फूल की गन्ध लेकर बहती हो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन छोटे दिखाई पडने वाले पाँच विषयो को भोगने के लिये कान, आँख, त्वचा, जिह्वा और नासिका ये पाँच इन्द्रियाँ हैं और इनके साथ छठा मन है। यही तो प्रकृति की वडी विभूति है, जिसने जीव को भुलावे में डाल रक्खा है। जो ज्ञानी है, वे इनके कार्य को देखते हैं, मूढ नही देख पाते। किन्तु ईश्वर का तेज अवश्य है और वह सबसे ऊपर है। उसी के ओज से यह पृथ्वी और पचभूत टिके है। ईश्वर का रूप जो सोम है, वह एक प्रकार का जीवन रस है। उसी से मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि सभी उत्पन्न हो रहे हैं और हरे होकर वढते एव काल पाकर सूख जाते है (पुष्णामि चौषधी सर्वा सोमो भूत्वा रसात्मक १५।१२)।

वैश्वानर-विद्या

इसके अनन्तर जीव की ही व्याख्या करते हुए कृष्ण ने एक दूसरी वैदिक परिभाषा का उल्लेख किया है। वह वेद की वैश्वानरी विद्या है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्त. पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
(१५।१४)

इसका स्पष्ट अर्थ यो समझना चाहिये—सृष्टि की दो मूल धारायें हैं, एक सोम और दूसरी अग्नि। सोम ठडी धारा है और अग्नि गरम धारा है। इन्हें ही ऋग्वेद में आपोभूयिष्ठ और अग्निभूयिष्ठ कहा गया है (ऋग्वेद १।१६१।९)।

'आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत्' । अथर्ववेद में इन्हे ही हिम और घ्रन्स कहा गया है (अग्नी हिमम् घ्रसम् च, अथर्व १३।१।४६) । अग्नि और सोम से ही ससार की रचना हुई है। यहाँ १३वे श्लोक मे सोम और चौदहवे मे अग्नि का वर्णन है। गीताकार ने वैश्वानर की स्पष्ट परिभाषा दी है। प्राण और अपान के रूप मे जीवनी शक्ति शरीरो मे सचार कर रही है। इनका जो सम्मिलित रूप है, वही वैश्वानर अग्नि है। जैसा शतपथ में कहा है—स एपोऽग्निर्वैश्वानर यत् पुरुष (शतपथ १०।६।१।११) । यहाँ अग्नि को अन्नो का पचानेवाला कहा है, अर्थात् वह अन्नाद है। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे कहा है कि अग्नि देवो का जठर है (अग्निर्देवाना जठरम्, तैत्तिरीय २।७।१२।३) । शौनक ने भी इसका स्वरूप यो कहा है —

तिष्ठत्येष हि भूतानां जठरे जठरे ज्वलन् ।

(बृहद् देवता १।६५) ।

प्रत्येक प्राणी के शरीर मे जो एक सुनिश्चित तापमान है वही इस अग्नि का स्वरूप है। उसी ताप के कारण शरीर के समस्त अवयवो मे सिकुडने और फैलने की क्रिया हो रही है जो प्राण का सधमन है। वैसे देखा जाय तो उदर के भीतर कोई अग्नि की ज्वाला नही है, किन्तु नाना प्रकार के दाहक और पाचक रसो के रूप में प्रकृति स्वय उस शक्ति का निर्माण करती है, जो नाना भाति के खाद्य पदार्थो को पचा डालती है। इस समस्त प्रक्रिया की शक्ति को एक शब्द में कहा जाय तो उसकी सज्ञा वैश्वानर है। आकाश में सूर्य और पृथ्वी पर वैश्वानर ये दोनो एक ही महाशक्ति के दो रूप हे। इसी लिये ऋग्वेद में कहा है—वैश्वानरो यतते सूर्येण (ऋग्वेद १।९८।१) । यह वैश्वानर अग्नि सब प्राणि-जगत् का राजा है । (राजा हि क भुवनाना अभिश्री , ऋग्वेद १।९८।१) । जहाँ वैश्वानर की सत्ता है, वही सब प्रकार का मगल है। वैश्वानर बुझ गया तो शरीर राख हो जाता है। इस प्रकार जो वैश्वानर अग्नि तत्त्व है, वही चेतना का सबसे बडा लक्षण है, वह साक्षात् ईश्वर का अश है।

हृद्देश मे ईश्वर की सत्ता

इसी के आगे मानो व्याख्या रूप में ही एक तत्त्व और कहा गया है—'सर्वस्य चाह हृदि सनिविष्टो', अर्थात् मै सबके हृदय मे बैठा हूँ। यह वही बात है जिसे गीता के अन्त में फिर दुहराया गया है —

ईश्वर. सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (१८।६१)

जीव ईश्वर का अश है। ईश्वर सबके हृदय मे बैठा है। इन दोनो वाक्यो का अर्थ एक ही है। इसे ही उपनिषदो में अगुष्ठ पुरुष कहा है – 'अगुष्ठमात्र पुरुप जनाना हृदये सन्निविष्ट', (अगुष्ठमात्र पुरुषो हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति)। अगुष्ठ मात्रा का अर्थ साकेतिक है, अर्थात् वह चेतना अश जो सवके भीतर विद्यमान है, पर जिसकी कोई मात्रा या माप नही। जिसकी माप होती है, वह तो साढे तीन हाथ का चाक्षुष पुरुष कहलाता है उसकी परछाई पडती है। अगुष्ठ पुरुष की कोई परछाई नही पडती। वह तो निर्धूम अग्नि के समान एक ज्योति मात्र है। हृद्देश का अर्थ भी रक्त का अभिसरण करनेवाला हृदय नामक अवयव नही। हृद्देश का अर्थ व्यक्ति का वह केन्द्र है, जो प्रकृति से ऊपर अव्यक्त है, किन्तु प्रत्येक स्थूल देह में रहता अवश्य है, उसी के कारण तो चेतना और प्राण की सत्ता है।

वही चेतन पुरुष स्मृति, अज्ञान और ज्ञान का कारण है। स्मृति आदि के स्थूल उपकरण या अवयव तो शरीर मे है, जिन्हें हम मस्तिष्क आदि के रूप में जानते है, किन्तु उनका वास्तविक कारण चेतना ही है। यहाँ वैश्वानर विद्या के सम्वन्ध में बताते हुए गीताकार ने एक पते की बात और कही है—

वेदश्च सर्वैरहमेव वेद्य. (१५।१५।)

अर्थात् वेदविद्या का एक मात्र सार वैश्वानर पुरुष या चैतन्य का ज्ञान करना ही है। वेद की यही शैली है कि वह प्राकृत भूतो या पदार्थों का वर्णन करते हुए उनमें अनुस्यूत जो देव तत्त्व है उसी पर वारम्वार दृष्टि ले जाते

है। भूतो मे देव की सत्ता यही वेद के ज्ञान का मर्म है। वह देव तत्त्व ही ईश्वर तत्त्व है, जिसे अनेक नामो से पुकारा जाता है।

क्षर और अक्षर पुरुष

इसके अनन्तर अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे क्षर, अक्षर और अव्यय इन तीन पुरुषो की व्याख्या जैसी यहाँ गीता मे कही है, वैसी सस्कृत साहित्य मे अन्यत्र नही मिलती —

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

(१५।१६)

अर्थात् पचभूतो की सज्ञा क्षर है और उन भूतो के ढेर या शरीर मे रहनेवाला अक्षर कहलाता है। वही जीव है। इस अध्याय का नाम पुरुषोत्तम योग है। अत एव पुरुषोत्तम की भी व्याख्या स्पष्ट की गई है, अर्थात् क्षर और अक्षर या प्रकृति और जीव इन दोनो से ऊपर जो उत्तम पुरुप अव्यय ईश्वर है वही परमात्मा है —

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः (१५।१७)।

इसी परिभाषा को और दृढ करते हुए लिखा है कि मैं क्षर से भी ऊपर हूँ और अक्षर से भी ऊपर हूँ। इसीलिये लोक मे और वेद में मुझे पुरुषोत्तम कहा है। यह गुह्य शास्त्र मैंने तुम्हे बताया।

सोलहवाँ अध्याय—दैवी और आसुरी सपद्

सोलहवे अध्याय की सज्ञा दैवासुर सपद् विभाग योग है। इसकी सगति पहले दो अध्यायो के साथ स्पष्ट है, क्योकि सत्त्व गुणी प्रकृतिवाले व्यक्ति देव और तमो गुणी प्रकृति के असुर होते है। अत एव स्पष्ट शब्दो मे यह कहना आवश्यक था कि दैवी प्रवृत्ति और आसुरी प्रवृत्ति इन दोनो की अलग-अलग पहिचान क्या है ?

दैवी सम्पत्ति के गुण इस प्रकार है—अभय, निर्भयता, चित्त की शुद्धि ज्ञानात्मक दृष्टिकोण में निरन्तर स्थित रहना, दान, इन्द्रिय सयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तपश्चर्या, कुटिलता का अभाव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, पिशुनता या चुगलखोरी का न होना, प्राणियो पर दया, लोलुपता का अभाव, मृदुता, मर्यादा की लज्जा, सफलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, अतिमान या अहकार का अभाव। ये दैवी गुण है। इनसे व्यक्ति का सतोगुणी प्रभाव पहिचाना जाता है।

आसुरी सम्पत्ति के लक्षण ये है—दम्भ, दर्प, अभिमान (अपने ही घमण्ड में चूर रहना), क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान।

दैवी गुणो से मुक्ति और आसुरी गुणो से बन्धन प्राप्त होता है। देवासुर युद्ध या विरोध की कल्पना ऋग्वेद में ही पाई जाती है। वहाँ समस्त सृष्टि की व्याख्या देवो और असुरो के द्वन्द्व युद्ध के रूप में की गई है। ज्योति अमृत और सत्य की सज्ञा देव है। तम, मृत्यु और अनृत असुरो का लक्षण है। ये गुण तो दृष्टान्त मात्र है। इन में चाहे जितने जोडे जा सकते है।

आसुरी लक्षण

यहाँ सातवें श्लोक से बीसवें श्लोक तक आसुरी गुणो की लम्बी सूची पुन बताई गई है। जिनका स्वभाव आसुरी है, वे न यह जानते हैं कि क्या करना चाहिये और न ये समझते है कि क्या नही करना चाहिये। न उनमें पवित्रता का भाव रहता है। और सदाचार के अनुसार जीवन वे ससार में ईश्वर की सत्ता नही मानते और कहते है कि इसकी कोई पक्की आधार शिला भी नही है। यहाँ तो सब व्यवहार झूठ का है। यहाँ किसी को किसी से कुछ मतलब नही। सब अपने-अपने काम की सिद्धि के लिए मतलब रखते हैं। वे ससार में सबका बुरा चेतते हैं। उनकी इच्छायें कभी पूरी नही होती। वे बुरी बातो का आग्रह लेकर चलते हैं। वे अपने चारो ओर आशा और कामनाओ का पूरा जाल बुने रहते हैं और सोचते है आज यह पा लिया है, कल और यह पा लेंगे। इतना

वन आज है, इतना आगे और हो जायगा। आज इसे मार लिया, कल उस शत्रु को साफ करूँगा। मै सबका मालिक हूँ। मै बलवान् और सुखी हूँ। मै रईस और कुलीन हूँ। मेरे जैसा और कौन है ? ऐसे मोह जाल मे वे फँसे रहते है और उनका मन अनेक बातो में भागता रहता है। अहकार, बल, दर्प, काम, क्रोध का आश्रय लेकर वे अनेक प्रकार के बुरे कर्मो में लिप्त रहते है। जन्म-जन्म मे उन्हे आसुरी योनि ही मिलती है। ईश्वर तत्त्व की ओर वे ध्यान नही देते। काम, क्रोध और लोभ ये तीनो नरक के द्वार है। इनमे अन्धेरा छाया रहता है। इनसे छूटने पर ही मनुष्य अपने कल्याण का आचरण कर सकता है। ऐसे आसुरी लोगो के लिये अच्छा उपाय है कि वे शास्त्र की बात मानकर चले और अपनी मनमानी न करें।

सत्रहवॉ अध्याय–तीन प्रकार की श्रद्घा

सत्रहवे अध्याय का नाम श्रद्धा त्रय विभाग योग है। इसका सार यह है कि सत्त्व, रज और तम के अनुसार मनुष्य को कर्म मे लगानेवाली प्रेरणा भी तीन तरह की है। मनुष्य का मन जैसा कर्म करना चाहता है, उसी को उसकी श्रद्धा कहते है।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

(१७।३)

सस्कृत में मन को ही सत्त्व कहते है। बाण ने कादम्बरी में लिखा है—'सत्त्वाख्य ज्योति मन'। प्रत्येक प्राणीके भीतर जो मनरूपी ज्योति है उसी का नाम सत्त्व है। हरएक प्राणी अपने-अपने सत्त्व के कारण ही इस ससार मे सत्तावान् बनता है। मनुष्यो के स्वभाव और कर्म अनेक प्रकार के हो सकते है और होते है, किन्तु उनका सामान्य वर्गीकरण सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी इन तीन भेदो मे आ जाता है। इसलिये कुछ प्रधान उदाहरण लेकर गीताकार ने इन तीन गुणो के भेदो के अनुसार आहार, यज्ञ, तप, दान,

इन चारो के भेद अत्यन्त स्पष्ट भाषा में बताये है। सात्त्विक आहार वह है जिससे आयुष्य, मानसिक शक्ति, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति की वृद्धि होती है। सात्त्विक यज्ञ वह है जो विधिपूर्वक किसी इच्छा के बिना किया जाता है। तप भी मन शरीर और वाणी के भेद से तीन तरह का है। ब्रह्मचर्य, अहिसा, पवित्रता, पूजनीय व्यक्तियो का पूजन, यह शरीर का तप है। किसी का जी न दु खाना, सत्य और प्रिय वचन कहना और स्वाध्याय करना वाणी का तप है। मन को प्रसन्न रखना सौम्य भाव से रहना, मौन, आत्म सयम और भावशुद्धि यह मन का तप है। सात्त्विक तप उसे कहते है जो फल की इच्छा के बिना श्रद्धा से किया जाता। सात्त्विक दान वह है जो योग्य पात्र को उचित देशकाल में दिया जाय।

ओम् तत् सत्

इसी प्रकरण के अन्त में 'ओम् तत् सत्' इस प्राचीन वाक्य की अध्यात्म व्याख्या की गई है। ये तीनो शब्द ब्रह्म के ही वाचक है। 'ओम्' भी ब्रह्म है, 'तत्' से भी ब्रह्म का सकेत किया जाता है, और सत्य भी ब्रह्म परक भावो के लिये है। जो लोग ईश्वर और विश्व की सत्ता में विश्वास रखते हैं, जो भगवान् को महा सत्तावान् मानते हुए जीवन को भी उसी के अनुसार सत्तायुक्त समझते है, उन्ही के लिये यज्ञ, तप-दान की धार्मिक क्रियाए हैं।

वेद, यज्ञ और ब्रह्मतत्त्व इन तीनो से मिलकर बनी हुई जो जीवन की सात्विक धारा है, वही तो 'ओम् तत् सत्' इस मूल स्रोत से प्रकट हुई है। जो इस धारा को नही मानते उनके लिये न ओम् का कुछ अर्थ है न तत् की कोई सत्ता है और न सत् का कोई महत्व है। जिसे दैवी सम्पत्ति या दिव्य प्रकाश, अमृत और सत्य का मार्ग कहा है वह सब 'ओ तत् सत्' इस सूत्र में आ जाता है। यही वेदो का सार है। यही जीवन में सद्भाव है। इसके विपरीत जो कुछ है वह असद् भाव है। असत् मे इस लोक में न कोई सार है न परलोक में।

अट्ठारहवाँ अध्याय—मोक्ष-सन्यास योग

अठारहवे अध्याय की सज्ञा मोक्षसन्यास योग है। कई प्रतियो मे मोक्ष योग, सन्यास योग, परमार्थ निर्गुण मोक्ष योग या केवल परमार्थ निर्णय ही कहा गया है। एक प्रति मे इस प्रकार पाठ है—

सर्वकर्मफलत्यागपूर्वकं काम्यकर्मणां सम्यङ्न्यासपूर्वकं सत्त्वरजस्तमोगुणमयजगद्विवरणपूर्वकं ब्रह्मप्राप्तियोगः ॥

अध्याय को ध्यानपूर्वक देखने से यही विदित होता है कि यहाँ अन्त में गीताकार ने सन्यास और कर्मफल त्याग इन दो मार्गों के बीच मे समन्वय स्थापित करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। सन्यास का लक्षण काम्य कर्मों को छोड देना है और त्याग की परिभाषा सब कर्मो के फल का त्याग है (१८।२)। इसी बात को कई प्रकार से पहले भी कहा जा चुका है। जो लोग कर्म छोडकर सन्यास के पक्ष मे है उनके लिये भगवान् का कहना है कि यज्ञ, दान, तप जैसे पवित्र कर्मों को छोडने से क्या लाभ ? इसलिये इन कर्मो को करते ही रहना चाहिये। केवल उनके फल की आसक्ति से अपने को बचाना चाहिये। यही मेरा उत्तम मत है। (१८।६)। कर्म को छोडने के दो ही कारण हो सकते है या तो तमोगुणी मोह से अर्थात् आलस्य और प्रमाद के कारण, या कर्मो को शरीर के लिये झझट समझ कर यह राजस त्याग है, उससे भी त्याग का कोई फल नही मिलता। इसलिये जो करना है उसे करना ही चाहिये, हा उसके फल मे आसक्ति न रखनी चाहिए, यही सात्त्विक त्याग है। कोई कितना भी चाहे सब कर्मो को कैसे छोड सकता है (न हि देहभृता शक्य त्यक्तु कर्माण्यशेपत, १८।११)। इसलिये कर्मफल छोडने से ही कोई व्यक्ति सच्चा त्यागी कहला सकता है।

कोई भी काम किया जाय उसके लिये पाच अग आवश्यक है। पहला कर्त्ता या कर्म करनेवाला, दूसरा अधिष्ठान या शरीर जिससे कर्म किया जाय, तीसरा करण जिसकी सहायता से कर्म किया जाय चौथा वह चेष्टा जो कर्म का स्वरूप है। ये चारो भी रहे तो भी पाचवाँ कारण दैवी शक्ति या भाग्य

है, जो कर्म को प्रभावित करता ही है। शरीर मन या वचन से कोई भी कर्म किया जाय, ये पाँचो हेतु अवश्य चाहिये। अब इन पाँचो के विषय मे ठीक दृष्टिकोण क्या हो सकता है, इसकी स्पष्ट व्याख्या यहाँ दी गई है।

पहले तो जो व्यक्ति अपने आपको कर्त्ता मान कर कर्म करते समय अहकार में भर जाता है, उसका कर्म वही बिगड जाता है (१८।१६)। मन में अहकार का भाव न आने पावे और अपनी बुद्धि को उस कर्म फल में लिप्त न होने दे, वही कर्त्ता ठीक है (१८।१७)।

वस्तुत किसी भी कर्म के दो अग होते है। पहले कर्म की प्रेरणा मन में आती है और फिर कर्म किया जाता है। पहले अग को कर्म-चोदना, और दूसरे को कर्म सग्रह कहा गया है। कर्म की प्रेरणा के भी तीन भाग होते है—एक कर्म के सम्वन्ध में विचार करनेवाला व्यक्ति (परिज्ञाता), दूसरे वह जो विचार करता है (ज्ञान) और तीसरे वह जिस लक्ष्य या उद्देश्य को लेकर विचार करता है (ज्ञेय)। इन तीन अगो से कर्म की प्रेरणा या भावना का स्वरूप वनता है। उसी प्रकार जो वास्तविक कर्म किया जाता है, उसके भी तीन अग हैं एक तो करने वाला (कर्त्ता) दूसरे जो सहायक साधन है (करण) और तीसरे स्वय जो किया जाय उसका प्रत्यक्ष रूप (कर्म)।

इनमें ज्ञान, कर्म और कर्त्ता सत्त्व, रज और तम् के अनुसार तीन तीन तरह के है।

उत्तम ज्ञान तो वह है जिसमें कर्म की प्रेरणा या भावना सब प्राणियो में एक ईश्वर की सत्ता मान कर होती है। पर यदि सबको अलग-अलग समझ कर कर्म का विचार किया जाय तो वह रजोगुण है। जो विना किसी तत्त्वविवेक और विना हेतु के किया जाय वह तामस है। जिसमें यह भावना हो कि, करनेवाला अपने छोटे से काम में ही सब प्राणियो के हित की बलि देने को तैयार हो जाय, वह भी तमोगुणी है। (कृत्स्नवदेकस्मिन् १८।२२)।

ऐसे ही कर्म भी तीन तरह के है। जो आवश्यक है जो सग-रहित भाव से किया जाता है, जिसमें राग द्वेष नही होते और जो फल की आसक्ति के

बिना किया जाता है, वह सात्विक कर्म है। जिसमे अहकार आ जाय, कामना भी हो वहुत व्यर्थ परिश्रम भी पडे और फल थोडा निकले रजोगुण वह कर्म है। जिस कर्म मे हठ, हिंसा या हानि हो और अपनी शक्ति का विचार किये बिना जो मोह से किया जाय, वह तमो गुणी कर्म है।

ऐसे ही कर्त्ता भी तीन तरह के समझने चाहिये। जिसमे सग नही है, अहंकार नही है, जो धृति और उत्साह से रहित है और जो सफलता और असफलता मे निर्विकार रहता है, वह कर्त्ता सात्त्विक विचार का है। हर्ष-वाला शोक से भरा हुआ, लोभी, अपवित्र, हिंसक, आसक्ति युक्त कर्म फल को चाहनेवाला कर्त्ता रजोगुणी होता है। जो शठ, कपटी, आलसी, घमडी, सदा रोने-धोनेवाला और काम मे ढिल्लड हो, तमोगुणी कर्त्ता कहलाता है।

इस प्रकार विशुद्ध कर्म की स्थापना के लिये यहाँ कितनी ही वाते वताई गई है, जिनसे कर्म के सम्वन्ध मे स्पष्ट विचार करने मे सहायता मिलती है और यदि उनके अनुसार ठीक कर्म किया जाय तो वह सच्चा कर्म सभव हो सकता है, जिसके लिये गीता शास्त्र की प्रवृत्ति हुई है। इसलिये कर्त्ता कर्म और ज्ञान के त्रिगुणात्मक भेद बताकर मनुष्य की वुद्धि और धृत्ति के भी इसी प्रकार तीन तीन भेद समझाये गये है। सात्त्विकी बुद्धि वह है, जो प्रवृत्ति और निवृत्ति को अर्थात् क्या करना है और क्या नही करना है, अभय और भय को एव बन्धन और मोक्ष को एक दूसरे से अलग अलग पहिचानती है। यही उत्तम समझदारी है। राजसी या रजोगुणी समझ वह है, जो धर्म-अधर्म, कार्य और अकार्य का भेद नही जानती। तामसी बुद्धि सब से गई बीती है। वह अधर्म के कामको अज्ञानवश धर्म समझ लेती है और एक सीधी वात को भी उलटे ढग से सोचती है (सर्वार्थान् विपरीताश्च, (१८।३२)।

धृति-चरित्र का वह गुण है जिसके द्वारा मनुष्य उठाये हुए काम मे दृढ चित्त रहकर उसे पूरा करता है। धृति भी तीन प्रकार की है। मन, प्राण और इन्द्रियो को एकाग्रता से साध कर जो उन्हें डांवाडोल नही होने देती, वह सतोगुणी धृति है। जो धर्म, अर्थ और काम की वातो को

उठाकर या अपनाकर, फल की आसक्ति से प्रवृत्त होती है, वह रजोगुणी धृति है। जिसमें भय, शोक, विषाद, मद भरे हो, वह तामसी धृति है।

ससार मे सब प्राणी सुख की इच्छा करते हैं। चाहे वह कर्म के मार्ग से चलें चाहे सन्यास से। इसलिये सुख के भी तीन भेद बताये गये हैं। जो पहले विष और पीछे अमृत के समान जान पडे, वह सात्त्विक सुख है। उससे आत्मा और बुद्धि मे प्रसन्नता मिलती है। जिसमें इन्द्रियाँ विषयो का भोग करती हुई पहले सुख मानती है और बाद में दुःख उठाती है, वह राजस सुख है। जिसमें पहले भी और पीछे भी केवल मोह ही हाथ लगे वह झूठा तामस सुख है, जैसा निद्रा, आलस्य और प्रमाद की अवस्था मे होनेवाला सुख होता है।

पृथ्वी के मनुष्यो मे या स्वर्ग के देवताओ मे कोई भी जीव ऐसा नही है, जो इन तीन गुणो से छूटा हुआ हो। (१८।४०)।

यही गीताकार ने वर्ण धर्म के अनुसार बँटे हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारो वर्गों के स्वाभाविक कर्मों का परिगणन किया है। इसका कारण यह है कि भारतवर्ष के समाज निर्माताओ ने मनुष्यो के स्वभाव और समाज की आवश्यकताओ को दृष्टि मे रखकर इन चार वर्णों की अवस्था को स्वीकार किया था। वर्णों के निजी कर्म विभाग के कारण एक तो पीढी दर पीढी उस कर्म को उत्तम प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और दूसरे समाज में स्पर्धा द्वारा उत्पन्न होनेवाली अनिश्चित स्थिति भी नही होती। शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा, ऋजुता, ज्ञान, विज्ञान, ईश्वर,-विश्वास ये ब्राह्म कर्म हैं, अर्थात् ब्राह्मणत्व के लक्षण हैं। यहाँ गीताकार ने यज्ञ, स्वाध्याय, ज्ञान आदि लक्षणो को छोड़ दिया है। ऐसे ही शौर्य, तेज, धैर्य, समर मे दक्षता, विजय, दान, और राज्य शक्ति ये क्षत्रियो के स्वाभाविक कर्म है। कृषि, व्यापार वैश्य के स्वाभाविक कर्म है। शूद्र का स्वाभाविक कर्म परिचर्या या सेवा है। अपने कर्म से प्रत्येक व्यक्ति की शुद्धि होती है। जिस परमेश्वर ने यह विश्व रचा है और जिसने प्राणियो को बनाया है, उसी एक तत्त्व की उपासना मनुष्य अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों के द्वारा करता है और उनसे एक समान सिद्धि प्राप्त

करता है। इन कर्मों में या उनके करनेवाले वर्णो मे छोटे-वडे या कम-अविक का कोई विचार नही है। मनुष्य को यह न चाहिये कि अपना कर्म छोडकर दूसरे के कर्म के लिये भागता फिरे। प्रत्येक के लिये अपना अपना कर्म हितकर है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः ॥
(१८।४६)

अपने सहज कर्म में कुछ त्रुटि भी जान पडे तो भी उसे न छोड़ना चाहिये। क्योंकि यहाँ ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसमे कोई त्रुटि न हो।

जव कर्म करनेवाला कर्त्ता अनासक्त वुद्धि, जितेन्द्रिय और विगत-स्पृह हो जाता है, तो वह भी उसी नई कर्मसिद्धि अर्थात् कर्म न करने की सिद्धि को पा लेता है, जो संन्यास से मिलती है (१८।४९)।

इस सिद्धि को पहुचकर जो ब्रह्म प्राप्ति की दशा होती है और जो ज्ञान की चरम निष्ठा है, उसमे व्यक्ति की क्या स्थिति होती है, इसको भी कहा गया है। विशुद्ध वुद्धि से आत्मसयम करके शव्दादि पाँच विषयो को दूर हटाकर, राग और द्वेष से मुक्त होकर, एकान्त का सेवन, अल्पाहार, वाणी, शरीर और मन का सयम, वैराग्य भाव की उपासना और सदा ध्यान मे प्रीति इन गुणो से व्यक्ति ब्रह्ममूर्त्ति हो जाता है। अहकार, वल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह, इन सवसे वचता हुआ ब्रह्मभूत व्यक्ति अपने आत्मा के आनन्द मे किसी वात का शोक नही करता और न कोई इच्छा करता है और सव प्राणियो से समान भाव रखता हुआ ईश्वर की परम भक्ति ध्यान मे लाता है (१८।५४)।

इस प्रकार चाहे सन्यास हो या कर्म योग दोनों का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म साक्षात्कार ही है और ईश्वर की अनन्य भक्ति से वढकर उसका कोई दूसरा उपाय नही। जिसे ऊपर कर्म योग कहा गया है, वही वुद्धि योग है, जिसमे अपने चित्त से सव कर्मो के फल को भगवान् को अर्पण करके अपने मन को ईश्वरमय वनाया जाता है (१८।५७)।

जो ईश्वर परायण होता है, वह सब कठिनाईयो को पार कर लेता है।

सिद्धान्त रूप से इतना बताकर भगवान् ने विशेष रूप से अर्जुन को लक्ष्य करके कहा—"युद्ध तुम्हारा सहज कर्म है,पर अहकारवश यदि तुम उससे बचना चाहो तो तुम्हारा ऐसा सोचना मिथ्या होगा, क्योकि प्रकृति तुमको उसमे लगाकर ही छोडेगी। स्वाभाविक निज कर्म से बचकर मोहवश तुम चाहते हो कि कर्म न करे, तो ऐसा नही हो सकता। तुम्हें विवश होकर करना ही होगा। हे अर्जुन! ईश्वर सबके हृदय मे है। वह अपनी मायाशक्ति से प्राणियो को ऐसे घुमाता है, जैसे वे चाक पर चढे हुए घूम रहे हो। अत एव सब प्रकार से उसी ईश्वर की शरण मे जाओ और स्थायी शान्ति प्राप्त करो। मुझे जो कहना था, वह ज्ञान मैंने तुम्हे बता दिया। अब जैसी इच्छा हो करो। (१८।६३)।

एक और बात तुम्हे अपना अत्यन्त प्रिय जानकर कहता हूँ। उससे तुम्हारा हित होगा। अपने मन को मुझमें लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरे लिये यजन करो और मुझे ही प्रणाम करो तो तुम मेरे समीप आ जाओगे। यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। सब धर्मो को छोडकर केवल मात्र मेरी ही शरण में आओ। मै सब पापो से तुम्हारी रक्षा करूगा। शोक मत करो।"

इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन को अपना अन्तिम उपदेश और आश्वासन प्रदान किया।

गीताकार ने इसे धर्मयुक्त सवाद कहा है और गीता को ज्ञान यज्ञ माना है। इसमें कोई सन्देह नही कि यदि हम मानसिक विचारो को देवत्व प्रदान करना चाहें तो गीता के ज्ञानयज्ञ का आश्रय लेना चाहिये। श्रद्धा और ईर्ष्या रहित भाव से ही इस ज्ञानयज्ञ का पूरा फल प्राप्त होता है।

इतना कह कर भगवान् ने अर्जुन से पूछा कि गीताज्ञान के सुनने से तुम्हारा मोह दूर हुआ या नही? इस पर अर्जुन ने निश्चित उत्तर दिया—"हे कृष्ण, आपकी कृपा से मेरा मोह जाता रहा और मुझे ठीक स्मृति प्राप्त हो गई। अब मैं सन्देहरहित हूँ और आपके वचन का पालन करूँगा।"

: ५५ :

भीष्म-युद्ध-वर्णन

(अ० ४३–११७)

गीता का उपदेश सुनकर अर्जुन युद्ध के लिए तैयार हो गया। अब युद्धभूमि मे एकत्र हुई दोनो सेनाएँ सग्राम के लिए सन्नद्ध डटी हुई थी। युद्ध आरम्भ होने ही वाला था कि युधिष्ठिर के मन मे श्रद्धा का एक भाव जाग उठा। उन्होने सोचा कि पितामह भीष्म और गुरु द्रोण की अनुमति और आशीर्वाद के विना युद्ध करना ठीक नही। वे रथ से उतर कर पैदल ही, कवच और शस्त्र भी छोड कर नगे पैर कौरव सेना की ओर चले और भीष्म के पास पहुँच कर उन्हे प्रणाम करके युद्ध के लिए उनकी अनुमति और आशीर्वाद मांगा। भीष्म उनके इस भाव से "द्रवित हो गए और इस अवसर पर आत्मग्लानि का अनुभव करते हुए उन्होने कौरवो के पक्ष मे अपनी स्थिति का कुछ समाधान रूप मे यो कहा, "हे युधिष्ठिर, पुरुष अर्थ का दास होता है, अर्थ किसी का दास नही। कौरवो ने मुझे अर्थ के द्वारा बाँध लिया है। मुझे तो उनके लिए युद्ध करना ही है, तुम और क्या चाहते हो ?" युधिष्ठिर ने कहा, "महाराज, आप अवश्य कौरवो की ओर से ही युद्ध करे, पर यदि आप मेरा हित सोचते हो, तो कृपया बताएँ कि आप जैसे अपराजित वीर को हम कैसे जीत सकेगे ?" भीष्म ने कुछ सोचकर स्पष्ट कहा कि जब मै युद्ध मे उतरूँगा तो कोई पुरुष मुझे न जीत सकेगा। इसकी व्यञ्जना युधिष्ठिर ने समझ ली और इसी कारण आगे चलकर शिखडी को भीष्म के सामने खडा किया गया।

इसके बाद युधिष्ठिर द्रोण के पास गए और उन्हे प्रणाम किया। द्रोण ने भी भीष्म के समान ही अपने आपको कौरवो के पक्ष मे अर्थ के द्वारा बधा

हुआ कहा, किन्तु यह आश्वासन दिया कि भले ही मै कौरवो की ओर से लडूँ पर विजय तुम्हारी ही चाहता हूँ। इसके बाद उन्होंने कृपाचार्य के पास जाकर उनका भी आशीर्वाद प्राप्त किया और फिर अपने मामा मद्रराज शल्य को प्रणाम करके युद्ध की आज्ञा चाही।

महाभारत के वर्तमान सस्करण में यहाँ एक इतना मोड और पाया जाता है कि इसी बीच में कृष्ण ने भी कर्ण के पास जाकर उससे पाण्डवो के पक्ष में आने का अन्तिम अनुरोध किया—हे कर्ण, मैने सुना है कि भीष्म की खीझ से तुम उनके जीते जी युद्ध नही करोगे। अतएव जबतक भीष्म मारे नही जाते, तब तक के लिए तुम हमारे पक्ष में आ जाओ, फिर दुर्योधन के पक्ष में चले जाना।" पर कर्ण तो दूसरी ही मिट्टी का बना था। उसने स्पष्ट कहा, "मै दुर्योधन का अनहित नही करूँगा। उसके हित में ही मेरे प्राणो को गया हुआ समझो।"

तब सेना के बीच मे खडे होकर युधिष्ठिर ने आवाज लगाई, "जो हमारे पक्ष में लडना चाहें, वह हमारी ओर आ जाएँ।" और किसी पर तो इसका प्रभाव नही हुआ, केवल युयुत्सु कौरवो का पक्ष छोडकर पाण्डवो की ओर आ गया। सबने अपने कवच पहने और युद्ध के लिए अनेक प्रकार की दुन्दुभियाँ और शख बज उठे। दोनो सेनाओ में कडखा गाया जाने लगा और तुमुल युद्ध आरम्भ हो गया। सर्वप्रथम भीष्म अपने धनुष को टकारते हुए अर्जुन की ओर बढे। और उसपर प्रहार किया। अर्जुन ने भी अपने गाण्डीव से उनका उत्तर दिया।

भीष्म ने पाण्डवो से दस दिन तक युद्ध किया। सक्षेप में पहले दिन एक पक्ष के चुने हुए सैनिको का दूसरे पक्ष के वैसे ही सुदृढ सैनिको के साथ द्वन्द्व युद्ध हुआ। फिर कौरव सेना और पाण्डव सेना परस्पर घमासान युद्ध करने लगी। इसी दिन अभिमन्यु ने भीष्म के साथ भयकर युद्ध किया। शल्य ने भी कुछ पराक्रम दिखाया और विराट के पुत्र उत्तर कुमार का वध कर डाला। तब पाण्डवो की ओर से विराट के दूसरे पुत्र श्वेत ने महा भयकर युद्ध किया। पर वह भीष्म के प्रचण्ड बल के सामने न ठहर सका और मारा

गया। तब विराट के तीसरे पुत्र शख ने अपने दोनों भाइयो के वध से दुखी होकर भीष्म पर प्रहार किया। यो पहले दिन का युद्ध समाप्त हुआ।

पहले दिन के युद्ध मे अपने पक्ष की हानि देखकर युधिष्ठिर को चिन्ता हुई, तब कृष्ण ने उन्हे धैर्य दिया। धृष्टद्युम्न ने उत्साह पूर्वक पाण्डवो की ओर से दूसरे दिन क्रौञ्चारुण व्यूह का निर्माण किया। इस दिन भीष्म और अर्जुन का युद्ध तथा धृष्टद्युम्न और द्रोणाचार्य का भयकर युद्ध हुआ। भीमसेन ने भी कलिंग और निपादो की सेना से युद्ध किया।

तीसरे दिन दोनो पक्ष अपनी-अपनी सेनाओ की व्यूह-रचना करके सग्राम करने लगे। पाण्डव पक्ष के लोगो ने ऐसा पराक्रम दिखाया कि कौरव सेना मे भगदड़ मच गई। तब दुर्योधन ने भीष्म के पास जाकर उन्हे उलाहना दिया कि आपकी छिपी हुई सहानुभूति पाण्डवो की ओर है। इसे अन्यथा सिद्ध करने के लिए भीष्म ने अद्भुत पराक्रम प्रकट किया, यहाँ तक कि कृष्ण अपनी प्रतिज्ञा भूलकर भीष्म को मारने के लिए रथचक्र लेकर दौडे। अर्जुन भी वीररस में आ गए और उनके द्वारा उस दिन कौरव-सेना की पराजय हुई।

तीसरे दिन का उफान अपने वेग पर था और चौथे दिन प्रात. काल से ही सेनाएँ व्यूह रचकर खड़ी हुयी तो भीष्म और अर्जुन का द्वैरथ युद्ध आरम्भ हो गया। अभिमन्यु और धृष्टद्युम्न ने भी पराक्रम किया। पर इस दिन सबसे अधिक भीमसेन ने गज सेना का संहार करके एव भीष्म के साथ भी युद्ध मे अपने बल का परिचय दिया। घटोत्कच ने भी अपना बल दिखाया। चौथे दिन युद्ध का झुकाव कौरवो के विरुद्ध रहा।

पाँचवे दिन दुर्योधन बहुत घबराया हुआ था। कौरवो की सेना ने मकर व्यूह रचना की। पाण्डवो ने श्येन व्यूह रचकर उसका उत्तर दिया। युद्ध मे पहले भीष्म और भीमसेन और फिर भीष्म और अर्जुन के बीच घनघोर युद्ध हुआ। बीच-बीच मे और भी योद्धाओ ने द्वन्द्व युद्ध में भाग लिया, जैसे—विराट और भीष्म, अश्वत्थामा और अर्जुन, दुर्योधन और भीमसेन तथा अभिमन्यु और लक्ष्मण (दुर्योधन का पुत्र)। इन्होंने आमने-

सामने डटकर संग्राम किया। सात्यकि और भूरिश्रवा जो चौथे दिन के युद्ध में मुठभेड़ कर चुके थे, आज भी पुराने वैर को साधने पर उतर आए और भूरिश्रवा ने सात्यकि के दस पुत्रों का वधकर डाला। उत्तप्त होकर अर्जुन ने भी अपना पराक्रम दिखाया।

छठे दिन दोनों सेनाओं के वीर बराबरी के उत्साह से भरे हुए थे। उस दिन पाण्डव सेना ने मकर व्यूह और कौरव सेना ने क्रौञ्चव्यूह बनाया। धृष्टद्युम्न और द्रोणाचार्य दोनों में खुलकर युद्ध हुआ। भीमसेन और दुर्योधन भी एक दूसरे से घमासान युद्ध करने लगे, पर दुर्योधन की पराजय हुई। इसी दिन अभिमन्यु ने अन्य द्रौपदी पुत्रों के साथ मिलकर धृतराष्ट्र के पुत्रों से युद्ध किया।

सातवें दिन कौरव सेना ने मण्डल व्यूह और पाण्डव सेना ने वज्र व्यूह बनाकर भीषण संग्राम किया। द्रोणाचार्य को विराट ने ललकारा। तब विराट का पुत्र शंख जो पहले दिन के युद्ध में भीष्म से लड़ चुका था, द्रोण के सम्मुख आया पर वह जूझ गया। तब शिखंडी और अश्वत्थामा, सात्यकि और अलम्बुष, धृष्टद्युम्न और दुर्योधन एवं भीमसेन और कृतवर्मा इन वीर योद्धाओं में परस्पर संग्राम हुआ। इसी दिन भगदत्त के सामने घटोत्कच की पराजय हुई। नकुल और सहदेव ने मद्रराज शल्य पर विजय प्राप्त की। युधिष्ठिर ने भी राजा श्रुतायु से युद्ध करके उसे पराजित किया। भूरिश्रवा से धृष्टकेतु और अभिमन्यु से चित्रसेन पराजित हुए। इस दिन के युद्ध की एक बड़ी घटना त्रिगर्त देश के राजा सुशर्मा का, जो संशप्तक गणों का भी नेता था, अर्जुन के साथ युद्धारम्भ करना था। उसकी बहुत इच्छा थी कि अर्जुन को युद्ध में जीते। पर अर्जुन के पराक्रम के सामने वह न ठहर सका। इसी दिन भीष्म और युधिष्ठिर का भी युद्ध हुआ।

आठवें दिन दोनों सेनाओं के घमासान युद्ध के अतिरिक्त मैदान घटोत्कच के हाथ रहा। उसने दुर्योधन एवं द्रोण आदि प्रमुख वीरों के साथ भयानक युद्ध किया। उसकी माया से मोहित होकर कौरव सेना भागने लगी। तब भीष्म की आज्ञा से भगदत्त ने घटोत्कच को युद्ध में रोका।

भगदत्त ने भीमसेन के साथ भी घोर युद्ध किया। अभिमन्यु ने अम्बष्ठ राजा के साथ घोर युद्ध किया।

आठवें दिन की भयानक स्थिति से चिन्तित होकर दुर्योधन ने भीष्म से कहा, "हे पितामह, ऐसे कबतक काम चलेगा। या तो आप स्वय पाण्डवों को मारिए या कर्ण को युद्ध के लिए आज्ञा दीजिए।" भीष्म ने दुर्योधन को समझाया और स्वय भयकर युद्ध करने की प्रतिज्ञा की। दिन के पहले भाग मे पाण्डवसेना प्रबल रही। द्रौपदी के पाँचो पुत्र और अभिमन्यु ने एक साथ राक्षसराज अलम्बुष के साथ युद्ध करके कौरव सेना को युद्ध भूमि से खदेड़ दिया। इधर, अर्जुन ने भीष्म के साथ और सात्यकि ने कृपाचार्य, अश्वत्थामा और द्रोण के साथ युद्ध किया। अर्जुन ने भी द्रोण और त्रिगर्त-राज सुशर्मा के साथ सग्राम किया। अर्जुन के द्वारा त्रिगर्त सेना की पराजय हुई। इधर, अभिमन्यु से चित्रसेन, द्रोण से द्रुपद और भीमसेन से बाल्हीक की हार हुई। युधिष्ठिर और नकुल, सहदेव ने शकुनि की घुडसवार सेना को हराया और फिर वे सब मद्रराज शल्य की सेना पर टूट पडे। यह सब देखकर भीष्म ने इस दिन अपने पराक्रम का पूरा प्रयोग करते हुए बहुत घोर युद्ध किया और पाण्डव सेना मे भगदड मच गई। कृष्ण इसे सहन न कर सके और रथ से कूदकर क्रोधपूर्वक भीष्म की ओर दौडे। उन्हे सन्देह था कि अर्जुन पूरे मन से युद्ध नही कर रहा है। अर्जुन ने आगे बढकर कृष्ण को रोकते हुए उन्हे उनकी प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाया और यह आश्वासन दिया कि वे स्वय अपने बल का पूरा प्रयोग करते हुए भीष्म को जीतेगे।

रात मे पाण्डवो की गुप्त मत्रणा हुई। अगले दिन जब दोनो पक्ष की सेनाएँ तैयार हो गई तो अर्जुन ने शिखडी को आगे करके भीष्म पर आक्रमण कराया। दोनो पक्ष के महारथी घोर युद्ध करने लगे किन्तु शिखडी की आड़ लेकर अर्जुन ने अपने बाणो से भीष्म को बींधकर रथ से गिरा दिया। भीष्म युद्धभूमि मे शर शय्या पर स्थित होकर प्राण त्याग के लिए उत्तरायण की प्रतीक्षा करने लगे। इस प्रकार भीष्म के सेनापतित्व मे दस दिन का युद्ध समाप्त हुआ।

सातवाँ द्रोण पर्व

यह महाभारत का सातवाँ पर्व है, जिसमे विशेषत युद्ध की कथा ही वर्णित है। धर्म और नीति विषयक सामग्री का इसमे प्राय अभाव है। बम्बई संस्करण में २०२ अध्याय है और पूना के संशोधित संस्करण मे केवल १७३ हैं। इनमे लोक-प्रचलित संस्करणो के २० अध्याय (५२-७१) कश्मीर की पोथियो मे नही है और वे प्रक्षिप्त सिद्ध हुए है। इनमे मृत्यु का उपाख्यान, (५२-५४), संजय और उसके पुत्र स्वर्ण श्री का उपाख्यान (५५) और षोडशराजकीय प्रकरण (५६-७१) यहाँ द्रोण पर्व में आगन्तुक ज्ञात होते है, क्योकि यही सामग्री शान्ति पर्व अध्याय २९-३१, २४८-५० मे भी आई है।

इस पर्व के मुख्य उपपर्व इस प्रकार है —

१—द्रोणाभिषेक १–१५
२—संशप्तक-वध १६–३१
३—अभिमन्यु-वध ३२–५१
४—अर्जुन-प्रतिज्ञा ५२–६०
५—जयद्रथ-वध ६१–१२१
६—घटोत्कच-वध १२२–१५४
७—द्रोण-वध १५५–१६५
८—नारायणास्त्र-मोक्ष १६६–१७३

: ५६ :

द्रोणाभिषेक पर्व

(अ० १–१५)

जब दस दिन तक युद्ध करने के बाद भीष्म धराशायी हो गये तब कौरवों के सामने नया सेनापति चुनने का प्रश्न आया। इसमे कर्ण ने प्रस्ताव किया कि द्रोणाचार्य को सेनापति बनाया जाय। दुर्योधन ने द्रोण से प्रार्थना की, जिसे उन्होंने स्वीकार किया और उनका अभिषेक कर दिया गया। यहाँ उल्लेखनीय है कि जब भीष्म जैसे महारथी युद्ध मे असमर्थ हो गये तो कर्ण के मन पर सबसे अधिक चोट लगी और उसने उचित समझा कि युद्ध भूमि मे पडे हुए भीष्म से परामर्श किया जाय। वह उनके पास गया और भीष्म ने यही कहा कि नया सेनापति चुनकर युद्ध जारी रखना चाहिए। क्योंकि नायक के बिना सेना क्षण भर भी नही सभल सकती (न विना नायक सेना मुहूर्त्तमपि तिष्ठति, ५–८)। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कौरवों और पाण्डवो के सेना का जो बँटवारा हुआ था, उसमे मध्य देश के क्षत्रिय, जो ययाति के पुत्र पुरु के वशज थे, प्राय पाण्डवो की तरफ रहे। ययाति के पुत्र यदु, जिनमे सौराष्ट्र-गुजरात के वृष्णि, अन्धक आदि यादव क्षत्रिय थे, कृष्ण के द्वारा पाण्डव पक्ष में लडे। इनके अतिरिक्त ययाति के तीन पुत्र तुर्वसु, द्रुह्यु और अनु थे। इनके वशज प्राय. कौरवो के पक्ष मे गये। अनु के वशज आनव दो भागो मे बँट गये, पश्चिमी आनव पजाब मे और पूर्वी विहार-बगाल मे फैले। मद्र, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, शिबी, सौवीर शूद्र आदि आनव दुर्योधन की ओर थे तथा ययाति के दूसरे पुत्र द्रुह्यु ने गान्धार, बाह्लीक और कम्बोज तक अपने राज्य का विस्तार किया और उत्तर-पश्चिम के शक-यवन भी उन्ही के साथ हो गये। ये उत्तर पश्चिम के वीर लडाके कौरवो के साथी बने।

इसके अतिरिक्त ययाति का पाँचवाँ पुत्र तुर्वसु था, जो पश्चिम की ओर अज्ञात रूप में चला गया था, पर कालान्तर में उसी के वश मे सुदूर दक्षिण के केरल, चोल और पाण्ड्य नाम के राजा हुए। वे भी दुर्योधन के पक्ष में ही लडे। पूर्वी आनव विहार-बगाल में फैले और उनके वशजो ने पाँच राज्य स्थापित किये। अग (पूर्वी बगाल) वग, कलिग, पुण्ड्र (उत्तरी बगाल), सुम्ह (पश्चिमी बगाल)। इनमें कर्ण अग देश का अधिपति था। ये लोग भी कौरव पक्ष में ही आये। इस प्रकार देखा जाय तो उस समय के अधिकाश क्षत्रिय और राज्य दुर्योधन की नीति के पक्षपाती थे। यह कृष्ण का ही व्यक्तित्व था, जिसने कीर्ति और बल से पाण्डव पक्ष को सगठित किया और कस, शिशुपाल, जरासन्ध एव मध्य राजस्थान के सौभपति, शाल्व, इन चार कण्टको को हटा कर मध्य देश का ठोस बिचला भाग पाण्डवो के पक्ष मे कर दिया।

: ५७ :

संशप्तकवध पर्व

(अ० १९–३१)

ये त्रिगर्त देश (वर्तमान् कुल्लू-कागडा) के राजा थे। इनका अर्जुन के साथ घोर सग्राम हुआ और अर्जुन ने उनकी सेना के अधिकाश भाग का वध कर दिया। सशप्तक गणो ने अर्धचन्द्र व्यूह बनाकर युद्ध किया। पाण्डवो की ओर से उनसे युद्ध करने वाली सेना को गोपाल नारायण कहा गया है, अर्थात् यह भगवान् कृष्ण की वह सेना थी, जो गोपालगिरि या ग्वालियर के प्रदेश में एकत्र की गई। वह प्राचीन कुन्त (कोतवार) प्रदेश था। इस उपपर्व में प्राय युद्ध जनित सहार का वर्णन है। किन्तु अध्याय २२ मे धृतराष्ट्र ने सजय को बीच में रोककर योद्धाओ के रथ आदि के विषय में विशेष रूप से जानना चाहा। इस प्रसग में कथाकार ने ५० प्रकार के घोडो

का नामोल्लेख किया है, जिसका आधार उनके भाँति-भाँति के रग थे। अवश्य ही यह वर्णन गुप्त युग का ज्ञात होता है। उस समय भारतीय सेना का पुन सगठन गुप्त सम्राटो ने घुडसवार पल्टनो को रख कर किया और अश्वसेनाओ को सबसे अधिक महत्त्व दिया। वस्तुतः पहली और दूसरी शती मे विक्रान्त शक सेना मे घुडसवार पल्टने ही मुख्य थी। शको की इस युद्ध कला को भारतीयो ने भी सर्वथा अपना लिया। कालिदास ने रघुवश के चौथे सर्ग मे सरपट चलती हुई इन सेनाओ का बहुत अच्छा चित्र खीचा है। उस समय कम्बोज (मध्य एशिया), वाह्लीक (बल्ख), दरद्-काश्मीर, गान्धार, वनायु, उत्तर पश्चिम की बना घाटी आदि स्थानो से वहाँ के व्यापारी बढिया नस्ल और रगो के घोडे भारतवर्ष मे लाकर बेचते थे। इसका कुछ उल्लेख बाण ने हर्षचरित मे किया है। बाण की सूची में वनायु, कम्बोज, सिन्धु आदि देशो के अतिरिक्त सासानी ईरान देशो के घोडो का वर्णन है, जिनका उल्लेख कालिदास ने भी पार्शिको के वर्णन मे किया है (पाश्चातै अश्व साधनै, रघु० ४।७)।

गुप्त युग के साहित्य मे द्रोण पर्व का यह वर्णन नितान्त मौलिक और अनूठा है। किसी प्रतिभाशाली कवि ने अपने समकालीन वर्णक साहित्य से इस प्रकार के रगो और नामो का सग्रह कर के उसे लगभग साठ श्लोको मे यहाँ सगृहीत कर दिया है। यह घोडो का व्यापार करने वाले सार्थवाहो की क्रोडपत्रिका सी जान पडती है। इससे मिलती-जुलती और ऐसी ही विचित्र अन्य सूची दण्डि की अवन्ति-सुन्दरी नामक सातवी सदी की रचना मे है (पृष्ठ ९०-९४)। उसका भी आधार कोई ऐसा ही वर्णक रहा होगा। यह उल्लेखनीय है कि चौथी से सातवी शती तक ही ३०० वर्षो तक घोडो की शब्दावली ठेठ भारतीय और सस्कृत प्रधान थी, किन्तु आठवी शती के आरम्भ से अरब देश के सौदागर भी घोडो की तिजारत मे हिस्सा लेने लगे और राष्ट्रकूट राजाओ ने इस विषय मे उनको बहुत-सी सुविधाएँ दी। फलत. आठवी शती के मध्य भाग से अरबी भाषा के नाम भी जैसे बोल्लाह आदि भारतीय बाजारो मे चालू होने लगे। अगले तीन सौ वर्षो में स्थिति ऐसी हो गई कि

भारतीय शव्दावली प्राय जाती रही और उसके स्थान में अरवी के नाम ही चल पडे, जैसा मानसोल्लास और हेमचन्द के अभिधान-चिन्तामणि कोश से ज्ञात होता है। अतएव यह और भी भूमिका का विपय है कि द्रोण पर्व के इस प्रकरण से उस युग की ठेठ भारतीय शव्दावली का एक उज्ज्वल चित्र हमारे सामने आ जाता है।

कहा गया है कि भीमसेन के घोडे हिरन के रग के थे (ऋश्य वर्ण)। यह वही था जिसे सुतली रग कहते हैं। सैनेह सात्यकि के घोडो का रग चाँदी जैसा था (रजतासु)। इसे आजकल नुकरह कहा जाता है। वाण ने इसे ही श्वेत और दण्डी ने कर्क रग कहा है। दण्डी के अनुसार कर्क रग के घोडे सिन्धु देश से आते थे, जो पजाव का सिन्धुसागर इलाका था और जहाँ आज भी घोडे पालने की वडी-वडी तलवण्डियाँ हैं। इस रग को आज कल नीला सव्जा कहते हैं। नकुल के घोडे कम्वोज देश से लाये गये थे। जिनका रग सुआपखी (शुक पत्र परिच्छय) था। इसे ही वाण ने हरितरग कहा है जो अग्रेजी में 'चेस्ट नट' कहलाता है। दण्डी ने कम्वोज के घोडो को शोण रग का कहा है। सहदेव के घोडे कृष्ण रग के थे, जिसकी पहिचान वर्तमान मुश्की से की जा सकती है। युधिष्ठिर के घोडे सुनहले रग के थे। मत्स्य देश के राजा के अश्वो का रग पाटल पुष्प के समान चटकीला लाल था। दण्डी ने रक्त पाटल, सुमना पाटल, गुञ्ज पाटल (घुमची के समान लाल), तिमिस पाटल, और हरित पाटल इन पाँच तरह के पाटल रगो का उल्लेख किया है। विराट के पुत्र उत्तर के घोडे हल्दी के रग के थे। दण्डी ने इन्हें सोनजुही के रग का कहा है, जो गान्धार और यवन देश से लाये जाते थे। केकय देश के राजकुमारो के पास वीरवहूटी के जैसे चटकीले लाल रग के घोडे थे, जिनकी पहिचान दण्डी के गुजपाटल घोडो से की जा सकती है, जो कश्मीर देश से लाये जाते थे। शिशुपाल के पुत्र नरसिंह के पास सारग सवल या गुल्दार घोडे थे। सभवत इन्हें ही वाण ने कीर्त्तिका-पिञ्जर कहा है। किसी भी रग का घोडा जिसकी जिल्द पर सफेद चित्तियाँ हों, जैसे सफेद तारे विखरे हुए हों, कीर्तिका-पिञ्जर कहा जाता था।

चेदि देश के राजा के पास भी शबलित रग के काम्बोजी घोडे थे। ज्ञात होता है कि कम्बोज देश से सुआ-पखी, समन्द, चितकबरे इस प्रकार कई रगो के घोडो का आयात होता था। केकय देश के अधिपति बृहतक्षेत्र के पास अपने ठीक पश्चिम मे सिन्धु सागर दोआब मे तैयार होने वाले सैन्धव घोड़े थे, जिनका रग धुमैले रग का था (पलालधूम्र वर्ण)। शिखण्डी के पुत्र क्षात्रदेव के पास बासल्क देश के घोडे थे, जिनका रग लाल कमल जैसा और जिनकी आँखो में सफेद रग के डोरे थे। जिसके कारण उन्हे मल्लिकाक्ष कहा जाता था। वाण ने भी इनका उल्लेख किया है। कुछ घोड़े क्रौञ्च वर्ण के (क्रौञ्च नामक हस जातीय पक्षी जैसे श्वेत), कुछ शरीर के श्वेत गरदन मे काले (कृष्णक ग्रीव), कुछ उर्द के फूल जैसे पीले रग के थे, सभवत इन्हे ही दण्डी ने सिद्धार्थ कहा है। घोडो के रगो की सूची मे कुछ और नाम इस प्रकार है —

सालवृक्ष के पुष्पो का रग, मोर की ग्रीवा जैसा नीला रग, (दण्डी ने इन्हे इन्द्र नील के रग का कहा है), नीलकण्ठ के पख जैसा रग (चासपत्र-नील), पीला (पिसग), पयार के डठल जैसा, पलाण्डु वर्ण, सुनहला (हेमवर्ण), कबूतरी रग (पारावत सवर्ण), भूरा रेशमी (बभ्रु कौशेय), इन्द्र धनुष जैसा रगविरगा (इन्द्रादि सवर्ण) चितकबरा, (करबुर), कमलनाल जैसा हरा, (पुष्कर नाल समवर्ण), सरसो के फूल जैसा पीला (सरषप पुष्प तुल्य वर्ण), सफेद धारियो से युक्त चन्द्रमा जैसा ललछौह, उर्द के रग जैसा सही मायल हरा (माष वर्ण), सरकण्डे के समान सफेदी लिये हुए पीला, लाल कमल जैसा (पद्म किञ्जल्क वर्ण), नीले कमल सदृश्य (नीलोत्पल सवर्ण), मटर के रग जैसा सफेदी युक्त ललछौह (कलाय पुष्परग श्वेत), लोहित टेसू के फूल जैसा (किशुक पुष्प तुल्य वर्ण), कमल के पत्ते जैसा (काही), पुष्कर वर्ण तुल्य वर्ण, अडूसे के फूल जैसा श्वेत (आटरुचक पुष्प आभा) इत्यादि। इनके अतिरिक्त ऐसे आकाशी नीले रग का भी उल्लेख है, जिसमे तारे बिखरे हुए हो (तारका चित्रित अन्तरिक्ष सवर्ण)। यह बाण के कृत्य का पिञ्जर रग से मिलता हुआ ज्ञात होता है। एक दूसरे रग की

तुलना उस रेशमी वस्त्र से की गई है, जिसपर सुनहली बूदें छिटकी हुई हो (रुक्म पृष्ठा वकीर्ण कौशेय सदृश्य)। दण्डी ने भी हूवहू इसी रग के घोडो का उल्लेख किया है, जो गान्धार देश से लाये जाये जाते थे (निप्टप्त सुवर्ण निर्मित पीत कौशेय सन्निभ) इस प्रकार अनेक रग और रगतो से युक्त अच्छी नस्ल के घोडो के लक्षणो की पहिचान गुप्त युग की सस्कृति का विशेप अग था।

:५८:

अभिमन्युवध-पर्व

(अ० ३२–५१)

२० अध्यायो में यह महाभारत का प्रसिद्ध उपपर्व है। जव दुर्योधन ने आचार्य द्रोण को लडाई को कुछ ढील देने का उलाहना दिया तो द्रोणाचार्य ने अपनी पूरी शक्ति लगा कर युद्ध करने के लिये फाड बाँधा एव चक्रव्यूह की रचना की। युधिष्ठिर के रोकने पर भी अभिमन्यु ने चक्रव्यूह को तोडने की प्रतिज्ञा कर ली और वह कौरवो की चतुरगिणी सेना का वध करता हुआ चक्रव्यूह की ओर वढा। उसका पराक्रम देख कर द्रोणाचार्य भी चकित हो गये।

दु शासन और कर्ण भी उसका मार्ग नही रोक सके। यहाँ तक कि अभिमन्यु ने कर्ण के भाई का भी वव कर दिया। अभिमन्यु के साथ जो पाण्डव थे, उन्हे जयद्रथ ने रोक दिया और व्यूह द्वार की रक्षा करने लगा किन्तु उसे भी हटा कर अभिमन्यु चक्रव्यह मे घुस गया। वहाँ उसने अनेक योद्धाओ के साथ युद्ध किया। दुर्योवन भी उसके सामने नही ठहर सका और उसका पुत्र लक्ष्मण भी अभिमन्यु द्वारा मारा गया। तव छ महारथियो ने उस अकेले वीर को घेर लिया। अभिमन्यु फिर भी डरा या हटा नही और अपने

विचित्र क्षात्र तेज से अकेला उन छहो से युद्ध करता हुआ खेत रहा। इस प्रकार युद्ध के तेरहवे दिन पाण्डव पक्ष का एक अद्‌भुत् वीर काम आ गया।

अभिमन्यु का वध पाण्डवों के लिये साधारण घटना न थी। जैसे ही युधिष्ठिर ने यह समाचार सुना वे अत्यन्त विलाप करने लगे।

इसके बाद ही महाभारत के लोक प्रचलित सस्करण मे व्यास जी ने आकर युधिष्ठिर को सान्त्वना दी और मृत्यु की उत्पत्ति का वर्णन किया और फिर कहा कि उसने तप के द्वारा ब्रह्मा जी से समस्त प्रजा के सहार का वरदान प्राप्त कर लिया है। उसके बाद राजा सञ्जय की कथा कही जिसका सुवर्ण इष्ठीवी नामक पुत्र जो उसे अत्यन्त प्रिय था, मृत्यु के सहार से नही बच सका। फिर उन्होने सुभोत्र, कौरव, शिव, राम, भगीरथ, दिलीप, मान्धाता, ययाति, अम्बरीप, शशविन्द, गय, रन्तिदेव, भरत, पृथु और परशुराम इन सोलह राजाओ का चरित्र सुनाया जो महा प्रतापी चक्रवर्ती होते हुए भी मृत्यु से नही बच सके। यह प्रकरण षोडश राजकीय कहलाता है और यहाँ प्रक्षिप्त है। इसकी पुनरावृत्ति शान्तिपर्व मे आई है।

: ५९ :

प्रतिज्ञा पर्व

(अ० ५२–६०)

अर्जुन जब सशप्तक युद्ध से लौटकर शिविर मे आये तो अभिमन्यु वध का समाचार सुनकर उनके दु ख का ठिकाना न रहा। शीघ्र ही उनका वह शोक क्रोध मे बदल गया और उन्होने जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा कर ली। यह समाचार कौरव शिविर मे विजली की तरह दौड गया। दुर्योधन और द्रोणाचार्य जयद्रथ की रक्षा के लिये नाना भाँति के उपाय सोचने लगे। अभिमन्यु की मृत्यु से समस्त पाण्डव शिविर अत्यन्त दु खी हुआ। और

सबसे अधिक दु ख उसकी माता सुभद्रा को हुआ। वह बहुत विलाप करने लगी तब कृष्ण ने उसे आश्वासन दिया। यहाँ एक छोटी-सी कथा यह भी दी गई है कि युद्ध में विजय प्राप्ति के लिये कृष्ण ने अर्जुन को प्रेरित किया कि वह भगवान् शिव की पूजा करे। लिखा है कि अर्जुन स्वप्न में भी शिव के समीप रहे और शिव ने स्वप्न में ही अर्जुन को पाशुपत अस्त्र दिया।

अर्जुन द्वारा शिव का स्तोत्र (५७-४९-५८) दस श्लोको का छोटा नम स्तोत्र है।

चतुर्थ्यन्त पदो के साथ जहाँ नम पद का प्रयोग किया जाय उसे नम स्तोत्र कहते थे। यजुर्वेद के शतरुद्रीय स्तोत्र से इस शैली का आरम्भ हुआ था और बाद में अनेक पुराणो मे इस प्रकार के स्तोत्र पाये जाते हैं। इसी द्रोण पर्व के अन्त में लगभग ८० श्लोको का एक बहुत बडा और विशिष्ट नवाँ स्तोत्र है, जिसे व्यास ने अर्जुन को सुनाया था (१७३-२०-९८)। स्वय महाभारत के लेखक ने इन दोनो स्तोत्रो को शतरुद्रीय कहा है (५७-७१-, गृणन्तव शतरुद्रिय, १७३-१०१, देव देवस्य ते पार्थ व्याख्यात सत्रुद्रिय)। अगले दिन प्रात काल सब लोग भारी दायित्व के बोझ से आक्रान्त होकर उठे और युधिष्ठिर ने कृष्ण से प्रार्थना की कि अर्जुन की प्रतिज्ञा को आप सफल बनाएँ और अर्जुन को आशीर्वाद दिया। तब अर्जुन ने कृष्ण के साथ रथ पर बैठकर रण यात्रा की।

युधिष्ठिर की नित्य दिनचर्या :

इसी प्रसग में एक रोचक प्रकरण युधिष्ठिर आह्निक है जिसमें उनके नित्य कृत्य का वर्णन किया गया है। कुछ हस्तलेखो मे इसे युधिष्ठिर की काल वृद्धि भी कहा गया है। इसके अनुसार राजा युधिष्ठिर रात्रि बीतने पर प्रात काल उठे और तब तीन प्रकार के व्यक्तियो ने उनका स्वागत किया। एक पाणिस्वनिक, अर्थात् हाथ बजाकर ताल उत्पन्न करनेवाले व्यक्ति थे जिन्हें पाणिक या पाणिवादक कहा जाता था। दूसरे मागधजन, स्तोत्रगायन करने वाले थे, जिन्हे वैतालिक भी कहते थे। तीसरे मधुपर्क

लेकर राजा का सम्मान करने वाले (मधुपर्किक) थे। इसके अतिरिक्त सूत और वैतालिक थे भी राजा का स्तोत्र गान करने के लिये उपस्थित होते थे। कालिदास ने रघुवश के पाँचवे सर्ग के अन्त मे व्यतालिस पचदशी लिखकर १५ श्लोको मे व्यतालिसो के गान का परिचय दिया है। मागध और सूत का राजा के जीवन में विशेष स्थान था। जिस समय आदि राज पृथु राजा बनाये गये और उन्होने प्रजाओ का रञ्जन करने एव चक्रवर्ती के धार्मिक आदर्शों के पालन करने की प्रतिज्ञा की, तभी से उस प्रतिज्ञा के आदर्शों का स्मरण दिलाने वाले स्तोत्र या गान का पाठ करने वाले मागध और वन्दीजनो का भी, राज के साथ अधिक सम्बन्ध हो गया। प्रकरण मे तो जान पडता है कि वे मागधराज की स्तुति कहते थे किन्तु उनका लक्ष्य चक्रवर्ती धर्मराज के आदर्शों का स्मरण कराना ही था। राजा के जागरण के समय प्रात काल कुछ सगीत और नृत्य का भी आयोजन आवश्यक था, जिससे प्रजाओ को उनके उठ जाने की सूचना मिल सके। आज भी नौवत के रूप मे यह प्रथा पाई जाती है। यहाँ यह भी उल्लेख है कि नृत्यक, गायक, अपना कार्य करने लगे हैं। उनके साथ मृदग, झरझर, भेरी, पणव, आनक, गोमुख, आडबर(बडे ढोल),दुन्दुभी आदि इन बाजो के वडे शव्द का भी उल्लेख है। ज्ञात होता है कि प्राचीन नौबत झरने के समय इन बाजो का वृदवाद्य होता था। इस प्रकार की भारी ध्वनि से राजा और महल के नौकर चाकर सव जाग उठते थे। उठकर राजा आवश्यक कार्य के लिये स्नान गृह मे प्रविष्ट होते थे (उत्थाय आवश्यकार्यार्थिम् ययौ स्नानगृह ५८।७)। स्नान कराने के लिये १०८ स्नातक तरुण श्वेत वस्त्र पहिन कर और सोने के घडो में जल भर कर राजा के स्नान क्रिया के लिये तैयार रहते थे। स्नान के अनन्तर सूक्ष्म हल्का वस्त्र पहन कर राजा भद्रासन पर बैठकर चन्दन आदि से अनुलेपन करते थे और अभिमन्त्रित मन्त्र पढकर उनका प्रोक्षण किया जाता था। कई प्रकार के सुगन्धित पदार्थो से व्यक्ति उनका उत्सादन या अनुलेपन करते थे। इसमे हरिचन्दन द्रव्य का विशेप रूप से नाम आया है। इसके अतिरिक्त नाना प्रकार की सुगन्धित मालाये भी

राजा को धारण कराई जाती थी। इसके अनन्तर राजा के लिये धार्मिक कृत्य करना आवश्यक था। उसमें देवता के नामो का या अन्य किसी प्रकार के मन्त्र का जप किया जाता था। यह राजा की प्रात कालीन पूजा का कृत्य था। इसलिये महल में 'अग्नि शरण' नामक स्थान वनाया जाता था। वहाँ युधिष्ठिर ने अग्नि में हवन किया और तव वाहर आये।

राजा के वाहर आने का भी एक विशेष अर्थ था, अर्थात् वे महल की तीसरी कक्ष्या से, जिसमें अन्त पुर रहता था, दूसरी कक्ष्या में आकर पहले दानशाला में विराजते थे (द्वितीया पुरुप व्यघ्र कच्छ्याम निष्क्रमय)। वहाँ सभी प्रकार के लोगो की राजा से मुलाकात होती थी। उनमें सर्वप्रथम वेदो के विद्वान् व्राह्मण होते थे, जो कुशल प्रश्न पूछ कर राजा को आशीर्वाद देते थे। राजा इस प्रकार के वेदज्ञ, याज्ञिक, व्राह्मणो और स्नातको का यथोचित आदर करके विदा करते थे। इसमें राजा के दानो में स्वर्ण, निष्क, वस्त्र, गौ, अश्व आदि का उल्लेख है। इसके बाद एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख यह है कि राजा के सामने नाना प्रकार के मागलिक चिह्न और द्रव्य लाये जाते थे, जैसे सोने के पत्तर पर ठप्पा मार कर वनाये हुए स्वस्तिक, वर्वमान और नद्यावृत नामक विशेप चिह्न, सुवर्ण माल्य पूर्णकुम्भ, प्रज्ज्वलित अग्नि, पूर्ण अक्षत पात्र, रुचक या सुवर्ण निप्क, अलकृत कन्यायें, दवि, मवु, घृत, जलकुम्भ, मगलात्मक पक्षी। राजा इन पदार्थो का दर्शन करके इनमे से कुछ का दान भी करते थे।

पूर्णशाला या सत्र स्थान से उठकर राजा दूसरी कक्षा में ही वने हुए आस्थानमण्डप मे, जिसे सभा भी कहा जाता था, आकर वैठते थे। जहाँ राजा के लिये विशेप भद्रासन सजाया जाता था। आसन के साथ तीन वस्तुयें आवश्यक हैं—एक अति उत्तम आस्तरण, दूसरे चँदोवा (उत्तरच्छद), तीसरे सोने के पतले दण्ड, जिन पर चँदोवा ताना जाता था (परार्घ्यास्तरणास्तीर्ण सोत्तरच्छद मृद्धमत्। विश्वकर्मकृत दिव्य उपजह्रुर्वरासन ५८।२३)। आनन पर वैठते ही परिचारक राजा के ऊपर सुनहले चँवर डुलाने लगते थे। यहाँ सार्वजनिक रूप से मागध, वन्दी और सूत सर्वप्रथम राजा की

स्तुति करते थे। इस प्रकार जो युधिष्ठिर का नित्य कार्य कहा गया है, वैसा प्रत्येक राजा की दिनचर्याका राज्य-शास्त्र के ग्रन्थो मे और काव्यो मे भी पाया जाता है।

: ६० :

जयद्रथवध पर्व

(अ० ६१-१२१)

इसमे अर्जुन के द्वारा जयद्रथ के वध की महती कथा है। अर्जुन ने बडे उत्साह के साथ रणभूमि मे प्रवेश किया। पहले उसकी मुठभेड दु शासन से हुई, पर वह उसके सामने ठहर न सका। फिर द्रोणाचार्य से युद्ध हुआ तब उनको एक ओर बचा कर अर्जुन आगे वढे। दुर्योधन ने इसके लिये द्रोण को उलाहना दिया, तो आचार्य ने उसी के शरीर मे दिव्य कवच वॉधकर अर्जुन के साथ युद्ध करने के लिए भेजा। इधर धृष्टद्युम्न ने द्रोण के सामने आकर उनसे लोहा लिया। सात्यकी धृष्टद्युम्न की रक्षा के लिये पहुँचा तो द्रोण का उसी से युद्ध होने लगा। इधर विन्द और अनुविन्द का वध करके अर्जुन शत्रु सेना पर आक्रमण करते हुए जयद्रथ की ओर वढे। इतने मे दुर्योवन ने अर्जुन का मार्ग रोका और उन्हे युद्ध के लिए ललकारा। दोनो मे भीपण सग्राम हुआ। पर दुर्योधन अर्जुन के सामने न ठहर सका। अकेले अर्जुन ने कौरव सेना के नव महारथियो को परास्त किया। इसी वीच युधिष्ठिर की भी द्रोणाचार्य से टक्कर हुई, जिसमें युधिष्ठिर के पैर उखड गये। युधिष्ठिर ने सात्यकी को अर्जुन की सहायता के लिये भेजा। सात्यकी ने वहुत पराक्रम दिखलाया। उसने त्रिगर्त्तों के साथ, काम्बोजो के साथ और पाषाणयोधी म्लेच्छो के साथ युद्ध किया। जब अर्जुन को गये वहुत देर हो गयी, तो युधिष्ठिर ने चिन्तित होकर भीम को उनकी सहायता के लिये भेजा। भीमसेन कौरव सेना को चीरते हुए अर्जुन के पास जा

पहुँचे। भीमसेन और कर्ण का घोर युद्ध हुआ, जिसमे कर्ण की पराजय हुई। पर पीछे कर्ण फिर तगडे पडे तो अर्जुन ने बीच में पडकर अपने वाणो से कर्ण को पीछे हटाया। इस समय अर्जुन ने डट कर जयद्रथ पर आक्रमण किया और घोर युद्ध के अनन्तर अद्‌भुत् पराक्रम करते हुए आखिर में सिन्धु-राज जयद्रथ का वध कर डाला। तब श्रीकृष्ण अर्जुन की प्रशसा करते हुए उन्हें युधिष्ठिर के पास वापस लाये। इस पर दुर्योधन खेद करता हुआ द्रोणाचार्य को उपालम्भ देने लगा।

: ६१ :

घटोत्कच पर्व

(अ० १२२–१५४)

अगले दिन के युद्ध में घटोत्कच का वध मुख्य घटना है। उस दिन सायकाल को भी युद्ध वद नही हुआ और पाण्डव सैनिको ने रात्रि युद्ध में द्रोणाचार्य पर आक्रमण किया। द्रोण ने शिबी का और भीम ने कलिग के राजकुमार ध्रुव का वध किया। तव घटोत्कच और अश्वत्थामा का युद्ध हुआ। इधर युधिष्ठिर ने भी द्रोण पर आक्रमण किया और पहिले तो युद्ध में युधिष्ठिर विजयी रहे पर पीछे द्रोण के सामने युधिष्ठिर के पैर उखड गये। अश्वत्थामा का पाचाल के राजकुमार धृष्टद्युम्न से पुराना वैर था, जिसके कारण दोनो में घमासान युद्ध हुआ और धृष्टद्युम्न को भागना पडा। नकुल और शकुनि, शिखण्डी और कृपाचार्य, सात्यकी और दुर्योधन, अर्जुन और शकुनि इन विपक्षी वीरो का परस्पर घोर युद्ध होता रहा। दुर्योधन के उपालम्भ देने से द्रोण और कर्ण ने पराक्रम की पराकाष्ठा कर दी, जिससे धृष्टद्युम्न और पाचालो के पाँव उखड गये। इससे युधिष्ठिर घवडा उठे। तव कृष्ण और अर्जुन ने घटोत्कच को कर्ण के साथ युद्ध करने के लिये भेजा। घटोत्कच ने अत्यन्त घोर युद्ध किया और अन्त में विवश होकर

कर्ण को इन्द्र की दी हुई अमोघ शक्ति घटोत्कच पर छोड़नी पड़ी जिससे उसका वध हो गया। इससे पाण्डव पक्ष मे शोक छा गया, पर कृष्ण प्रसन्न हुए, क्योकि उन्हें आशका थी कि किसी दिन कर्ण द्वारा उस शक्ति का अर्जुन के विरुद्ध प्रयोग हो सकता था।

: ६२ :

द्रोणवध पर्व

(अ० १५५–१६५)

रात्रि युद्ध से थके-माँदे सैनिको ने दिन मे विश्राम किया और चन्द्रोदय के बाद से पुन युद्ध शुरू हो गया, जो उस रात्रि को और अगले दिन चलता रहा। सब पाण्डव वीरो ने द्रोण पर आक्रमण किया, किन्तु द्रुपद एव विराट दोनो खेत रहे। तब धृष्टद्युम्न ने और भी घोर आक्रमण किया, पर द्रोणाचार्य ने सग्राम मे बहुत भयकर रूप धारण किया। उससे पाण्डव पक्ष मे अत्यन्त निराशा छा गयी। तब उनकी ओर से अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार फैला दिया गया। उसे सुनकर द्रोण जीवन से निराश हो गये और उन्होने अस्त्र रख दिया। उस अवस्था मे धृष्टद्युम्न ने उनका शिरोच्छेद कर दिया। पाण्डव-पक्ष से यह अत्यन्त निन्दनीय कार्य हुआ।

: ६३ :

नारायणास्त्रमोक्ष पर्व

(अ० १६६–१७३)

अपने पिता का वध सुनकर अश्वत्थामा क्रोध से भर गया और उसने नारायणास्त्र नामक एक विशेष हथियार का प्रयोग किया, उससे भीमसेन का अन्त ही हो गया होता, किन्तु कृष्ण ने भीमसेन को रथ से उतारकर

नारायणास्त्र को एक प्रकार से विफल कर दिया। तब अश्वत्थामा ने आग्नेयास्त्र छोड़कर एक अक्षौहिणी सेना का संहार कर दिया, पर श्रीकृष्ण और अर्जुन पर उस अस्त्र का कोई प्रभाव नहीं हुआ। उस समय व्यास जी ने प्रकट होकर अश्वत्थामा को शिव और कृष्ण की महिमा बताई। इससे प्रभावित होकर अश्वत्थामा ने दोनों को प्रणाम किया।

द्रोण पर्व के अन्त में एक अध्याय शिव के नम स्तोत्र का है। कथा इस प्रकार है, जब द्रोण युद्ध समाप्त हुआ तो अकस्मात् व्यास जी वहाँ आ गये और अर्जुन ने कहा कि जब मैं युद्ध करता था तो अग्नि के समान त्रिशूलधारी एक महापुरुष को आगे चलता हुआ देखता था जिस दिशा में वे जाते थे उसी दिशा में शत्रु बिखर जाते थे। न तो वह महापुरुष पैरों से पृथ्वी का स्पर्श करता था और न हाथ से त्रिशूल ही छूता था। व्यासजी ने समाधान किया "वे तो साक्षात् भगवान् शंकर ही थे। हे अर्जुन, प्रजापतियों में प्रथम जो तैजस पुरुष हैं, जो सब लोकों के ईश्वर और ईशान हैं, हे अर्जुन, तुमने उन्हीं शिव का दर्शन किया है। उन महात्मा महादेव की शरण में जाओ। उनके अनेक पार्षद हैं, जो सदा उनके साथ रहते और पूजा करते हैं। जिस सेना की रक्षा कर्ण और द्रोणाचार्य करते थे, उसका धर्षण भगवान् रुद्र के अतिरिक्त और कौन कर सकता था? उनके सम्मुख कोई भी ठहरने का साहस नहीं कर सकता। अतएव हे अर्जुन, उन भगवान् शिव को नमस्कार करो।" यह कह व्यास जी ने स्वयं ही एक अत्यन्त प्रभावशाली स्तोत्र अर्जुन को सुनाया। ८० श्लोकों (१७३–२०–९८) का यह स्तोत्र शतरुद्रीय कहा गया है और इसके चार भाग इस प्रकार हैं :

१—नम स्तोत्र (१७३–२०–३९)
२—शिव के नाम (१७३–४०–७८)
३—[illegible] (१७३–७९–९०)
४—फलश्रुति (१७३–९१–९८)

इसी [illegible] में इसे चतुर्विध स्तोत्र कहा गया है। इस प्रकार [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] कहते हैं, अर्थात् [illegible] के विषय में

जितने प्रकार का वर्णन सभव है, उन समस्त अर्थों को प्रयत्न पूर्वक एकत्र करके स्तोत्रो के रूप मे ढाला जाता था। कही इनमे १०० नाम और कभी एक सहस्र नाम पाये जाते है। वर्तमान नम. स्तोत्र यजुर्वेद के शतरुद्रीय स्तोत्र से प्रभावित है, किन्तु कालान्तर में माहेश्वर और पाशुपत शैवो ने शिवतत्त्व के विषय मे जिन नये विचारो की भावना की, वे भी इस स्तोत्र में आये है। यह भी उल्लेखनीय है कि शिव या विष्णु के नामो की नई नई व्युत्पत्तियाँ पुराणो का आवश्यक अग बन गई थी। ये निरुक्तियाँ आर्थी निरुक्ति है, शास्त्रीय नही अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थो मे अर्थ को उलट कर के तीन प्रकार की निरुक्तियाँ मिलती है। उसी शैली मे ये भी है:

नामधेयानि लोकेषु बहून्यत्र यथार्थवत् ।
निरुच्यन्ते महत्त्वाच्च विभुत्वात्कर्मभिस्तथा ॥ (१७३।७८)

उदाहरण के लिये त्र्यम्बक के नाम के विषय मे कहा है कि भुवनेश्वर भगवान् शिव देव, पृथ्वी और आप या जलमय मूर्त्ति इन तीन देवो का आश्रय लेते है। इसलिए उनका नाम त्र्यम्बक है। अर्थवेत्ता की दृष्टि से नि सन्देह यह शिव स्तोत्र अत्यन्त विशिष्ट रचना है और सक्षिप्त होते हुए भी स्तोत्र साहित्य में इसे ऊँचा स्थान मिलना चाहिये।

आठवाँ कर्ण-पर्व

यह महाभारत का आठवाँ पर्व है, जिसमे ६९ अध्याय और लगभग ४००० श्लोक है। इसमे निम्नलिखित घटनाओ का वर्णन है:

१—कर्णाभिषेक

२—पाण्ड्य वध

३—त्रिपुरघातन

४—कर्ण-शल्य-विवाद

: ६४ :

कर्णयुद्ध-वर्णन

द्रोण के अनन्तर दुर्योधन ने कर्ण को अपना सेनापति नियुक्त किया और [illegible] फिर से भी घोर रूप में युद्ध हुआ। पहले दिन भीम के द्वारा क्षेमधूर्ति का वध हुआ और उसने अश्वत्थामा के साथ भयंकर युद्ध किया। अर्जुन ने संशप्तक वीरों के साथ प्रलय के समान घोर संग्राम किया। सहदेव ने दुःशासन को और कर्ण ने भीम को नीचा दिखाया। उस दिन कितने ही छोटे मोटे द्वन्द्व (या मुठभेड़) युद्ध हुए। दुर्योधन और कर्ण ने मिलकर राजा युधिष्ठिर से संग्राम किया।

इस समय एक समस्या उत्पन्न हुई अर्थात् कर्ण के लिए एक योग्य सारथी की आवश्यकता थी, जिससे वह भी अर्जुन के समान पराक्रम दिखला सके। कर्ण ने प्रस्ताव किया कि शल्य को उसका सारथी बनाया जाय। शल्य को पहले तो यह बात मान्य न हुई, किन्तु दुर्योधन के बहुत आग्रह करने और

शकुनि के बहुत समझाने-बुझाने पर उसने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। पर यह स्वीकृति कर्ण के लिये लाभदायक सिद्ध नही हुई। इससे कर्ण के लिये एक बखेडा ही खडा हो गया। दोनो मे काफी कलह उत्पन्न हो गया। कर्ण जब अपनी प्रशसा में कुछ कहता, तब शल्य उसे वही रोककर उल्टे अर्जुन की बडाई करने लगता। शल्य ने यहाँ तक कह डाला कि हे कर्ण, यदि तुम युद्ध से भाग न गये, तो अर्जुन के हाथ से न बच सकोगे। स्वत युद्ध मे कमर कस कर उतरे हुए वीर के लिये उसकी प्रशसा से वढकर और कोई अमृत का पान नही होता और लाछना से बढकर उस वीर के लिए कोई विष नही होता पर कर्ण के भाग में यह अमृतपान न था। शल्य को सारथी कार्य के लिये प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से दुर्योधन ने त्रिपुराख्यान का वर्णन किया, जिसमे शिव जी ने देवताओ की ओर से युद्ध करने के लिये एक सर्वदेवमय और सर्व लोक मय रथ सजाया था, तब स्वय ब्रह्मा जी ने उनका सारथी होना स्वीकार किया था। इसलिये सारथी का पद अत्यन्त सम्मानित समझा जाता था। दुर्योधन की इस बात का शल्य के मन पर प्रभाव हुआ और उसने उसकी बात मान ली। कर्ण को इससे बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने अच्छे हृदय से यह कहा :

ईशानस्य यथा ब्रह्मा यथा पार्थस्य केशवः।
तथा नित्यं हिते युक्तो मद्रराजभजस्वनः। (२५।७)

पर कर्ण और शल्य की कुण्डली मिलने वाली न थी। शल्य ने कठोर भाषण से शत्रु की प्रशसा और कर्ण की निन्दा, विशेषत अर्जुन के पराक्रम का वखान करना शुरू किया। कर्ण को तो अर्जुन से युद्ध करने का उत्साह था और वह सैनिको से पूछ रहा था कि शल्य ने उसे फिर चिढाया—'हे कर्ण, अव तुम काल पक्व होकर मृत्यु के मुख मे जाना चाहते हो'। तव कर्ण को कहना पडा—"हे शल्य, तुम मित्र का मुख रखने वाले मेरे शत्रु हो। और मुझे भयभीत करना चाहते हो" (त्व तु मित्रमुख शत्रुर्मां भीपयितुमिच्छसि २७।२८)। पर शल्य की जि ह्वा विप की थैली थी। उससे चुप न रहा गया

और कहने लगा—"हे कर्ण, तुम गीदड की तरह शेर से या वटेर की तरह गरुड से भिडना चाहते हो। जैसे मेढक मेघ को देख कर टर्राता है, ऐसे ही तुम्हारा यह भाषण है। क्या विना डोगी के कोई कुपित समुद्र पार कर सकता है? चूहे और विलार में, कुत्ते और वाघ में, शृगाल और सिंह में, खरगोश और हाथी में, झूठ और सत्य में एव विष और अमृत में जितना अन्तर है, उतना ही तुममें और अर्जुन में है।"

जव वात इतनी वढी तो कर्ण से भी न रहा गया और इसके वाद कर्ण ने जो कुछ शल्य के लिये कहा, वह महाभारत का अत्यन्त विलक्षण प्रकरण है। उसे पुष्पिका में मद्रक-कुत्सन कहा गया है। यह अश कर्ण पर्व के २७वे अध्याय के ७१–९१ श्लोको में और २०वें अध्याय के ७–८१ श्लोक में आया है।

यहाँ महाभारतकार क्या कहना चाहते थे और इन श्लोको का वास्तविक अर्थ क्या है, यह वात अभी तक किसी लेखक ने स्पष्ट नही की है। यह ऊपर से तो कर्ण और शल्य की तू-तू मैं-मै जान पडती है, किन्तु इसके भीतर ठोस ऐतिहासिक तथ्य छिपा हुआ है। वात ऐसी है कि जव इस देश पर सिकन्दर ने आक्रमण किया, तो उसके अन्यायी यवनो का कुछ प्रदेशो पर अधिकार हो गया। पहिले यह अधिकार वाल्हीक या वल्ख प्रदेश पर था और वहाँ के यवन शासक वाल्हीक यवन कहलाते थे। मौर्य सम्राटो के युग में तो वे निस्तेज होकर सिकुडे हुए पडे रहते थे। किन्तु मौर्य साम्राज्य के विखरने पर जव पुष्यमित्र सत्तारूढ हुआ, उस समय यवनो ने गान्धार और पजाव की ओर अपने पैर फैलाने शुरु किए और उनमे से दिमित्र और मेनन्द्र नामक राजाओ ने पचनद या पजाव के उत्तरी प्रदेश में, जिसे मद्र कहते थे एव जिसकी राजधानी शाकल थी, अपना अधिकार जमाया। मद्रराज शल्य भी वही के थे। अतएव उनके व्याज से जो कुछ मद्रक यवनो के आचार और विचार के प्रति भारतीयो की प्रतिक्रिया थी, वह सव शल्य के सिर मढ कर यहाँ कही गई है। स्पष्ट ज्ञात होता है कि मद्रक यवनो का रहन-सहन भारतीयो के आचार-विचार और सामाजिक

सगठन से भिन्न था। उनमे खान-पान, नाच, रग, सुरा और मद, नग्न नृत्य आदि बहुत सी कुटिल प्रथाएँ ऐसी थी, जिनकी चर्चा मध्य देश में रहने वाले भारतीयो के कानो मे आने लगी। तभी ऐसा हुआ कि मध्य देश मे ऐसी धारणा फैली कि पाँच नदियो वाला वाहीक देश पृथिवी का मल है, वहाँ किसी को नही जाना चाहिये। यहाँ तक बात बढी कि जो कुरुक्षेत्र, सरस्वती और दृशद्वती के वीच का प्रदेश, पृथ्वी का सबसे पवित्र स्थान माना जाता था, उसके लिये भी कहा गया है कि 'तीर्थयात्रा के लिये वहाँ दिन मे ही जाना चाहिए और रात्रि मे न ठहर कर उसी दिन वापस चले आना चाहिए। यह वात कुरुक्षेत्र के यात्रा के सम्बन्ध मे कही गई है और उसकी भी सगति यही है।

मद्रक यवनो के विषय मे ये किंवदन्तियाँ चलते-चलते ही गाथाओ के रूप मे लोक मे फैल गई थी, यह बात स्पष्ट दिखाई पडती है। लगभग एक जैसा वर्णन कुछ हेरफेर से १० या ११ बार दुहराया गया है और उसका ढग यही है कि एक किसी ब्राह्मण ने ऐसा कहा था, किसी दूसरे ब्राह्मण ने ऐसा कहा था। मैंने धृतराष्ट्र की सभा मे ऐसा सुना था इत्यादि। इन वर्णनो की तालिका इस प्रकार है --

१. "मद्र देग कुदेश या पाप का देश है। वहाँ की स्त्रियाँ, बालक, बूढे और तरुण प्राय खेल मे मस्त रहते है और वे इन गाथाओ को ऐसे गाते हैं, मानो अध्ययन कर रहे हो। मद्रक दुरात्मा हैं। उनकी इस तरह की गाथाओं को, जैसा पहले ब्राह्मणो ने राज-सभा मे सुनाया था, वे इस प्रकार है। मद्रक बडा मित्र-द्रोही होता है। जो हमारे साथ नित्य शत्रुता का व्यवहार करता है, वही मद्रक है। मद्रक के साथ कभी दोस्ती नही हो सकती, क्योकि वह झूठा, कुटिल और दुरात्मा होता है। दुष्टता की जितनी हद है वह सब मद्रको मे समझो। उनकी विचित्र प्रथा है कि मा, वाप, वेटे, वेटी, सास और ससुर, भाई, जमाई, पोते और धेवते, मित्र, अतिथि, दास, दासी, जान-पहिचान के और अनजान स्त्री और पुरुष सब एक दूसरे के साथ मिल कर सगत करते है। वे शिष्ट व्यक्तियो के घर मे इकट्ठे होकर सत्तू की पिण्डियाँ

और उसका घोल पीते है और गोमास के साथ शराव पी कर हँसते और चिल्लाते है एव कामवश होकर स्वेच्छाचार बरतते है। उनकी काम से भरी बातें सुनकर जान पडता है कि उनमें धर्म का सर्वथा लोप हो गया है। मद्रक के साथ न वैर और न मैत्री करनी चाहिए। वह अत्यन्त चपल होता है। उसमें शौच का भाव नही, उसे स्पर्श और अस्पर्श का ज्ञान भी नही होता। विच्छू जैसे विष बुझा डक मारता है, वैसे ही मद्रक का मेल है। उनकी स्त्रियाँ शराब के नशे में वुत्त हो कर कपडे फेंक कर नाचती है। यहाँ तक की असयत कामाचार से भी नही चूकती है। हे मद्रक, तू उन्ही का बेटा है, तू धर्म क्या जाने? जैसे ऊँटनी खडी होकर मूतती है, वैसे ही उनकी स्त्रियाँ भी। वहाँ काँजी (सुमिरक) पीने का बेहद रिवाज है। काँजी की शौकीन स्त्री कहती है कि मै पुत्र दे दूगी पर कोई मुझसे काजी न माँगे। वहाँ की स्त्रियाँ लम्बे-चौडे शरीर वाली, ऊनी वस्त्र पहिनने वाली, डटकर भोजन करने वाली, निर्लज्ज और अपवित्र होती है, ऐसा मैने सुना है। उनके विपय मे और भी कुछ कहा जा सकता है। मद्रक धर्म को क्या जानें? वे पापी देश में उत्पन्न हुए म्लेच्छ हैं। हे मद्रराज, फिर यदि तुमने कुछ कहा तो मै गदा से तुम्हारा सिर तोड दूगा।"

कर्ण के उत्तर में शल्य ने कौवे और हस की एक कहानी सुनाई, जिसमे कौवा कुजात होकर भी अपनी वडाई हांकता है। अन्त में वह अपनी उडान के करतव दिखाता हुआ समुद्र में डूबने लगा तो उसके माफी माँगने पर हस ने उसे उठाकर किनारे पर रख दिया। इसके उत्तर में अध्याय २९ में कर्ण ने पहले तो सच्चे मित्र के विपय में कुछ सुन्दर श्लोक सुनाये, किन्तु इतना अश यहाँ स्पप्ट जोडा गया है और तीसवें अध्याय का मेल पूर्व के २७वें अध्याय से मिल जाता है। फिर मद्रको के विषय की गाथाओ का ताँता शुरू हो जाता है। जो इस प्रकार है

२ "हे शल्य! धृतराष्ट्र की सभा में मैने देश-विदेश घूमकर आते हुए ब्राह्मणो को यह कहते सुना था—'एक बूढे ब्राह्मण ने वाल्हीक देश और

मद्र देश का अपना अनुभव यो बताया था कि हिमालय और गगा, यमुना और सरस्वती एव कुरुक्षेत्र की सीमा के उस पार जो सतलज, व्यास, रावी-चिनाव, झेलम और सिन्धु इन छ नदियो के बीच का देश है, वह धर्मबाह्य और अपवित्र है। उस वाल्हीक देश को बिल्कुल छोड देना चाहिये। वहाँ गोवर्द्धन नामक बडा बरगद का पेड है और सुमान्य नामक पूजने का चौरा है (चत्वर)। येही वहाँ के राजकुल मे प्रवेश करने के दो विन्दु हैं, ऐसा बचपन से सुनता आया हूँ। जब बहुत आवश्यक कार्य पडा तब मैं वाल्हीक मे गया। तब वहाँ रहने से उनका यह समाचार ज्ञात हुआ। वहाँ शाकल नामक नगर है और आपग नाम की नदी है। उन वाल्हीको को जर्तिक भी कहते हैं। उनका आचार महानिन्दित है। वे गोमास और लहसुन के साथ धान और गुड की शराब पीते है और माल-पूए जैसे मीठी रोटी एव कबाब (अपूप-मासवटी) खाते हैं। शील छोडकर वे मदमस्त होकर स्त्रियो के साथ हँसते-गाते और नगा नाचते हैं। नगर के बाहर चुने हुए स्थानो मे माला पहिन कर और अनुलेपन लगाकर मतवाले बने हुए गधे और ऊँट की तरह रेकते हैं। उनमें एक प्रकार की हेहता-हेहता (पाठा० हाहता-हाहता) नाम की गणिकाएँ होती हैं। जो पति या स्वामी नही करती। वे ऐसे उत्सवो के समय चिल्लाती हुई नाचती है—(हा हते हा हतेत्येव स्वामिभर्तृहतेति च। आक्रोशन्त्य. प्रनृत्यन्ति मदा. पर्वस्वसयता, ३०।१८)। कभी ऐसा हुआ कि उनमे से एक वाल्हीक दूर प्रदेश मे चला जाय तो वहाँ रहकर उदास मन से वह सोचने लगता है—वह गोरी लम्बी-चौडी, महीन वस्त्र पहिननेवाली मेरी प्रिया मेरा स्मरण करके आज अकेली शयन करती होगी। मै सतलज नदी और उस प्यारी रावी नदी को पार करके स्वदेश पहुँचूगा और उठी हुई तपोदासी प्यारी वहाँ की शुभ स्त्रियो को देखूगा। उनके कटाक्ष मैनसिल की भाति उज्ज्वल है और उन गोरी स्त्रियो के नेत्रो में अञ्जन की सलाई से रेखाएँ बनाई गई है। वे केवल चमडे का वस्त्र ढक कर कूदती हुई नाचती है। उस समय मृदग, भेरी, शख, वादल बाजो के साथ गदहे, ऊँट, खच्चरो की सवारी पर

गोरियो के साथ पीलू और करील के जगलो में हम विचरेंगे और मीठी रोटियाँ एव सत्तू की पिण्डियाँ मट्ठे के साथ खाते हुए वटोहियो के साथ प्रवल होकर लूट-मार भी करेंगे। इस प्रकार दुरात्मा वाल्हीक उद्सेघजीवी प्रत्या की तरह वर्तते है। जान-वूझकर कौन ऐसे वाल्हीको के साथ रहेगा। कुछ मैं नही कहता, उस ब्राह्मण ने ऐसा कहा था।

३ "इसके वाद उस ब्राह्मण ने इतना और कहा था कि उन विनय शून्य वाल्हीको में कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि मे कोई राक्षसी वडे शाकल नगर में दुन्दुभी वजा कर गाया करती है। कव फिर शाकल नगर मे घोपिका गाथाएँ हम गायेंगे ? कव गोमास से छक कर गौडीय सुरा पी कर अलकृत और वृहती गोरी स्त्रियो के साथ प्याज कूचते हुए शराव के कुल्ले करेंगे और भेड का मास खायेंगे ? जो सूवर, मुर्गे, गौ, गवा, ऊँट और भेड का मास नही खाता, उसका जन्म निरर्थक है। शराव से धुत् होकर आवालवृद्ध शाकल के रहने वाले कूद-कूद कर इस प्रकार गाते हैं। उनमें सदाचार का कहाँ ठिकाना ? हे शल्य ! तुम ऐसा समझ लो और फिर सुनो।"

४ "दूसरे ब्राह्मण ने कुरु राजसभा मे हमे यह वात सुनाई थी। जहाँ पीलू के जगल है, जहाँ शतद्रु, विपाशा, इरावती, चन्द्रभागा और वितस्ता ये पांच नदियाँ और छठी सिन्धु वहती है, वे वहिर्गत् देश हैं। उनका नाम आरट्ट है। वहाँ धर्म का नाश हो गया है। इसलिये वहाँ कभी नही जाना चाहिए। वहाॅ लूटमार करने वाली जातियो का राज्य है। उनको व्रात्य कहते है या दास-दासियो का या रोजगारियो का (विदेह) और यज्ञहीनो का निवास है। उन नष्टधर्म वाल्हीको के यहाँ देव-पितर और ब्राह्मण नही जाते, ऐसा सुना जाता है।"

५ किसी दूसरे ब्राह्मण ने एक साधु समाज मे पहुँच कर ऐसा कहा था। वाल्हीक में लोग लकडी के वर्त्तनो में और मिट्टी के वर्तनो में खाते है। उन वर्तनो को कुत्ते भी चाट लेते है, पर सत्तू के गोले और कवाव मे मस्त वाल्हीक कुछ विचार नही करते। वे लोग भेड, गधे और ऊँटनी का दूध और उससे वने हुए पनीर खाते और पीते है। उनके यहाँ पात्रो में एक-एक करके सव

तरह के अन्न और दूध का भोजन किया जाता है। बुद्धिमान को चाहिए कि आरट्ट नामक वाह्लीको के दूध से बचावे।"

६ "हे शल्य! और भी सुनो, जो एक दूसरे ब्राह्मण ने कुरु सभा मे सुनाया था। जिसने युगन्धर मे दूध पिया, अच्युत् स्थल मे निवास किया और भूतलय मे स्नान किया। उसे वह स्वर्ग कैसे मिलेगा, जहाँ पाँच नदियाँ पर्वत से निकल कर वही है, वही आरट्ट नामक बाल्हीक देश है। आर्य वहाँ दो दिन भी न रहे। वही वाह्लीक नामक दो पिशाच व्यास नदी के किनारे रहते हैं। वही की सन्तान वाल्हीक है, इसे ब्रह्मा की सृष्टि नही कही जा सकती। उन्ही की तरह के और भी कुछ देश है, जैसे कारस्कर, महिषक, कलिग, कीकट (मगध) कर्कोटक और वीरक (सौवीर)। उनका धर्म दुष्ट आचार है। उनसे दूर रहना चाहिये, यह बात किसी उलूखल मेखला नाम की यक्षी ने शमी (छौकर) के कुज मे किसी रात को एक तीर्थयात्री से कही थी। उस देश का नाम आरट्ट है और वहाँ के लोगो का नाम वाल्हीक है।

७. "हे शल्य, मै फिर कहता हूँ उसे सुनो। कोई एक ब्राह्मण पहले किसी शिल्पी के घर मेहमान होकर आया और उस शिल्पी के आचार को देखकर प्रसन्न होकर बोला—मैंने बहुत दिन तक हिमालय मे निवास किया है और बहुत से देशो को, नाना धर्मो को घूम कर देखा है। जैसी प्रजाओ के धर्म यहाँ है, वैसे ही और सब जगह है। वेदो में पारगत लोगो से सब जगह मैंने वैसे ही वर्णाश्रम के धर्म सुने है, पर जब मै बाल्हीक मे था, तब मैंने विचित्र बात देखी। वही ऐसा है कि आज जो ब्राह्मण है, वह कल क्षत्रिय हो जाता है या बाल्हीक कभी वैदिक, कभी शूद्र, कभी अनार्य बन जाता है। नाई बनकर फिर ब्राह्मण बन जाता है या जो द्विज है वह फिर दास बन जाता है। एक कुटुम्ब मे एक व्यक्ति विप्र है तो दूसरे कामाचारी होकर जैसा चाहते है, वैसी जीविका करते हैं। गान्धार, मद्रक और बाल्हीको मे इसी प्रकार की मूर्खता है। मैंने सारी पृथ्वी का चक्कर लगाने के बाद बाल्हीको मे ही इस प्रकार धर्म की उलट-फेर देखी।"

८. "और भी शल्य, सुनो जो मै कहता हूँ और जिसे किसी ने बाल्हीको

की निन्दा में कहा था। आरट्ट देश की किसी सती स्त्री को डाकू पकड़ ले गये और जब उन्होंने उनके साथ अधर्म किया, तो सती ने उन्हें शाप दे डाला—'मुझ पतिमती बाला के साथ तुम लोगों ने जो अधर्म किया इसलिये तुम्हारे यहाँ की सब स्त्रियाँ वेश्या तुल्य हो जायेंगी (बन्धकी) और इस घोर पाप से तुम लोग कभी न छूटोगे।' पूर्व पांचाल देश, शाल्व, मत्स्य, नैमिश देश, काशी, कोशल, अंग, कलिंग, मगध और चेदि ये जो मध्य देश के जनपद हैं, यहाँ के निवासी शाश्वत धर्म को जानते हैं। सभी देशों में पुराण धर्म का पालन करनेवाले अच्छे सत लोग हैं, केवल मद्र और कुटिल पंचनद के लोगों में धर्म का अभाव है। जब ब्रह्मा की सृष्टि में सब देश शास्वत धर्म का पालन करने लगे, तब पंचनद के देश के धर्म को देखकर स्वयं ब्रह्मा जी ने कहा कि इसे धिक्कार है। वाल्हीक के लुटेरे दैत्यों और अशुभ कर्मदासों को ब्रह्मा ने भी धर्म की दृष्टि से अत्यन्त निन्दित माना है।"

९. "हे शल्य, फिर सुनो मैं जो कहता हूँ। कल्मापपाद नाम के यक्ष ने तालाब में स्नान करके यह कहा था कि क्षत्रिय के लिये भिक्षा वृत्ति मल है, ब्राह्मण के लिये असत्य मल है। समस्त पृथ्वी का मल वाल्हीक है और समस्त स्त्रियों का मल मद्र देश की स्त्रियाँ हैं। मनुष्यों में म्लेच्छ (यवन) मल हैं। और म्लेच्छों में भी मुक्का-मुक्की से लड़ने वाले पहलवान मल हैं। उन मौष्टीकों में भी सड (साड, बधिया करके बढ़ाये हुए जवान पठ्ठे), जो मरने और मारने के लिए उतारू रहते हैं। और सडों में भी निकृष्ट वे पुरोहित हैं, जो राज-याजक अर्थात् राजा की ओर से मन्दिरों में पूजा के लिये नियुक्त हैं। मद्रकों और राज-याजक मनुष्यों का भी जो सबसे निकृष्ट मल है, वह तू है। शल्य, तुम यदि हमारा पीछा न छोड़ोगे तो मद्रकों में ऐसा देखा जाता है कि उनके पुजारियों पर भूत-प्रेत आ जाते हैं। उन्हें शनैः-शनैः विष खिला कर तैयार किया जाता है और यक्ष या भूत-प्रेत का आसव, यही उनकी करामात कही जाती है। उस समय उनसे लोग तरह-तरह की बात पूछते हैं, वे बने बनाये उत्तर देते हैं। वाल्हीक पूरे चोर होते हैं, कृतघ्नता, दूसरे के माल की चोरी, सुरापान, यही उनका धर्म है, उनके लिये

फिर अनर्थ क्या है ? कुछ लोग यवनो को सर्वज्ञ और शूर मानते है। और सचमुच वाल्हीक यवन बडे हेकड होते है (३०।८१) पर मद्रक तो कुछ भी नही होते, सो शल्य तुम ऐसे ही हो। अब क्या उत्तर दोगे, यह जान-कर बस चुप रहो।"

इस प्रकार कर्ण पर्व के इस प्रकरण मे मद्रक यवनो के विषय मे हेरफेर से नव प्रकार के गाथा गुच्छक आगे-पीछे कहे गये है और हर बार उन्हे किसी ब्राह्मण से सुना हुआ या कहा हुआ बताया है। अब इन गाथाओ की बारीक छानबीन करने से यह बात छिपी नही रहती कि लेखक का सकेत पजाब या सियालकोट के उन यूनानियो से था, जिन्हे भारतीय इतिहास मे मद्रक यवन कहा गया है। वस्तुत ये लोग वाल्हीक या बलख के मूल निवासी थे और वही से इन्होने पजाब में आकर अपना राज्य स्थापित किया। इन्ही राजनैतिक घटनाओ के कारण पजाब या पचनद देश जो पहले वाह्लीक कहलाता था, वाल्हीक भी कहा जाने लगा। इस वर्णन मे न केवल यवन मद्रक और वाल्हीको का नाम कई बार आया, किन्तु इसमे कुछ सकेत तो ऐसे है, जो पजाब के यूनानियो पर ही घटित होते है, जैसे ये कहना कि उन लोगो में स्त्री और पुरुषो मे मिल कर नाचने और गाने की परिपाटी है। उनके यहाँ की उन सगतो मे आबालवृद्ध यहाँ तक कि अज-नबी भी सम्मिलित होते थे। उनमें खडे होकर लघुशका करने की प्रथा थी। उनके यहाँ आसव पीने और कई प्रकार के मास खाने का मुँह छिपे रिवाज था। यहाँ तक कि गोमास भी उनसे छूटा न था। वे शाकल देश मे या सियालकोट नामक अपनी राजधानी मे, जहाँ मिनाडर राजा था और जिसका वर्णन मिलिन्द पञ्ह मे आया है, विशेष अवसरो पर अपने देवता डायोनिसयस का उत्सव मनाते थे, जिसे यहाँ पर्व कहा गया है (३०।१८) उसमे उनकी प्रसिद्ध गणिकाओ के साथ शिष्य लोग भी नृत्य करते थे। उन गणिकाओ को यूनानी भाषा मे हइतेरा कहा जाता था। उन्ही के लिये महाभारत के लेखक ने 'हा हते' 'हा हते' कहा है, जो यूनानी शब्द का संस्कृत रूप है। यूनान देश मे पेरिक्लीज के समय से ही इन गणिकाओ का ऊँचा

स्थान था। महाभारत में कहा है कि उनका कोई स्वामी या भर्त्ता नही होता था।

एक विशेष वात जो यहाँ कही गई है, वह यह है कि वे अपने इन उत्सवो के समय जो भोज करते थे, उनमें पहिला दौर समाप्त होने के वाद जव रात्रि और वढती तो दूसरे दौर में बाँसुरी, वीणा आदि वाजो पर गाने गाये जाते थे। उन्हें सिम्पोज़िया (Symposia) कहते थे, उन्हें ही यहाँ घोपिका गाथा कहा गया है। यवनो में मिट्टी के पात्रो का विशेप रिवाज था। और वे वडे सुन्दर साफ वनाये जाते थे। एक विशेप बात जो कही है, वह यह है कि खाने-पीने के समय उनमें पात्रो का सकर होता था, अर्थात् जूठे हो जाने का विचार कोई न था। एक के पीये हुए या खाये हुए वर्तन में दूसरे भी खाते-पीते थे (पात्र-सकरिणो जाल्मा सर्वान्निक्षीरभोजना, ३०।४०) एक अन्य विशेष उल्लेख यह है कि उनमें वर्ण, धर्म या जात-पाँत का कोई विचार न था। एक ही घर में एक व्यक्ति दार्शनिक होता तो दूसरा व्यापारी या दास वन जाता था। और इस स्थिति मे भी उलटफेर होता रहता था। कभी कोई क्षत्रिय वनता, कभी वही नापित का काम करने लगता था। जो वाल्हीक देश पहले परम पवित्र समझा जाता था, उसी के लिये मध्य देश के लोगो मे कुत्सा की भावना फैल गई, क्योकि वहाँ के विचार-आचार भारतीय सदाचार से एकदम विपरीत थे। इसी महाभारत में बाह्लीक शव्द की एक व्युत्पत्ति यह दी हुई है कि पाँच नदियाँ जहाँ वहती थी, वह वाह्लीक था, किन्तु अव एक नई व्युत्पत्ति गढी गई जो जनता में फैल गई, वह यह थी कि व्यास नदी के किनारे दो यक्ष या राक्षसो के स्थान थे। उन्ही की सन्तान वाह्लीक देश में भर गई।

यवनो के सम्वन्व में एक वहुत ही महत्त्वपूर्ण पर छिपा हुआ उल्लेख इस श्लोक में आया है।

इति रक्षोपसृष्टेषु विषवीर्यहतेषु च।
राक्षस भेपजं प्रोक्त ससिद्ध वचनोत्तरम् ॥ (३०।७२)

यह कथन एकदम ठीक है। इसमे चार वाते स्पष्ट कही गई है जो चारो यूनानियो के ओरैकिल मे घटित होती है। ओरैकिल एक प्रकार के यक्ष-स्थानीय प्रश्नोत्तर थे। वहाँ कुछ लोग पुजारी या पुजारिनो के रूप में रहते थे। उन्हें ही यहाँ राजयाजक कहा है। राज्य की ओर से इन स्थानो या चत्वरो की व्यवस्था की जाती थी। इन पुजारियो के सिरपर भूत-प्रेत आ जाते थे। अतएव उन्हें रक्षोपसृष्ट कहा गया है। जब वे अभुवाने लगते तो लोग उनसे अपने लिये तरह-तरह की वाते पूछते थे। और वे जो उपाय या प्रत्युपाय वताते, उसे ही राक्षस-भेषज कहा गया है, अर्थात् ब्रह्म-राक्षस या यक्ष का वताया हुआ कल्याण का उपाय। एक वात यह भी थी कि इस प्रकार अभुवाते हुए पुजारियो से कुछ राजनैतिक या सामाजिक भविष्य के लिये प्रश्न किये जाते थे। उनका जो उत्तर होता था लोग उसे ही नितान्त सही मानते थे। उसी को यहाँ ससिद्ध-वचनोत्तर कहा है। एक विशेष वात ध्यान देने की है कि इस प्रकार के व्यक्तियो को वहुत दिनो तक थोड़ा-थोडा विप चटाकर या अमल देकर तैयार किया जाता था जिससे वे विल्कुल नि सत्व हिजडे की भाँति हो जाते थे। उन्हे ही यहाँ विपवीर्यहत कहा गया है। आरम्भ मे ही यह कहा है कि यूनानी या मद्रक वालवृद्ध स्त्री-पुरुष खेलो के वहुत शौकीन थे (स्त्रियो वालाश्च वृद्धाश्च प्राय क्रीडागता जना २७।७०)। उनमे मुक्केवाज खिलाड़ियो (मौष्टिक) का वहुत रिवाज था। वे लोग एक प्रकार के तैयार जवान पट्ठे थे जो खिला-पिलाकर मुण्टण्डे वनाये जाते थे और उन्हे वधिया भी कर दिया जाता था। फिर उन्हे साँडो की तरह निर्द्वन्द्व शेरो या जानवरो से लड़ाया जाता था। उन्हें यहाँ सड कहा गया है—

मानुपाणा मल म्लेच्छा म्लेच्छाना मौष्टिका मलम्।
मौष्टिकानां मलं शण्डा शण्डाना राजयाजका:॥
(३०।७०)

यहाँ मौष्टिक, शण्ड और राजयाजक, ये तीनो संस्थाएँ म्लेच्छा-यवन या यूनानियो से सम्वन्धित थी।

जिस राजनैतिक स्थिति की पृष्ठभूमि मे ऊपर का वर्णन आया है वह बडी असाधारण थी। मद्रक यवन शाकल मे राजधानी बनाकर उत्तरी भारत पर आँख गडाये थे। डिमिट्रियस और मिनान्डर (दिमित और मिलिन्द) नामक यवन राजाओ ने टुफकी धावा बोल दिया। मिलिन्द ने मथुरा तक बढकर साकेत को छेक लिया—जैसा पतजलि ने लिखा है—'अरुणद् यवन साकेत' और जैनेन्द्र व्याकरण के उदाहरण मे 'अरुणाद्यवनो मथुराम्' ऐसा भी उल्लेख आया है। दूसरी ओर यवन सेना में राजस्थान के दक्षिण-पूर्व मे स्थित चित्तौड के पास की मध्यमिका नामक राजधानी पर हमला किया, जिसके लिये पतजलि ने भाष्य में लिखा है—'अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्' किन्तु देश के सौभाग्य से दो घटनाएँ ऐसी हुई जिनसे यवनो की यह योजना सफल न हो सकी। एक तो सेनापति पुष्यमित्र शुग ने पाटलिपुत्र से आगे बढकर साकेत तक अपने राज्य का विस्तार किया और उसके पुत्र सुमित्र ने सिन्धु तट पर यवनो को परास्त किया—दूसरे जैसा गार्गी सहिता में लिखा है यवनो के अपने चक्र में ही घरेलू झगडा उत्पन्न हो गया और उनका राजनैतिक सगठन खोखला पड गया जिस कारण से उनकी सेनाओ को पीछे लौटना पडा।

इन बवण्डरी घटनाओ का जो गहरा प्रभाव मध्यदेश की जनता के ऊपर पडा उसी का छायाचित्र मद्रक यवनो के विषय मे महाभारत का यह उल्लेख है। जो कहानी छन-छन कर मध्य देश की राज सभाओ में और साधु ससदो मे पहुँची थी उन्ही का यह गाथात्मक सग्रह है। इस प्रकरण के निर्माण मे महाभारत की वह विलक्षण साहित्यिक शैली भी पायी जाती है जिसके अनुसार एक ही विषय का वर्णन करने वाले भिन्न-भिन्न सग्रह-श्लोक आगे-पीछे रख दिये जाते थे। यह शैली अनेक स्थानो मे पाई जाती है। अग्रेजी में इसे जक्सटा पोजिशन कहा जाता है। यहाँ पर गाथात्मक सग्रह के ९ टुकडे इस शैली का चोखा नमूना प्रस्तुत करते है। इनमें अर्थो की बहुत कुछ समानता है और कुछ हेरफेर भी है। यहाँ इस सामग्री को पुरावृत्त कथा और यथार्थ वर्णन कहा गया है। वस्तुत कर्ण और शल्य

तो कथनोपकथन के लिये निमित्त मात्र है। इस प्रसग का मूल शीर्षक तो मद्रक-कुत्सन यही था जैसा कि पुष्पिका मे आया है।

इस पर्व के अन्त मे सजय ने कहा कि जब कर्ण और शल्य इस प्रकार कह-सुन चुके तो दोनो चुप हो गये और कर्ण ने कहा अच्छा, अब रथ बढाओ। दोनो सेनाएँ व्यूहबद्ध होकर आ गयी, घोर सग्राम होने लगा। दूसरे दिन के इस युद्ध मे पहले अर्जुन ने सशप्तको से भयकर युद्ध किया। फिर कर्ण का पुत्र मारा गया। कर्ण के होते हुए भी कुरु सेना अरदब मे आ गई और उसे पीछे हटना पडा। फिर कर्ण और भीमसेन के युद्ध मे कर्ण कुछ झुके। तत्पश्चात् कर्ण और सात्यकि का युद्ध हुआ। दोनो सेनाओ मे निकट की लडाई हुई। अश्वत्थामा ने भी पराक्रम किया और युधिष्ठिर को पीछे हट जाना पडा। युद्ध ने अत्यन्त घोर रूप धारण कर लिया। युद्ध मे अश्वत्थामा ने पराक्रम तो वहुत दिखाया पर वह पराजित हुआ और मूर्च्छित अवस्था में वहाँ से ले आया गया। इसी समय कौरवो ने धर्मराज को घेर लिया किन्तु भीम के पराक्रम से उनकी रक्षा हुई। युद्ध के ताव पर आ जाने से अन्त मे अर्जुन ने कर्ण को मारने की प्रतिज्ञा की। जव कर्ण ने सुना तब उसने अनेक प्रकार से अर्जुन को पुरुष वाक्य कहे। इसी बीच मे युधिष्ठिर और भीम मे कुछ कहा-सुनी हो गई जिसे श्रीकृष्ण ने शान्त की और उन्होने अर्जुन की प्रशसा की। उन्होने कहा हे अर्जुन! युधिष्ठिर की सेना मे तुम्हारे अतिरिक्त कोई नही है जो राधा पुत्र कर्ण के सामने सकुशल वापस लौट जायगा। अर्जुन ने भी उसी प्रकार के उदात्त वाक्यो द्वारा कृष्ण को विश्वास दिलाया। अपने पौरुप और पराक्रम से जिस प्रकार हिमालय के ऊपर गर्मी की ऋतु मे वसे हुए घर को भी अग्नि भस्म करती है वैसे ही मैं आज गणो के सहित सव कौरवो को तथा वाल्हिको को नष्ट करूँगा। भीम और अर्जुन ने मिलकर कौरव सेना पर आक्रमण किया और भीम के हाथ से दु शासन मारा गया। अन्त में कर्ण और अर्जुन दोनो महारथी एक दूसरे के साथ युद्ध मे गुथ गये। युद्ध मे कर्ण के रथ का पहिया भूमि में फँस गया जिसे निकालने के लिये कर्ण रथ से उतरा। उस समय अर्जुन ने उस पर

वाणो की वर्षा की तो कर्ण ने कहा—हे अर्जुन ! जब तक मैं अपना यह पहिया न निकाल लूँ तुम रथ पर बैठे हुए मत प्रहार करो। मैं तुमसे या कृष्ण से बहस नही करता पर केवल धर्म ही चाहता हूँ (स्मृत्वा धर्मोपदेश त्व मुहूर्त क्षम पाण्डव ६६।६५)। इस पर कृष्ण ने व्यग करते हुए कहा—हे कर्ण ! आज तुमको धर्म याद आ रहा है। जब एकवस्त्रा द्रौपदी को सभा में लाये थे, तब तुम्हें धर्म का ध्यान नही हुआ—

> यद्द्रौपदीमेकवस्त्रां सभायामानाय्य त्वं चैव सुयोधनश्च
> दु शासन. शकुनि. सौबलश्च न ते कर्ण प्रत्यभात्तत्र धर्म.।
> (६७।२)

कृष्ण का यह वचन सुनकर क्रोध से प्रज्वलित हुए कर्ण के रोम-रोम से चिनगारियाँ निकलने लगी। इस प्रकार बार-बार विपन्न दशा में पडे हुए कर्ण को अर्जुन ने अपने वाणो की वृष्टि से चूर कर डाला और कर्ण का मस्तक पृथ्वी पर लुढकने लगा। इस प्रकार दैव की इच्छा से महाभारत के योद्धाओ में एक अत्यन्त वलशाली और उदात्तचरित्र वाले महात्मा योद्धा का अन्त हो गया।

नवाँ शल्य-पर्व

अब भारत युद्ध की महती कथा का अन्त हो रहा है। कर्ण-वध के वाद शल्य को सेनापति वनाया गया। शल्य केवल आधे दिन सेनापति रहा। इस घमासान युद्ध मे बचे-खुचे वीर भी एक-एक करके काम आ गये। कृष्ण ने युधिष्ठिर को शल्य को मारने के लिये वहुत प्रोत्साहित किया और अन्त में युधिष्ठिर के हाथो ही शल्य और उसके भाई का वध हो गया। इस स्थिति से निराश होकर दुर्योधन युद्धभूमि से भाग गया और द्वैपायन सरोवर नामक तालाव में जा छिपा। अर्जुन ने त्रिगर्त राज सुशर्मा और सहदेव ने शकुनि और उसके पुत्र उलूक का वध कर डाला। अश्वत्थामा,

कृतवर्मा और कृपाचार्य ने व्याधो से दुर्योधन का पता पा, वही पहुँचकर उससे फिर युद्ध के बारे मे परामर्श किया। इधर पाण्डव भी दुर्योधन की खोज करते हुए द्वैपायन सरोवर पर जा पहुँचे। युधिष्ठिर के कहने पर दुर्योधन तालाब से बाहर निकल आया और उसने युधिष्ठिर के कथन के अनुसार पाँच पाण्डवो मे से किसी एक के साथ युद्ध करना स्वीकार किया। इस बात पर कृष्ण को भी ताव आ गया। और उन्होनें युधिष्ठिर की उस मूर्खता पर भर्त्सना की। किन्तु दुर्योधन ने वीरोचित स्वभाव के अनुकूल भीम को ही युद्ध के लिये चुना।

युद्धारम्भ से पहले ही बलराम तीर्थयात्रा के इरादे से द्वारका से चले और मार्ग में प्रभास तीर्थ का दर्शन करके वहाँ से सीधे सरस्वती के विनशन प्रदेश मे आ गये। और कुरुक्षेत्र के सब सारस्वत तीर्थों की यात्रा समाप्त करके भीम-दुर्योधन के युद्ध के अवसर पर युद्धस्थल पर आ पहुँचे।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि अत्यन्त प्राचीन काल से एक मार्ग द्वारावती से कम्बोज देश की ओर जाता था। यह द्वारावती से चलकर सरस्वती और मही के काँठो के बीच मे होता हुआ अरावली पहाड के दक्षिण-पश्चिम की ओर घूम कर मरुभूमि के पार सिन्धु नदी के किनारे पर जा निकलता था। और वहाँ से उत्तर की ओर घूम कर उत्तरी सिन्धु की, जिसे उस समय सौवीर कहते थे, राजधानी सक्कर रोड़ी (प्राचीन शार्कर रोरुक) से जा मिलता था। वहाँ से उस मार्ग की एक शाखा उत्तर की ओर सिन्धु नदी के किनारे-किनारे पजाब देश को चली जाती थी। उसी मार्ग की दूसरी शाखा दाहिने घूमकर सरस्वती के उस प्रदेश की ओर चली जाती थी, जहाँ उत्तरी बीकानेर मे सरस्वती रेगिस्तान मे खो जाती है। उसे उस समय विनशन कहते थे और आजकल वही कोलायत के नाम से प्रसिद्ध है। सरस्वती की यह धारा किसी समय भरी-पूरी थी और यहाँ कितने ही सन्निवेश थे, किन्तु रेगिस्तान के बढ़ आने से अब वे सब बालू मे दब गये है। किसी समय सरस्वती नदी के किनारे का मार्ग बहुत चालू था। भागवत् मे दो बार इस मार्ग का उल्लेख आया है। एक बार कृष्ण के

हस्तिनापुर से द्वारिका और दूसरी वार द्वारिका से हस्तिनापुर आने का वर्णन है। और वहाँ इस मार्ग के वीच के पहाडो का भी स्पष्ट उल्लेख है (१।१०।३४–३५ भागवत्)। वलराम जी भी इसी मार्ग से द्वारिका से कुरुक्षेत्र पहुँचे।

इसके बाद कुरुक्षेत्र के सारस्वत, औशनस, कपालमोचन तीर्थ, पृथूदक (वर्तमान पिहोवा), अवाकीर्ण, यायात, वशिष्ठीद्वाह तीर्थ (जहाँ थानेश्वर के पास अरुणा और सरस्वती का सगम है) आदि तीर्थों का वर्णन किया गया है। वस्तुत शल्य पर्व का यह प्रकरण कुरुक्षेत्र का स्थल माहात्म्य है और युद्ध के वर्णन में विल्कुल नही खपता। यही अत्यधिक विस्तार से आरण्यक पर्व में और उससे भी अधिक विस्तृत रूप में वामन पुराण मे आया है। वामन पुराण तो एक प्रकार से अधिकाश कुरुक्षेत्र का स्थल माहात्म्य ही है, जिसमें वहाँ के सैंकडो छोटे-वडे तीर्थों का व्यौरे-वार माहात्म्य कहा गया है। उन सब में भी थानेश्वर और पिहोवा (पृथूदक) ये दो प्रधान थे। जहाँ कई पवित्र सरोवर और सैंकडो शिवलिंग थे। इस प्रदेश में किसी समय वामन और विष्णु का प्रभाव था, किन्तु आगे चलकर प्रभाकर वर्द्धन के समय में यहाँ पाशुपत शैवो का एक बहुत बडा केन्द्र वन गया। ये लकुलीश के अनुयायी थे। लकुलीश के नाम से थानेश्वर के सरोवर के किनारे एक शिवलिंग भी स्थापित किया गया। महाभारत में यह अश पाशुपत शैवो द्वारा ही जोडा गया है। यहाँ कुरुक्षेत्र की जो वडी परिक्रमा थी, उसकी सीमाओ का भी उल्लेख आया है। इसके अनुसार कुरुक्षेत्र का नाम समन्त पचक था। इस शव्द का वहुत ही युक्ति सगत अर्थ कनिघम ने यह लगाया था कि कुरुक्षेत्र जनपद की हर एक भुजा की लम्बाई पाँच योजन थी, अर्थात् इसका चतुर्दिक घेरा वीस योजन का था। जिस समय यह नाम पडा उस समय यथार्थ ही कुरुक्षेत्र की वडी परिक्रमा १६० मील की रही होगी, पर पीछे पश्चिम की ओर से रेगिस्तान के बढ आने से यह घेरा सिकुडता गया। आजकल बडी परिक्रमा लगभग ४८ कोस की मानी जाती है।

महाभारत और वामन पुराण दोनो के अनुसार कुरुक्षेत्र के चारो खूँटो पर चार बडे प्रसिद्ध यक्ष स्थान थे। उनके नाम यह हैं—अरन्तुक, तरन्तुक, यक्षी उलूखल मेखला और मचक्रुक। वामन पुराण मे तो यह भी कहा गया है कि परिक्रमा का आरम्भ अरन्तुक यक्ष के दर्शन से होता था और उसका थान थानेश्वर मे था। इस हिसाब से परिक्रमा का दूसरा बडा पडाव थानेश्वर से पूर्व मे करनाल-तरावडी के पास होना चाहिए। वही तरन्तुक यक्ष का थान रहा होगा। उसके बाद तीसरा पडाव उलूखल मेखला नाम की एक प्रसिद्ध यक्षी का था जिसकी दूर-दूर तक मान्यता थी। शल्य और कर्ण के सम्बध मे भी इसका उल्लेख आ चुका है। उसके पति का नाम कपिल यक्ष था, पर प्रसिद्धि यक्षी की ही थी। यह स्थान पूँडरी (सस्कृत-पुडरीक) के पास कहा गया है, जो कुरुक्षेत्र के दक्षिण छोर पर था। उसके बाद राम ह्रद या परशुराम सरोवर का उल्लेख आता है, जो इस समय जीद के पास कहा जाता है। वहाँ से चल कर परिक्रमा का चौथा पडाव मचक्रुक नामक थान था। उसकी निश्चित पहिचान ज्ञात नही है, पर कुरुक्षेत्र के पश्चिम मे होना चाहिए। कनिंघम के अनुसार कुरुक्षेत्र के इन चार द्वार-पालो की पहिचान कुछ भिन्न है। अरन्तुक को आज तक रत्न यक्ष के नाम से पुकारा जाता है और वह थानेश्वर मे ही है। कुरुक्षेत्र की इस सीमा के उल्लेख से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि किसी अत्यन्त प्राचीन युग मे यहाँ यक्षो के अनेक चत्वर-चौरे थे और यहाँ सर्वत्र यक्षो की मान्यता थी। आगे चलकर शिवपूजा प्रसिद्ध हुई, किन्तु फिर भी जो पुराने समय के बडे मेले थे, जिन्हे यात्रा कहा जाता था, वे जारी रहे।

अब आगे का कथा प्रसग इस प्रकार है कि दुर्योधन और भीम के गदायुद्ध के ठीक अवसर पर बलरामजी भी सरस्वती के तीर्थों की अपनी यात्रा से युद्ध भूमि मे वापिस आ गए। उन दोनो वीरो के गदायुद्ध को उन्होने अपनी आँखो से देखा। और जब भीम ने नियम के विरुद्ध दुर्योधन की जघा पर प्रहार किया, तो बलराम को बडा रोष आया पर कृष्ण ने समझा-बुझाकर उन्हें शान्त किया।

गदायुद्ध में भीम के प्रहार से दुर्योधन की जघाएँ टूट गईं और वह भूमि पर गिर गया। उसे उसी अवस्था में छोडकर पाण्डव अपने शिविर में वापस चले आए। उस समय युधिष्ठिर ने उचित समझा कि यह समाचार धृतराष्ट्र और गान्धारी के यहाँ पहुँचा दें। इसके लिए श्रीकृष्ण को हस्तिनापुर भेजा गया। दुर्योधन ने उस मर्मान्तिकपीडा की दशा में भी सन्देश भेजकर अश्वत्थामा को बुलवाया और उसके आने पर सेनापति पद पर उसका तिलक कर दिया।

दसवाँ सौप्तिक-पर्व

इसके बाद दसवाँ पर्व सौप्तिक पर्व है, जिसमें अश्वत्थामा के द्वारा द्रौपदी के सोते हुए पाँच पुत्रो के सहार की कथा है। पाँचालो से अश्वत्थामा के पिता द्रोणाचार्य का पुराना बैर था, जिसे उसने इतनी क्रूरता और कायरता से चुकाया। दुर्योधन ने जब द्रौपदी के पुत्रो और पाँचालो के वध का समाचार सुना तो वह बहुत प्रसन्न हुआ और उसी दशा में उसके प्राण छूट गये, किन्तु पुत्रो के वध के इस शोक से पाण्डव उतने ही शोकाकुल हुए और अश्वत्थामा से बदला लेने की बात सोचने लगे। भीम अश्वत्थामा को मारने का सकल्प करके गगा किनारे उसके पास पहुँचा। उसके पीछे कृष्ण, अर्जुन और युधिष्ठिर भी गये। वहाँ भीम ने जब अश्वत्थामा को ललकारा तो अश्व-त्थामा ने अपने पास बचे हुए अन्तिम प्रभावशाली आयुध ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया।

इसके पूर्व भी वह नारायणास्त्र और आग्नेयास्त्र का प्रयोग युद्धभूमि में अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् कर चुका था। ब्रह्मास्त्र छोडते समय उसने यह भावना की कि यह पृथिवी पाण्डवो से विहीन हो जाय। यह भयकर वचन सुनकर कृष्ण ने अर्जुन को भी ब्रह्मास्त्र चलाने के लिए प्रेरित किया। अर्जुन की भावना यह थी कि सबका कल्याण हो और अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र मेरे ब्रह्मास्त्र से शान्त हो जाय। जब दोनो ब्रह्मास्त्र छूटे तो प्रलयकाल का

दृष्य उपस्थित होने लगा। उसी समय नारद और वेदव्यास दोनो आकर उन भयकर अस्त्रो के बीच मे खडे हो गए। उन्हे देखते ही अर्जुन ने वेग से अपना ब्रह्मास्त्र लौटा लिया। पर अश्वत्थामा समझाने पर भी उसे वापस न ले सका क्योकि उसे लौटाने की युक्ति ज्ञात न थी। ब्रह्मास्त्र का प्रभाव अमोघ होता है। वह विफल नही जाता। अतएव अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र गर्भस्थ परीक्षित के ऊपर दौडा और उसे दग्ध करने लगा। तव कृष्ण ने परीक्षित की भी रक्षा की।

: ६६ :

अश्वत्थामा की शिरोवेदना

(अ० १–१६)

अश्वत्थामा की इस क्रूरता पर कृष्ण ने उसे शाप दिया और अश्वत्थामा ने भी अपने अशान्त जीवन से दुखी होकर वन की राह ली। जाते समय पाण्डवो ने उसके मस्तक की मणि निकाल ली। कहा जाता है कि अश्वत्थामा तभी से शिरोवेदना के साथ चिरजीवी होकर घूमता है। इसके अभिप्राय पर विचार करना चाहिए। अश्वत्थामा की यह मणि कोई साधारण पत्थर का टुकड़ा नही था। यह वह चिन्तामणि है, जो प्रत्येक व्यक्ति के मस्तक मे रहती है। वस्तुत. चिन्तन या मनन की शक्ति ही मानव का लक्षण है। अश्वत्थामा मे वल की प्रचण्डता थी, पर विचार शक्ति की शून्यता थी। उसके पास घर की बुद्धि थी ही नही। जब जिस किसी ने जैसा भडका दिया, वह आपे से बाहर होकर कुछ भी कर बैठता था। उसमे हाथी और घोडे के समान बल था, पर बुद्धि चीटी के समान भी नही थी। अश्वत्थामा को लोक मे चिरजीवी माना जाता है—

अश्वत्थामो बलिर्व्यासो हनूमाँश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥

यहीं इनके चिरजीवी होने का अभिप्राय यह है कि इन सात प्रकार स्वभाव वाले व्यक्ति लोक में सदा रहते हैं जैसे,

(१) अश्वत्थामा—कोरे पशुवल या शारीरिक वल का उदाहरण।

(२) वलि—सत्य-सकल्प का दानशील व्यक्ति, जो सत्य का निर्वाह के लिए अपने जीवन का समर्पण करता है।

(३) व्यास—ज्ञानशील व्यक्ति, जिसमें त्रिलोकी का ज्ञान सकलित हो और जो लोक और वेद दोनो के वीच समन्वय करता हो।

(४) हनुमान—वह व्यक्ति जो केवल सेवा धर्म को ही जीवन का मूल मानता है और सेव्य की भक्ति ही जिसका प्राण है। यह दास्य भाव का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

(५) विभीषण—यह घर का भेद वाहर प्रकट करने वाले सुभाव का द्योतक है।

(६) कृपाचार्य—यह ऐसे विद्वान् व्यक्ति का उदाहरण है, जिसने पढा-लिखा वहुत हो पर गुण कुछ न हो।

(७) परशुराम—यह पूरे क्षात्र तेज का उदाहरण है, जैसे ब्राह्म धर्म के लिए व्यास, ऐसे ही क्षात्र धर्म के लिए परशुराम।

ये सात प्रकार के व्यक्ति समाज मे सदा से चले आये हैं और आगे भी रहेंगे।

अश्वत्थामा के चले जाने पर पाण्डव उसकी मणि लेकर द्रौपदी के पास आये कि उसे पुत्र शोक में कुछ सात्वना दे सके।

इस पर्व के अन्त में दो अध्याय युद्ध वर्णन से थके हुए लेखक की दार्शनिक समीक्षा प्रकट करते हैं। उसने सोचा होगा कि यह प्रलयकारी सहार कैसे हो गया। तव उसने इसका यही समाधान निश्चित किया कि भगवान् की इच्छा के विना इतनी वडी घटना नही घट सकती। वे

देवी या देव जिस प्रकार प्रजा की रचना और पालन करते है उसी प्रकार उसका सहार भी उन्ही की इच्छा से होता है। रचना करते समय उनका नाम ब्रह्मा, रक्षा करते समय विष्णु और नाश करते समय रुद्र है। यह समस्त विश्व भगवान् रुद्र का एक लिग या प्रतीक है और इसमे जैसी सृष्टि या स्थिति के अश है वैसे ही क्षय भी इसके साथ जुडा हुआ है जीवन या विश्व एक महान् यज्ञ है। देवताओ ने सोचा कि यज्ञ में और सबको तो भाग देगे शकर को नही। पर ऐसा करने से वह यज्ञ सफल नही हो सका। ससार मे पाँच प्रकार के यज्ञ है—

लोकयज्ञः क्रियायज्ञो गृहयज्ञः सनातनः ।
पंचभूतमयो यज्ञो नृयज्ञश्चैव पञ्चमः ॥
(सौप्तिक पर्व १८।५)

ये पाँचो प्रकार के यज्ञ सनातन या सदा रहने वाले है। इनका भेद इस प्रकार जानना चाहिए–(१) लोक अर्थात् विश्व का विराट यज्ञ है, जिसे अधिदैवत यज्ञ कहा जाता है।

(२) पचभूतो से होने वाला यज्ञ है, जिसे अधिभूत कहा जाता है।

(३) नृयज्ञ है, अर्थात् जो प्रत्येक मनुष्य के भीतर हो रहा है, जिसे अध्यात्म यज्ञ कहते है।

(४) गृहयज्ञ है, जिसमें एक ओर मानवीय कुटुम्ब और दूसरी ओर समाज के अन्तर्गत जितने सबध और व्यवहार आते है।

(५) क्रिया यज्ञ है, जो धर्म ग्रन्थो मे निर्दिष्ट विधि के अनुसार किया जाता है, जिसे वैध यज्ञ भी कहते है।

इन पाँचो यज्ञो मे शिव का अश अवश्य है। जिस यज्ञ मे शिव को भाग नही मिलता, उसका वे विध्वस कर डालते है, अर्थात् वह पहले से ही विनष्ट है। दक्ष यज्ञ के विध्वस की कथा का अर्थ यही है। दक्ष ने अपनी सब पुत्रियो को न्योता दिया, पर सबसे बडी जगन्माता सती को नही। उसने सब देवो को यज्ञ मे भाग दिया, पर शिव को नही। इस कारण शिव के

आगने ने विध्वस कर डाला। यहाँ भी लिखा है कि देवो ने अपने यज्ञ में यज्ञभाग के लिए सब देवताओ और द्रव्यो की कल्पना की, किन्तु रुद्र की नही। क्योकि रुद्र के स्थाणु या अविनश्वर स्वरूप को नही जानते थे। इसलिए शिव ने या रुद्र ने एक धनुष का निर्माण किया और देवताओ को बींध डाला। सब देवताओ का तेज कुठित हो गया। सब देवो ने शिव को प्रसन्न किया और उनका यज्ञ सकुशल हुआ। भगवान् शकर के कुपित होने पर सारा जगत् डाँवाडोल हो जाता है और उनके प्रसन्न होने पर पुन स्थिर हो जाता है। महाभारत युद्ध के समय भगवान् शिव लोगो का क्षय करने के लिए स्वय काल बन गये थे और जब क्षय हो गया, तब वे शान्त हुए। इस प्रकार विश्व के नाश और पालन मे महाकाल या ईश्वर की लीला ही प्रधान है। वस्तुत जीवन के साथ मरण, यही भगवान् का नियम है।

ग्यारहवाँ स्त्री पर्व

ग्यारहवें स्त्री पर्व में तीन उप पर्व है। पहले में मृत व्यक्तियो के लिए जलाञ्जलि का उल्लेख है। इसमें मुख्यत धृतराष्ट्र के शोक का वर्णन किया गया है। विदुर और व्यास ने धृतराष्ट्र को ऐसी स्थिति में ससार की अनित्यता बता कर धीरज दिया। पाण्डव भी धृतराष्ट्र से मिलने गये। धृतराष्ट्र ने लोहे के भीम को चूर-चूर करके अपना क्रोध प्रकट किया। तब कृष्ण ने उन्हें फटकारते हुए कहा "हे राजन्! अब तुम इस प्रकार क्रोध क्यो करते हो? तुमने क्यो नही अपने पुत्रो के अन्याय को रोका? इस पर धृतराष्ट्र का क्रोध कुछ शान्त हुआ।

उधर गान्धारी पाण्डवो को शाप देने पर उतारु हो गई। व्यास ने उसे समझाया। भीमसेन और युधिष्ठिर ने भी गान्धारी से क्षमा माँगी। तब पाण्डव कुन्ती और द्रौपदी से मिले। द्रौपदी को भी कम शोक न था उसे गान्धारी ने सान्त्वना दी।

: ६७ :

गान्धारी का विलाप

(अ० १–८)

स्त्री पर्व में मुख्यत गान्धारी के शोकपूर्ण विलाप का वर्णन है। व्यासजी ने गान्धारी को दिव्य दृष्टि का वरदान दिया और उसे युद्ध में मारे गये योद्धा दिखाई पडने लगे। तब उसने कृष्ण के सामने बहुत प्रकार से शोकातुर होकर विलाप किया। इसके अन्त मे युधिष्ठिर के कहने से सबने अपने मरे हुए सबधियो को जलाञ्जलि देकर श्राद्ध किया।

भारत-सावित्री के इस खड में जहाँ एक ओर सनत्सुजात पर्व और गीता का आध्यात्मिक गगाजल है, वही दूसरी ओर भीषण युद्ध का दारुण वर्णन भी है। प्राचीन भारत मे जो नियतिवादी दर्शन था और धृतराष्ट्र जिसके अनुयायी थे, उसे सामने रखते हुए व्यासजी ने धृतराष्ट्र से कहा

न च दैव कृतः मार्गः शक्यो भूतेन केनचित्।
घटतापि चिरंकालं नियन्तुमिति मे मति ॥

(स्त्री पर्व ८।१९)

"दैव का निश्चित किया हुआ जो मार्ग है उसे कोई व्यक्ति टाल नही सकता, चाहे वह कैसा भी दीर्घ प्रयत्न करे।"

इसके अनन्तर भारत-सावित्री के तीसरे खड मे शान्ति और अनुशासन आदि महान् पर्वो की व्याख्या दी जायगी।

— ० —